श्रीविजयलक्ष्मीसूरिविरचित

श्रीउपदेशप्रासाद

का

हिन्दी-भाषानुवाद

विभाग १ ला

(स्तंभ १ से ४) व्याख्यान ६१

संपादकः-मुनिश्री कुशलविजयजी

मूल्य रु. ३-०-०

पुष्प नं. ३. ॥ ॐ अर्हं नमः ॥

श्रीविजयलक्ष्मीसूरिविरचित

श्रीउपदेशप्रासाद

का

हिन्दी-भाषानुवाद

शासन सम्राट ...
क्रमांक: 0078
स्थान ला 04.2
शेठ ... ग्रन्थ ...

विभाग १

(स्तंभ १ से ४)

अनुवादक :-

कु० सुमित्रसिंह लोढ़ा-माँडलगढ़ (मेवाड़)

प्रकाशक :-

परमपूज्य प्रातःस्मरणीय विशुद्धचारित्रचूडामणि
जैनाचार्य विजयनीतिसूरीश्वरजी जैन लायब्रेरी,
रीची रोड-अहमदावाद

संपादक :- मुनिश्री कुशलविजयजी

वीर सं. २४७३ सत्य सं. २४८	प्रथमावृत्ति मूल्य रु. ३-०-०	विक्रम सं. २००३ सन् १९४७

मुद्रक-शा गुलाबचंद लल्लुभाई
महोदय प्रिन्टींग प्रेस, दाणापीठ-भावनगर.

शार्दूलविक्रीड़ित

भो भव्या भववारिधौ निरवधौ न क्रोधवत् संभ्रमात्।
भ्राम्यन्तः कथमप्यवाप्य सुकृतात्मानुष्यजन्माद्भुतं ॥
तत्साफल्यकृते विधत्त विनयेनाराधनं साधनं ।
श्रीसिद्धं परमेष्ठिनामतितरां शर्मद्रुमांभोधरम् ॥

हे भव्य जीवों ! इस अपार भवसमुद्र में जल जन्तु सदृश संभ्रम से भटकते हुए किसी पुण्योदय से मनुष्य-जन्म प्राप्त होने पर उसे सफलीभूत बनाने को सुखरूप वृक्ष के लिये मेघ सदृश पंचपरमेष्ठि का शीघ्रतया विनय-पूर्वक आराधन करो !

— उपदेशप्रासाद-व्याख्यान १२

आचार्यश्री विजयकल्याणसूरीश्वरजी महाराज

वंशपरंपरा

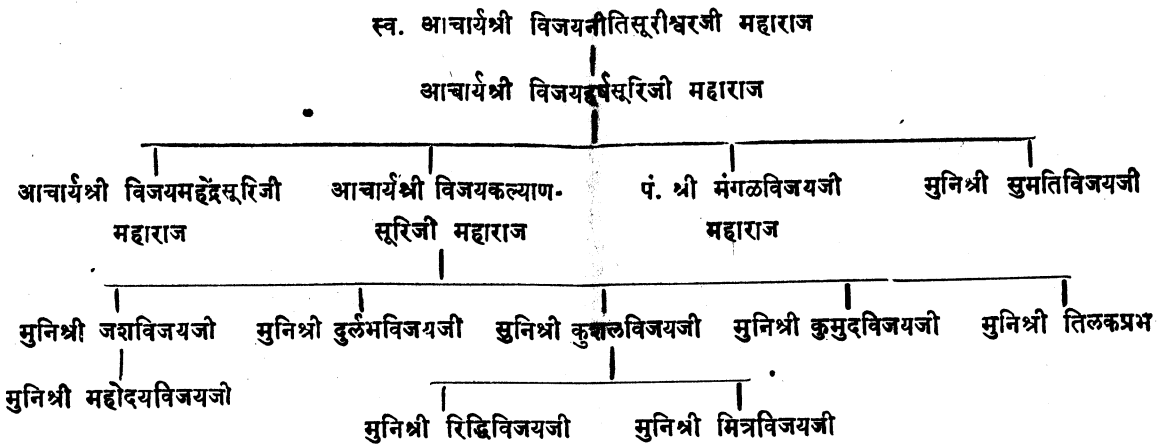
स्व. आचार्यश्री विजयनीतिसूरीश्वरजी महाराज
आचार्यश्री विजयहर्षसूरिजी महाराज
आचार्यश्री विजयमहेंद्रसूरिजी महाराज
आचार्यश्री विजयकल्याण-सूरिजी महाराज
पं. श्री मंगळविजयजी महाराज
मुनिश्री सुमतिविजयजी
मुनिश्री जशविजयजो
मुनिश्री दुर्लभविजयजी
मुनिश्री कुशलविजयजी
मुनिश्री कुमुदविजयजी
मुनिश्री तिलकप्रभ
मुनिश्री महोदयविजयजो
मुनिश्री रिद्धिविजयजी
मुनिश्री मित्रविजयजी

जिनकी कृपा-कटाक्ष से हृदय में
वैराग्य-ऊर्मियां प्रवाहित हों,
विचारबल जागृत हों,
त्यागी जीवन के अलौकिक
आनन्द का पूर्णरूप से
अनुभव हो
उन
— विरल विभूतियों के —
करकमलों में
सादर समर्पण

— सुमित्र —

प्र स्ता व ना

प्रस्तुत ग्रन्थ **श्रीविजयलक्ष्मीसूरि** की अत्यन्त मनोहर एवं उपकारक कृति है। इस में संख्याबंध कथाओं के अतिरिक्त शास्त्राधार भी अधिक मात्रा में उपलब्ध है। मध्यम बुद्धिवाले वाचक के लिये ऐसे ग्रन्थ की परम उपयोगिता समझ परमपूज्य प्रातःस्मरणीय आचार्य महाराज **श्रीविजयकल्याणसूरीश्वरजी** महाराज और मुनिमहाराज **श्रीकुशलविजयजी** की प्रेरणा से इसके पांचो विभागों के हिन्दी भाषानुवादकी योजना की गई है।

इस प्रथम विभाग में प्रथम चार स्तंभ के भाषान्तर का समावेश है, जिस में ६१ व्याख्यान हैं। इस विभाग में मात्र समकित विषय का ही विवेचन है। प्रारंभ में मंगलाचरण कर उसके करने की आवश्यकता को सिद्ध करते हुए प्रथम व्याख्यान में जिनेश्वर के ३५ अतिशयों का रोचक वर्णन किया गया है जो पढ़ते ही बनता है। तत्पश्चात् तीन व्याख्यानो में समकित के भेद बतलाते हुए प्रत्येक व्याख्यान से समकित के ६७ भेदों की व्याख्या आरम्भ होती है जिनके वर्णन पर कुल ५३ व्याख्यान व ६१ कथायें हैं जिनकी विस्तृत सूचि नीचे दी गई है। अन्तिम चार व्याख्यान समकित के भेद आदि

આચાર્ય મહારાજશ્રી વિજયકલ્યાણસૂરીશ્વરજી મહારાજના શિષ્યરત્ન

પ્રસિદ્ધવક્તા : મુનિરાજશ્રી કુશળવિજયજી મહારાજ.

बतलाते है जिन में प्रथम ३ व्याख्यानों में समकित रोचक, कारक, दीपक तीन भेद हैं जिन पर तीन कथायें भी उद्धृत की गई है। अन्तिम व अधिक व्याख्यान विशेषतया समकित के वस्तुस्वरूप को प्रदर्शित करता है। इस ग्रन्थ का नाम "उपदेशप्रासाद" अर्थात् उपदेशों का महल हैं, जिसके २४ स्तंभ व प्रत्येक स्तंभ में १५–१५ व्याख्यान हैं। इस प्रकार समस्त २४ स्तंभों में वर्षदिनानुसार ३६० व्याख्यान व एक विशेष व्याख्यान अर्थात् ३६१ व्याख्यान हैं जिससे यह प्रयोजन है व्याख्यानदाता मुनि प्रतिदिन एक व्याख्यान के हिसाब से पूरे वर्ष तक अपना उपदेशक्रम आरंभ रख सकें। इस अपेक्षा से प्रथम विभाग के ४ स्तंभों में ६० व्याख्यानों के स्थान में ६१ व्याख्यान हो गये हैं :—

समकित के ६७ भेद	उन पर व्याख्यान	उनके अन्तर्गत कथायें
४ श्रद्धा	४ व्याख्यान	४ कथायें
३ लिङ्ग	३ ,,	३ ,,
१० विनय	३ ,,	३ ,,
३ शुद्धि	४ ,,	४ ,,
५ दूषण	५ ,,	७ ,,
८ प्रभावक	१२ ,,	१३ ,,
५ भूषण	५ ,,	७ ,,
५ लक्षण	५ ,,	६ ,,

समकित के ६७ भेद	उन पर व्याख्यान	उनके अन्तर्गत कथायें
६ यातना	२ ,,	२ ,,
६ आगार	६ ,,	८ ,,
६ भावना	१ ,,	१ ,,
६ स्थान	३ ,,	३ ,,
६७	५३	६१

इस विभाग के ६१ व्याख्यान व ६७ कथाओं में तथा विशेषतया आरम्भ व अन्तिम के चार चार व्याख्यानों में प्रदर्शित समकित स्वरूप व भेदों का लक्ष्यपूर्वक अध्ययन करना परम आवश्यक है। तदुपरान्त छ स्थानों में गौतमादिक गणधर की तीन कथायें विशेषतया पढ़ने योग्य हैं जिन में बहुधा तत्त्वज्ञान का समावेश है। सातवें व्याख्यान में जमाली की कथा तथा १९ वे व्याख्यान में निह्नव की कथा भी बहुत कुछ सारगर्भित है। कथारसिकों के लिये आठ प्रभावक के १२ व्याख्यान में आई १३ कथायें तथा काकजंघ कोकाश की कथा आदि अधिक मनोरंजनीय हैं। इस विभाग में प्रथम खंड की समाप्ति की गई है।

ग्रन्थ की उपयोगिता के लिये ग्रन्थकारने जो जो शास्त्रों की सहायते व प्रास्ताविक श्लोक दिये हैं उन सब का अर्थ सहित इस भाषान्तर में भी समावेश किया गया है जिससे इस भाषा-

न्तर की रोचकता एवं उपयोगिता में और भी अत्यधिक वृद्धि हो गई है ।

हमें खेद हैं कि–ग्रन्थकर्त्ता के चरित्र विषयक कोई विशेष सामग्री उपलब्ध न होने से हम उसके श्रद्धासूचिक कोई विवरण देने में असमर्थ हैं ।

समकित धर्म मात्र का मूल है जिसके बिना धर्म अंक रहित शून्य सदृश है, अतः समकित अभिलाषा को ही अपना सर्वप्रथम कर्त्तव्य समझ समकित अभिलाषियों के हितार्थ ही इस प्रथम विभाग में उसका उल्लेख किया गया है ।

प्रारंभ में अधिक न लिख उत्सुक वाचकों के साद्यन्त अध्ययन-लग्न त्वरित करने निमित्त मात्र अनुक्रमणिका के पढ़ने का अनुरोध कर इस संक्षिप्त प्रस्तावना की समाप्ति की जाती है। परम कृपालु परमात्मा से प्रार्थना है कि–उसकी असीम कृपा से यह विभाग अनेक भव्य जीवों को समकितप्राप्ति का निमित्तभूत हो इसी में हमारे प्रयास की सफलता निहित है ।

"सुमित्र"

卐

अनुक्रमणिका

विषय			पृष्ठ
प्रथम स्तंभ			
व्याख्यान १			
मंगलाचरण	....	...	१
भील का दृष्टान्त	....	....	१०
व्याख्यान २			
समकित	...	....	२२
महाबल राजकुमार का दृष्टान्त	...	....	२३
व्याख्यान ३			
समकित प्राप्ति के दो हेतु	....	....	२९
अधिगम समकित पर कृषीबल का दृष्टान्त		...	३२
व्याख्यान ४			
समकित के तीन भेद	....	...	३८
दृढ समकित पर श्रेणिक राजा का दृष्टान्त		...	४१
व्याख्यान ५			
परमार्थसंस्तव श्रद्धा का स्वरूप	....	....	५०
अभयकुमार का दृष्टान्त	....	...	५१
अंगारदाहक का दृष्टान्त	....	...	६०

विषय	पृष्ठ
व्याख्यान ६	
मुनि पर्युपास्ति दूसरी श्रद्धा का स्वरूप	६५
पुष्पचूला साध्वी का दृष्टान्त	६७
व्याख्यान ७	
व्यापन्नदर्शनी का त्यागरूप तीसरी श्रद्धा का स्वरूप	७३
जमालि का दृष्टान्त	७४
व्याख्यान ८	
पाखंडी के वर्जनरूप चतुर्थ श्रद्धा का स्वरूप ...	८१
इन्द्रभूति का दृष्टान्त	८३
व्याख्यान ९	
शुश्रूषा नामक लिङ्ग का स्वरूप	९४
सुदर्शन श्रेष्ठी और अर्जुनमाली का दृष्टान्त ...	९५
व्याख्यान १०	
धर्मरागरूप दूसरा लिङ्ग	१०१
चिलातीपुत्र का दृष्टान्त	१०१
व्याख्यान ११	
वैयावृत्य नामक तीसरा लिङ्ग	१०७
नंदिषेण का दृष्टान्त	१०७
व्याख्यान १२	
विनयद्वार	११४
भुवनतिलक प्रबन्ध	११७

विषय			पृष्ठ
व्याख्यान १३			
विनयप्रशंसा	....	...	१२२
श्रेणिकराजा का दृष्टान्त	...	...	१२३
व्याख्यान १४			
अविनय का फल	...	...	१३०
कूलवालुक का दृष्टान्त	...	...	१३१
व्याख्यान १५			
तीन शुद्धि	...	...	१४०
मनःशुद्धि पर जयसेना का दृष्टान्त		...	१४०
द्वितीय स्तंभ			
व्याख्यान १६			
मनःशुद्धि की जरूरत	...	....	१४९
आनन्द श्रावक का दृष्टान्त	...	...	१५०
व्याख्यान १७			
वचनशुद्धि का स्वरूप	....	....	१५७
कालिकाचार्य का दृष्टान्त	....	...	१५७
व्याख्यान १८			
तीसरी कायशुद्धि का स्वरूप	....	...	१६२
वज्रकर्ण का दृष्टान्त	...	...	१६३
व्याख्यान १९			
समकित के पांच दूषण	...	...	१७०

विषय			पृष्ठ
शंका का विषय में दो बालकों का दृष्टान्त	...		१७०
तिष्यगुप्त निह्नव का दृष्टान्त	...	...	१७१
निह्नवों की सूचि	...	...	१७५
व्याख्यान २०			
आकांक्षा दोष का स्वरूप	....	...	१७८
जितशत्रु राजा का दृष्टान्त	...	...	१७९
श्रीधर श्रावक का दृष्टान्त	....	...	१८०
व्याख्यान २१			
तीसरा विचिकित्सा दोष	....	...	१८४
दुर्गंधा राणी का दृष्टान्त	...	...	१८५
व्याख्यान २२			
मिथ्यात्व की प्रशंसा नामक चतुर्थ दूषण		...	१९२
सुमति नागिल का दृष्टान्त	...	...	१९२
व्याख्यान २३			
मिथ्यात्वसंस्तव नामक पंचम दूषण		....	१९८
धनपाल कवि का दृष्टान्त	....	...	१९८
व्याख्यान २४			
प्रभावक	...	....	२१७
प्रवचनप्रभावक वज्रस्वामी का दृष्टान्त		....	२१८
व्याख्यान २५			
दूसरे धर्मकथक प्रभावक	...	...	२२६

विषय			पृष्ठ
सर्वज्ञसूरि का दृष्टान्त	...	....	२२६
व्याख्यान २६			
उपदेशलब्धि प्रभावक	...	....	२३४
नन्दिषेण मुनि का दृष्टान्त	...	...	२३४
व्याख्यान २७			
तीसरे वादी प्रभावक	....	....	२४२
मल्लवादी प्रबंध	...	...	२४४
व्याख्यान २८			
वादी प्रभावक देवसूरि का दृष्टान्त		...	२४९
व्याख्यान २९			
वाद के योग्य पुरुष का लक्षण	...	....	२५९
वृद्ध वादी का दृष्टान्त	...	...	२५९
व्याख्यान ३०			
निमित्तवेत्ता चोथा प्रभावक का स्वरूप		...	२७६
भद्रबाहुस्वामी का दृष्टान्त	....	...	२७६
तृतीय स्तंभ			
व्याख्यान ३१			
पांचवे तपस्वी प्रभावक	...	....	२८२
काष्ठ मुनि का दृष्टान्त	...	...	२८२
व्याख्यान ३२			
छठ्ठे विद्याप्रभावक का स्वरूप	...	...	२८८

विषय			पृष्ठ
श्रीहेमचंद्रसूरि की कथा	...	...	२८८
व्याख्यान ३३			
सातवां सिद्धप्रभावक	....	....	२९८
पादलिप्तसूरि का दृष्टान्त	...	....	२९१
व्याख्यान ३४			
आठवां कवि प्रभावक	....	...	३०५
श्रीहरिभद्रसूरि की कथा	...	....	३०७
व्याख्यान ३५			
दूसरे अतिशयवाले कवि का स्वरूप		....	३१५
मानतुंगसूरि का प्रबंध	...	....	३१५
बप्पभट्टसूरि का प्रबंध	....	....	३१९
व्याख्यान ३६			
समकित के प्रथम भूषण स्थैर्य	...	....	३३५
सुलसा चरित्र	...	...	३३६
व्याख्यान ३७			
प्रभावना नामक द्वितीय भूषण	...	...	३४५
देवपाल राजा की कथा	...	....	३४५
व्याख्यान ३८			
क्रियाकुशलतारूप तीसरा भूषण	...	...	३५०
उदायी राजा की कथा	...	....	३५०

विषय			पृष्ठ
व्याख्यान ३९			
अरिहंतादिक की अतरंग भक्तिरूप चतुर्थ भूषण			३६०
एक स्त्री का दृष्टान्त	...	....	३६०
जीर्ण श्रेष्ठी का दृष्टान्त	....	...	३६२
व्याख्यान ४०			
तीर्थसेवारूप पांचवा दृष्टान्त	...	....	३६६
तुंबडी का दृष्टान्त	....	....	३६७
त्रिविक्रम का दृष्टान्त	...	...	३६९
व्याख्यान ४१			
समकित के प्रथम लक्षण शम का स्वरूप		. .	३७३
कुरगडु मुनि की कथा	....	...	३७३
व्याख्यान ४२			
दूसरा संवेग नामक लक्षण	....	....	३७९
अनाथी मुनि की कथा	...	....	३७९
व्याख्यान ४३			
तीसरा निर्वेद नामक लक्षण का स्वरूप		...	३८५
हरिवाहन राजा की कथा	...	....	३८७
व्याख्यान ४४			
अनुकम्पा के स्वरूप	...	...	३९८
चण्डकोशिक की कथा	....	....	४००

विषय			पृष्ठ
व्याख्यान ४५			
आस्तिकयता नामक पंचम लक्षण	...	...	४०५
पद्मशेखर राजा की कथा	...	...	४०५
चतुर्थ स्तंभ			
व्याख्यान ४६			
दो यतना	.....	....	४१२
संग्रामसूर राजा की कथा	...	....	४१३
व्याख्यान ४७			
शेष चार यतना	...	....	४२०
सुलसपुत्र की कथा	...	...	४२१
व्याख्यान ४८			
छ आगार	...	...	४२६
प्रथम आगार के संबंध में कार्तिक श्रेष्ठी का दृष्टान्त			४२८
व्याख्यान ४९			
दूसरा गणाभियोग आगार	....	....	४३३
सुधर्म राजा की कथा	...	...	४३४
व्याख्यान ५०			
वृत्तिकांतार आगार	...	...	४४४
अहंकारी भट्टा की कथा	...	....	४४४
व्याख्यान ५१			
गुरुनिग्रह आगार	...	....	४५०

विषय			पृष्ठ
सुलस की कथा	...	....	४५१
व्याख्यान ५२			
देवाभियोग आगार	...	...	४५९
नमि राजर्षि की कथा	....	....	५५९
व्याख्यान ५३			
बलाभियोग आगार	....	...	४७१
सुदर्शन श्रेष्ठी की कथा	....	....	४७१
व्याख्यान ५४			
समकित की छ भावना	....	...	४७७
विक्रम की कथा	....	....	४७८
व्याख्यान ५५			
समकित के छ स्थानक पैकी दो	....	...	४८६
गौतमस्वामी का प्रबन्ध	...	...	४८९
व्याख्यान ५६			
तीसरा और चौथा स्थानक	....	...	५००
अग्निभूति का दृष्टान्त			५०१
व्याख्यान ५७			
पांचवा और छट्ठा स्थानक			५०९
प्रभास गणधर का दृष्टान्त			५१०

विषय			पृष्ठ
व्याख्यान ५८			
समकित के अन्य प्रकार	...	...	५२२
कृष्ण वासुदेव का प्रबन्ध	...	...	५२४
व्याख्यान ५९			
कारक समकित	...	....	५३२
काकजंघ और कोकाश की कथा	....	....	५३२
व्याख्यान ६०			
दीपक समकित	...	...	५५४
अंगारमर्दकसूरि का प्रबंध	....	...	५५७
व्याख्यान ६१			
समकित का वस्तुस्वरूप	...	....	५६२
सुबुद्धि मंत्री का दृष्टान्त	....	....	५६९

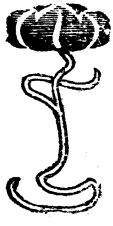

इस ग्रंथ के सहायदाताओं की सूचि

१०००) मगनलालभाई मलाडवाला
७००) शा देवीदास मुळचंद प्रभासपाटणवाला
१०१) शा चंदुलाल खुशालचंद
१०१) शा प्रेमचंद गोमाजी
५१) शा रीखवदास जवेरचंद
५१) शा गेनाजी जेरुपजी
३१) शा नागजी अचळदास
३१) शा नेमीचंद हीराचंद
२५) शा जसराज वरधीचंद
२५) शा जेरुपजी लखाजी
२५) शा सरदारमल गमनाजी
२५) शा न्यालचंद रुपचंद
२५) शा रकबाजी दोलाजी
२५) शा नवलाजी मेघाजी
२५) शा पुनमचंद गजाजी
२५) शा गोमराज हजारीमल
११) शा रीखवचंद अमीचंद
११) शा पूखराज नरसींगजी
१०) शा चुनीलाल फोजमल
१०) शा चुनीलाल फोजमल हा. मगनलाल
१०) शा छगनलाल वनेचंद

१०) शा चमनाजी भुताजी
१०) शा तेजाजी पनाजी
१०) शा फोजमल भीमराज
५) शा भोगीलाल उत्तमचंद
५) शा वरधीलाल कचरालाल
५) शा हीरालाल गंभीरमल
५) शा गमनाजी कुपाजी
५) शा फोजमल सदाजी
५) शा चेनाजी उमाजी
५) शा सागरमल नवलाजी
५) शा भोगीलाल प्रेमचंद
५) शा चंदनमल लालचंद
५) शा जवानमल भीखाजी
५) शा सोभागचंद दीपचंद
५) शा वरधीचंद कस्तुरचंद
५) शा भभुतमल आयदानमल
५) शा पूखराज गेवरचंद
५) शा जवानमल प्रेमचंद
५) शा जसराज पनाजी
५) शा बाबुलाल परतापजी
५) शा वनेचंद गाडुजी
५) शा जसराज कीसनाजी

५) शा हजारीमल भगवानजी
५) शा जेरुपजी वालाजी
५) शा सेसमल चेनाजी
५) शा हीराचंद फुटरमल
५) शा रतनचंद सेसमल
५) शा विजराज जुहारमल
५) शा जसराज पनाजी
५) शा पूखराज दलीचंद
५) शा छोगमल ताराचंद
५) शा हीराचंद केशरीमल
५) शा लखमाजी गमनाजी
५) शा कपुरचंद भगवानजी
५) शा रकबीचंद छोगमलजी
५) शा पूनमचंद धूळचंद
५) शा रायचंद अमीचंद
५) शा छोगमल भुताजी
५) शा वनेचंद वीरचंद

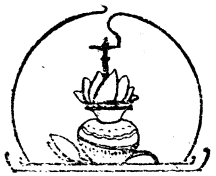

અ. સૌ. શ્રીમતી હીમઇબાઇ—મુંબઈ.

[કચ્છ–લાયજાનિવાસી, જાણીતા આગેવાન, શ્રી જૈન શ્વેતામ્બર કૉન્ફરંસના સોળમા અધિવેશનના પ્રમુખ **શ્રીમાન શેઠશ્રી મેઘજીભાઇ સોજપાળનાં ધર્મપત્ની.**]

જેઓએ આ ગ્રંથ–પ્રકાશનમાં રૂા. ૧૦૦૦) એક હજારની સહાયતા કરી છે.

श्री उपदेशप्रासाद भाषान्तर

प्रथम भाग

प्रथम स्तंभ

व्याख्यान १

मंगलाचरण

स्वस्तिश्रीदो नाभिभूर्विश्वबन्धु-
गीर्वाणार्थ्यो वस्तुतस्तत्त्वसिन्धुः ।
भास्वद्दीप्त्यानिर्जितादित्यचन्द्रः,
सत्त्वानव्यादादिमोऽयं जिनेन्द्रः ॥ १ ॥

भावार्थः—जो नाभिराजा के पुत्र कल्याण और लक्ष्मी को देनेवाले हैं, समस्त विश्व के बन्धु हैं, परमार्थ से तत्त्वज्ञान के सागर सदृश हैं, जिनकी देवतागण भी प्रार्थना करते हैं, और जिन्होंने अपनी देदीप्यमान कान्ति से सूर्य एवं चन्द्र को भी जीत लिया है ऐसे ये प्रथम जिनेन्द्र (श्री ऋषभस्वामी) समस्त जीवों की रक्षा करें !

श्रीभूपनाभिजनपान्वपपुष्करत्वे,
चिद्रूपदीधितिगणै रविरेव योऽभूत् ।
स्वीयौजसा शमितमोहतमःसमूहो,
कल्याणवर्णविभुरस्तु विभूतये सः ॥२॥

भावार्थः—पृथ्वी के पालन करनेवाले श्रीमान् नाभि-राजा के वंशरूपी आकाश में जो (प्रभु) सम्यग्ज्ञानरूपी किरणों के समूह में सूर्यवत् हुए और जिन्होंने अपने तेज से मोहरूपी अंधकार के समूह का नाश किया वे सुवर्ण-समान कान्तिवान् प्रभु हमारी सम्पत्ति की वृद्धि करे !

मोक्ष लक्ष्मी के अद्वितीय हेतुरूप, तीनों लोक की लक्ष्मी के अद्वितीय हेतुरूप, आत्मस्वरूप को प्रकट करने-वाले और गम्भीरतारूप लक्ष्मी को उत्पन्न करने में सागर सदृश ऐसे श्री विश्वसेन राजा के पुत्र श्री शान्तिनाथस्वामी का मैं आश्रय लेता हूं !

मोहरूपी असुरों का नाश करने में नारायण(विष्णु) सदृश और कामदेव का नाश करने में महादेव(शंकर) सदृश तथा मन को जीतनेवाले और विवाह के बहाने से तिर्यंचोंपर दया करने के लिये ही रथारूढ़ होनेवाले ऐसे श्री नेमिनाथ प्रभु हमारे लिये सुखकारी हों !

शंख को धारण करनेवाले (शंखेश्वर) कृष्णने जिनकी

स्तुति की है तथा जो नाथ के भी नाथ हैं ऐसे हे वामाराणी के पुत्र शंखेश्वर पार्श्वनाथस्वामी ! तुम्हारी जय हो ! इस प्रकार जिनेश्वर आदि त्रिपदीरूप वर्ण को प्राप्त ऐसे गणधर जिनकी स्तुति करते हैं वे तथा जो पार्श्वनाथस्वामी के उपनाम की संख्या अन्तरिक्ष, नवपल्लव आदि नामों से जिनतनु लक्षण के प्रमाण जितनी अर्थात् एक हजार आठ की जो जगतप्रसिद्ध है उस सुखदायक संख्या की मैं हर्षपूर्वक स्तुति करता हूं।

जो सिद्धार्थराजा के पुत्र अनन्तज्ञानरूपी कल्पवृक्ष के नन्दनवन के सदृश हैं, संसार के ताप को नाश करने में बावना चन्दन सदृश हैं, जिन्होंने अनिन्दित वचनों द्वारा विश्व को विकासित किया है, और जिन्होंने अपने (तीर्थंकरके) भवके पूर्वके तीसरे भव में अग्यारह लाख अस्सी हजार और पांचसो मासक्षमण किया है उन श्री वीरस्वामी की जय हो !

भव्य प्राणियों से अर्चन करने योग्य, कामदेव को जीतनेवाले, स्वयंभू तथा संसार का नाश करनेवाले ऐसे श्री अजितनाथ, संभवनाथ आदि तीर्थंकर ग्रन्थ के वक्ता और कर्ता आदि शुभ आत्मावाले सत्पुरुषों के लिये सुखदायक हो !

प्रथम पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करके इस उपदेशप्रासादकी वृत्ति को जिसमें वर्ष के दिनों के अनुसार तीन सो

साठ व्याख्यानों के कहे जाने से अब्ददिन परिमिता नाम की करता हूँ। इस स्थान पर प्रथम तीन प्रणव (ॐकार) की स्थापना करके उस के पश्चात् तीन आकाश बीज (ह्रीं) की स्थापना करके तत्पश्चात् सरस्वती बीज (ऐं) की स्थापना करके-ए रूप मंत्र का नमन कर इस शास्त्र का आरम्भ किया गया है।

जिस प्रकार बालक की तुतली आवाज भी उसके पिता को रोचक एवं कर्णप्रिय प्रतीत होती है उसी प्रकार लेखक का यह प्रलापरूपी वचन भी श्रुतधरों के सामने सत्यपन को प्राप्त होगा, जिस प्रकार कोई तृषातुर प्राणि क्षीरसागर में से थोड़ासा जल लेकर भी अपनी तृषा की तृप्ति करता है उसीप्रकार लेखकने भी अनेकों शास्त्रों में से थोड़ा थोड़ा ग्रहण कर यह व्याख्या लिखी है कि जिससे वह निंद्य नहीं बने। इस ग्रन्थ में प्रथम एक एक श्लोक कह कर उस पर गद्य में एक एक दृष्टान्त दिया गया है इससे उनकी संख्या भी वर्ष के दिनों के अनुसार तीन सो और साठ हो गई है।

प्रत्येक ग्रन्थ के आरम्भ में नमस्काररूप, ग्रन्थ की वस्तु का प्रदर्शन करने निमित्त अथवा आशीर्वादरूप मंगल विघ्न के नाश करने को तथा शिष्ट समुदाय के आचार पालन निमित्त करना आवश्यक है। कहा भी है कि:—

श्रेयांसि बहुविघ्नानि, भवन्ति महतामपि ।
अश्रेयसि प्रवृत्तानां, क्वापि यान्ति विनायकाः॥१॥

भावार्थः—महापुरुषों को भी श्रेष्ठ कार्यों में अनेकों विघ्नों का सामना करना पड़ता है किन्तु अशुभ कार्यों में प्रवृत मनुष्यों के विघ्न दूर भग जाते हैं।

इसलिये ग्रन्थ के आरम्भ में विघ्नसमूह की शान्ति के लिये उपरोक्त मंगल शास्त्र के आरम्भ, मध्य और अन्त में उच्चारण करना आवश्यक समझा गया हैं। यहां यह प्रश्न होता है कि " स्याद्वाद धर्म के वर्णनरूप यह ग्रन्थ होने से तो यह समस्त ग्रन्थ ही मंगलरूप है फिर यहां शास्त्र के आरम्भ, मध्य एवं अन्त में मंगलोच्चारण करने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि इस में मंगलोच्चारण करने का कोई प्रयोजन नहीं रहता " इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि इस में जो मंगल नहीं करने के लिये कारण बतलाया गया हैं वह असिद्ध है क्यों कि शिष्यजन निर्विघ्नतया ग्रन्थ पूर्ण कर सके (अभ्यास कर सके) इस के लिये आरंभ में उसको हृदयंगम कर सके इसके लिये मध्य में, और वही ग्रन्थ शिष्य प्रशिष्यादिक परंपरा से करके सब को उपकारी हो सके इस के लिये अन्त में मंगलोच्चारण की आवश्यकता होती है। इसी विषय में प्रशंसनीय भाष्यरूपी धान्य उत्पन्न

करने में पृथ्वी सदृश श्री जिनभद्रगणि महाराज का कहना हैं कि:-

तं मंगलमाईए, मज्झे पज्जंतए य सत्थस्स ।
पढमं सत्थत्थाविग्घ-पारं गमनाय निद्दिट्ठं ॥१॥

इत्यादि

भावार्थः—शास्त्र के आरम्भ, मध्य एवं अन्त में मंगलोच्चारण करना चाहिये। उस में प्रथम मंगल शास्त्र और उसके अर्थका निर्विघ्न समाप्त होने के लिये करना कहा गया है। इत्यादि।

इसी प्रकार शिष्ट जनोंद्वारा भी मंगलोच्चारण का आचरण होना पाया गया है। शिष्ट पुरुष किन को कहते हैं? शास्त्ररूप सागर को पार करने के लिये जो शुभ व्यापार में प्रवृत्त होते हैं उनको शिष्ट पुरुष कहते हैं। कहा भी है कि:-

शिष्टानामयमाचारो, यत्ते संत्यज्य दूषणम् ।
निरन्तरं प्रवर्तन्ते, शुभ एव प्रयोजने ॥ १ ॥

भावार्थ—शिष्टजन का आचरण होता है कि वे दूषणों का परित्याग कर निरन्तर शुभ कार्य में ही प्रवृत होते हैं।

अपितु बुद्धिमान् पुरुषों का कोई भी कार्य निष्प्रयोजन नही होता क्यों कि बिना प्रयोजन के किया हुआ कार्य तो मार्ग में पडी हुई कांटेवाली हती के उपमर्दन करने तुल्य

निष्फल होता है अतः इस प्रकार की शंका के निवारणार्थ बुद्धिमान् पुरुषों को इस ग्रन्थ के पठनपाठन में प्रवृत करने तथा उपद्रवों का नाश करने के निमित्त ग्रन्थकार इष्ट देवता को नमस्कार करने के लिये सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन के सूचक श्लोक का कथन करते हैं:—

ऐन्द्रश्रेणिनतं शान्ति–नाथमतिशयान्वितम् ।
नत्वोपदेशसद्माख्यं, ग्रन्थं वक्ष्ये प्रबोधदम् ॥१॥

शब्दार्थः—इन्द्रसमूह से वंदित एवं अतिशयों से युक्त शान्तिनाथ स्वामी को नमस्कार करके प्रबोधात्मक उपदेशप्रासाद नामक ग्रन्थ का वर्णन करता हूँ ।

विवेचनः—"उपदेश" अर्थात् हमेशा व्याख्यान देने योग्य ऐसा तीन सो एकसठ दृष्टान्तयुक्त "सद्म" अर्थात् स्थान (महल–प्रासाद) नामक ग्रन्थ को प्रारम्भ किया जाता है। वह ग्रन्थ कैसा है ? "प्रबोधदम्" अर्थात् सम्यग् ज्ञान को देनेवाला–उत्पन्न करनेवाला उस ग्रन्थ को कैसे आरम्भ किया गया ? नमस्कारपूर्वक अर्थात् मन, वचन और काया से नमस्कार करके । किसको नमस्कार कर ? शान्तिनाथ को–अचिरा माताके पुत्र–विश्वसेन के पुत्र सोलवे तीर्थंकर को । वे शान्तिनाथ प्रभु कैसे है ? चोसठ इन्द्र, बारह चक्रवर्ती, नो वासुदेव, नो प्रतिवासुदेव, नो बलदेव तथा गणधर, विद्याधर और मृगेन्द्र आदि के समूहद्वारा

नमस्कृत हैं। अपितु अपाय अपगम आदि चार[1] अथवा प्रकारान्तरे चोतीश अतिशयों से युक्त हैं। ऐसे शान्तिनाथ-स्वामी को प्रणाम करके उपदेशप्रासाद नामक ग्रन्थ को आरम्भ किया गया है।

इस प्रथम श्लोक में शान्तिनाथ के लिये "अतिशयों से युक्त" ऐसे विशेषण का प्रयोग किया गया है तथा ऐसे चोतीस अतिशय बतलाये गये हैं। उन अतिशयों को पूर्वाचार्य की गाथाद्वारा इस प्रकार बतलाया गया है:—

चउरो जम्मप्पभिई, इक्कारस कम्मसंखए जाए।
नवदस य देवजणिए, चउत्तीसं अइसए वन्दे ॥१॥

भावार्थः—तीर्थंकरों में जन्म से लगा कर चार अतिशय, कर्मक्षय से उत्पन्न हुए अग्यारह अतिशय और देवताओं द्वारा किये हुए उन्नीस अतिशय होते हैं। उन चोतीस अतिशय युक्त भगवान को मैं वन्दना करता हूँ। वे अतिशय निम्नस्थ हैं:—

(१) तीर्थंकर का देह सर्व लोगों से श्रेष्ठ (लोकोत्तर) और अद्भुत स्वरूपवान होता है। तथा व्याधि रहित और स्वेद एवं मेल रहित है।

---

१. ज्ञानातिशय, वचनातिशय, पूजातिशय और अपायापगमातिशय ॥

(२) तीर्थंकर का श्वासोश्वास कमलपरिमल तुल्य सुगन्धित है।

(३) जिनेश्वर का मांस और रुधिर गाय के दूध के सदृश उज्वल (श्वेत) होता है। तथा—

(४) भगवान का आहार और निहार चर्मचक्षुवाले प्राणियों (मनुष्यादिक) के लिये अदृश्य होता है, परन्तु अवधि आदि ज्ञानवाले देख सकते हैं। ये चार अतिशय भगवान में जन्म से ही उत्पन्न होते हैं।

ज्ञानावरणीयादिक[1] चार घातिकर्मों के क्षय से ११ अतिशय उत्पन्न होते हैं जो इस प्रकार है:—

(१) भगवान के समवसरण की भूमि केवल एक योजन के विस्तार की होती है तिसपर भी इस भूमि में करोड़ो देवतागण, मनुष्य और तिर्यंच का समावेश हो जाता है, और परस्पर निष्संकोच होकर सुख से रहते हैं।

(२) भगवान द्वारा देशना में कही पेंतीश गुणों से युक्त अर्धमागधी भाषा देवताओं, मनुष्यों और तिर्यंचों अपनी भाषा में समझने से धर्म का अवबोध करनेवाली

---

१ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, और अन्तराय ये चार घातिकर्म है। इनके क्षय से प्राणी को केवलज्ञानादि प्रगट होते हैं।

होती है तथा वह वाणी एक योजन के समवसरण में स्थित सर्व प्राणियों को एक ही प्रकारसे सुनाई देती है। यद्यपि भगवंत तो एक ही भाषा में उपदेश करते हैं परन्तु वर्षा के सदृश वह भाषा भिन्न भिन्न जीवों का आश्रय पाकर उन उन जीवों की भाषा के रूप में हो जाती है। इस विषय में कहा है कि:—

देवा दैवीं नरा नारीं, शबराश्चापि शाबरीम्।
तिर्यञ्चोऽपि हि तैरश्चीं, मेनिरे भगवद्गिरम् ॥१॥

भावार्थः—भगवान की वाणी को देवता दैवी भाषा, मनुष्य मानुषी भाषा, भील लोग अपनी भाषा और तिर्यंच भी अपनी (पशु पक्षी की) भाषा में बोला जाता है ऐसा मानते हैं।

इस प्रकार के भुवनाद्भुत अतिशय बिना एक ही काल में एक ही प्रकार अनेक प्राणियों का उपकार होना अशक्य है। इस विषय में एक भील का दृष्टान्त प्रसिद्ध है कि:—

सरःशरस्वरार्थेन, भिल्लेन युगपद्यथा।
सरो नत्थीति वाक्येन, प्रियास्तिस्रोऽपि बोधिताः॥

भावार्थः—सरोवर, बाण और सुमधुर कंठ इन तीनों अर्थों को एक साथ कहने की इच्छावाले किसी भीलने

" सरो नत्थि–सर नहीं " इस वाक्य द्वारा अपनी तीनों स्त्रियों को समझा दिया ।

एक भील जेष्ठ महिने में उसकी तीनों स्त्रियों को साथ लेकर किसी ग्राम को जाता था । मार्ग में एक स्त्रीने उसको कहा कि ' हे स्वामी ! आप सुकंठ से गायन करें कि जिसको सुनने से मुझे इस मार्गका श्रम तथा सूर्यकी गर्मी दुःसह न हो । ' दूसरी स्त्रीने कहा कि ' स्वामी ! तुम जलाशय में से कमल की सुगन्धमिश्रित शीतल जल लाकर मेरी तृष्णा का निवारण करो ' तीसरीने कहा कि ' हे पति ! मुझे मृगका मांस लाकर दो कि जिससे मेरी क्षुधा का निवारण हो । ' इस प्रकार उन तीनों स्त्रियों के वचन सुनकर उस भीलने ' सरो नत्थि ' इस एक ही वाक्य से उन तीनों को उत्तर दिया । जिससे पहली स्त्रीने समझा कि ' मेरे स्वामी का कहना है कि मेरा 'सरो' अर्थात् स्वर–सुमधुर कंठ नहीं है इस लिये किस प्रकार गान करुं ? ' दूसरी ने विचार किया कि ' सरो अर्थात् सरोवर तो यहां आसपास नहीं तो फिर जल कहाँ से लाऊं ? ' तीसरीने समझा कि ' सरो अर्थात् शर–बाण नहीं, तो फिर मृग को किस प्रकार मार कर उसका मांस लाया जा सके ? '

इस प्रकार भील के एक ही वाक्य से उन तीनों स्त्रियों को अपने प्रश्नों का उत्तर मिल जाने से वे संतुष्ट हो गई तो फिर भगवान की वाणी तो उपमारहित तथा अकथनीय

है अर्थात् उस वाणी को अनेक प्राणी समझे इसमें आश्चर्य ही क्या है ? कहा भी है कि:—

नयसप्तशतीसप्त–भंगीसंगीतसंगतिम् ।
शृण्वन्तो यद्गिरं भव्या, जायन्ते श्रुतपारगाः ॥१॥

भावार्थः—सात नय के सातसो भंगों से और सप्त-भंगी की रचना से मिश्रित–युक्त भगवान की वाणी को सुनकर अनेक भव्यप्राणी श्रुत के पारगामी होते हैं ।

(३) भगवान के मस्तक के पीछे बारह सूर्यबिंब की कान्ति से भी अधिक तेजस्वी और मनुष्यों को मनोहर प्रतीत होनेवाला भामंडल अर्थात् कान्ति के समूह का उद्योत प्रसारित होता है । श्रीवर्धमान देशना में कहा है कि:—

रूवं पिच्छंताणं, अइदुल्लहं जस्स होउ मा विग्घं ।
जो पिंडिऊण तेअं, कुणंति भामंडलं पिट्ठे ॥ १ ॥

भावार्थः—भगवंत के रूप को देखनेवाले के लिये उसका अतिशय तेजस्वीपन होनेसे उसके सामने देखना अत्यन्त दुर्लभ हो जाता है इस लिये सर्व तेज का समूह एकत्रित होकर भगवंत के मस्तक के पीछे रहता है कि जिससे भगवंत के रूप को देखनेवाले सुखपूर्वक भगवंत की ओर देख सकते हैं ।

(४) दया के अद्वितीय निधि भगवान जिस जिस स्थल को विहार करते हैं उस उस स्थलपर सर्व दिशाओं में पचीश पचीश योजन और ऊपर नीचे साड़े बारह साड़े बारह योजन इस प्रकार पांच सो[1] गाउ तक पहले के होने-वाले ज्वरादि रोगों का नाश हो जाता है और नये रोग उत्पन्न नहीं हो सकते हैं।

(५) उपरोक्तानुसार भगवान की स्थिति से पांचसो गाउ तक प्राणियों के पूर्वभव में बांधे हुए और जाति से उत्पन्न हुए (स्वाभाविक) वैर परस्पर बाधाकारी नहीं होते।

(६) उपरोक्तानुसार पांचसो गाउ तक इतियों (सात प्रकार के उपद्रव), तथा धान्यादि को नाश करनेवाली टीड्डि, तोते, चूहें आदि उत्पन्न नहीं होते।

(७) उपरोक्त भूमि में महामारी, दुष्ट देवतादि के उत्पात (उपद्रव) और अकाल मृत्यु नहीं होती।

(८) उपरोक्त भूमि में अतिवृष्टि अर्थात् लगातार निरन्तर वर्षा नहीं होती कि जिस से धान्य मात्र नष्ट हो जाय।

---

१ प्रत्येक दिशा में पचीश पचीश योजन अर्थात् सो सो गाउ मीलकर चार दिशा के चारसो गाउ तथा ऊपर और नीचे साढ़े बारह साढ़े बारह योजन अर्थात् पचास पचास गाउ मील कर सो गाउ। ये सब मीलकर पांच सो गाउ हुए। इसी प्रकार ग्यारहवें अतिशय तक समझना चाहिये।

(९) उपरोक्त स्थल में अनावृष्टि–सर्वथा जल का अभाव नहीं होता कि जिस से धान्यादिक की उत्पत्ति ही न हो।

(१०) उस भूमि में दुर्भिक्ष–दुष्काल नहीं होता।

(११) अपने राज्य के लश्कर का भय (हुल्लड़ आदि) तथा अन्य राज्य के साथ संग्रामादिक होने का भय उत्पन्न नहीं होता।

इस प्रकार कर्मक्षयजन्य ११ अतिशय समझना चाहिये।

अब देवताओं द्वारा किये गये उन्नीश अतिशय इस प्रकार हैं।

(१) प्रभु जिस स्थल पर विचरते हैं उस जगह आकाश में देदीप्यमान कांतिवाला धर्मप्रकाशक धर्मचक्र फिरता रहता है (आगे आगे चलता रहता है)।

(२) आकाश में श्वेत चामर दोनों ओर चलते हैं।

(३) आकाश में निर्मल स्फटिक मणि निर्मित पाद-पीठ सहित सिंहासन चलता रहता है।

(४) आकाश में भगवान के मस्तक पर तीन छत्र रहते हैं।

(५) आकाश में रत्नमय धर्मध्वज प्रभु के आगे आगे चलता है। सर्व ध्वज की अपेक्षा यह ध्वज अत्यंत बडा होने से इसे इन्द्रध्वज भी कहते हैं।

ये पांचो अतिशय जहां जहां जगद्गुरु विहार करते हैं वहां आकाश में चलते रहते हैं और जहां जहां पर भगवान बिराजते हैं वहां वहां यथायोग्य उपयोग में आते हैं अर्थात् धर्मचक्र तथा धर्मध्वज आगे के भाग में रहता हैं, पादपीठ पैरों के नीचे रहता है, सिंहासन पर प्रभु बिराजते हैं, चामर दोनों तरफ ढुलते हैं और छत्र मस्तक पर रहते हैं।

(६) मक्खन सदृश कोमल स्वर्ण के नो कमल देवता गण बनाते हैं जिन में से दो कमलों पर तीर्थंकर भगवंत अपने दो पैरों को रख कर चलते हैं, शेष सात कमल भगवान के पीछे रहते हैं जिनमें से दो कमल क्रमशः भगवान के आगे आगे रहते हैं।

(७) तीर्थंकर के समवसरण में फरता मणि से, स्वर्ण और रूपासे इस प्रकार देवतागण तीन गढ़ निर्मित करते हैं। उनमें से पहला गढ (प्राकार) विचित्र प्रकार के रत्नों से वैमानिक देवता बनाते हैं, दूसरा अर्थात् मध्यम प्राकार सुवर्ण से ज्योतिषी देव बनाते हैं, तथा तीसरा बहार का प्राकार रूपासे भुवनपति देवता बनाते हैं।

(८) तीर्थंकर जिस समय समवसरण में सिंहासनपर विराजते हैं उस समय उनका मुँह चारों दिशाओं में दिखाई देता है। उसमें से पूर्व दिशा में मुख रखकर प्रभु स्वयं विराजते हैं, अन्य तीन दिशाओं में जिनेन्द्र के प्रभाव से

उनके सदृश ही रूपवान सिंहासन आदि सहित तीन मूर्तियें देवतागण बनाते हैं। ऐसा करनेका यह कारण है कि सर्व दिशाओं में बैठे हुए देवताओं आदि को ऐसा होने से यह विश्वास हो जाता है कि प्रभु स्वयं हमारे सामने बैठ कर ही उपदेश दे रहे हैं।

(९) जहां जहां प्रभु विराजते हैं वहां देवतागण जिनेश्वर के ऊपर अशोक वृक्ष रचते है। वह अशोकवृक्ष ऋषभदेवस्वामी से लगाकर श्री पार्श्वनाथस्वामी तक अर्थात् तेवीस तीर्थंकरों के ऊपर उनके शरीर के मान से बारहगुना ऊंचा रचा जाता है और महावीरस्वामी ऊपर बत्तीस धनुष ऊंचा रचा जाता है। कहा है कि:—

उसभस्स तिन्नि गाउय, बत्तीसधणुणि वद्धमाणस्स।
सेसजिणाणमसोउ, शरीरउ बारसगुणो ॥ १ ॥

भावार्थः—ऋषभदेव स्वामी पर तीन गाउ ऊँचा अशोकवृक्ष होता है, वर्धमानस्वामी (महावीरस्वामी) पर बत्तीस धनुष ऊँचा होता है, और अन्य जिनेश्वरों पर उनके शरीर से बारहगुना ऊँचा होता है।

यहां पर शंका होती है कि " आवश्यक चूर्णि में श्री महावीरस्वामी के समवसरण के प्रस्ताव में कहा है कि– असोगवरपायवं जिणउच्चताउ बारसगुणं सक्को विउव्वइत्ति– इन्द्रने जिनेश्वर की ऊंचाई से बारहगुना ऊँचा अशोक नाम

श्रेष्ठ तरु बनाया और यहां पर जो बत्तीस धनुष ऊँचा होना कहा सो ऐसा कैसे संभव हो सकता है ?" इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि-" आवश्यकचूर्णि में जो बारह-गुना ऊँचाई का प्रमाण कहा गया है वह केवल अशोक वृक्ष का ही कहा गया है और यहां पर जो बत्तीस धनुष का मान कहा गया है वह साल वृक्ष सहित अशोक वृक्ष का प्रमाण बतलाया गया है। यहां पर भी अशोक वृक्ष तो बारहगुना ही समझना चाहिये अर्थात् महावीरस्वामी के शरीर की ऊंचाई सात हाथ की है जिसको बारहगुना करने से चोरासी हाथ अर्थात् इकवीश धनुष ऊँचा अशोक वृक्ष और उस पर ग्यारह धनुष ऊंचा साल वृक्ष होने से दोनो मिल कर बत्तीस धनुष के मान के हुए ऐसा प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति में कहा गया है।"

(१०) जहां जहां तीर्थंकर विचरते हैं वहां वहां कांटे अधोमुख हो जाते हैं अर्थात् मार्गस्थित कंटकों की नोकें नीचे की ओर झुक जाती है।

(११) जहां जहां भगवान चलते हैं वहां वहां वृक्ष नीचे झुकते जाते हैं, मानो वे भगवान को प्रणाम करते हों।

(१२) भगवान लीला सहित जिस स्थल में विचरते हैं वहां आकाश में देवदुन्दुभि बजती रहती है।

(१३) भगवंत जहां जहां विचरते हैं वहां संवर्तकजाति का पवन एक योजन प्रमाण पृथ्वी को शुद्ध कर (कचरा आदि दूर कर) सुगंधित, शीतल और मन्द मन्द तथा अनुकूल अवस्था में बहता है जिससे सर्व प्राणियों के लिये सुखदायक होता है, इसके लिये श्रीसमवायांग सूत्र में कहा है कि–सीयलेणं सुहफासेणं सुरभिणा मारुपणं जोयण परीमंडलं सव्वउ समंता पमज्जित्ति ॥

शीतल, सुखस्पर्शक और सुगंधित पवन सर्व दिशाओं में चारों ओर एक एक योजन भूमि को प्रमार्जन करता है।

(१४) जगद्गुरु जिनेश्वर जहां जहां संचार करते हैं वहां चास, मोर और पोपट आदि पक्षी प्रभुकी प्रदक्षिणा करते हैं।

(१५) जिस स्थान पर प्रभु विराजते हैं वहां धूलिका उड़ने से रोकने के लिये मेघकुमार देव घनसारादियुक्त गंधोदक की वृष्टि करते हैं।

(१६) समवसरण की भूमि में चंपक आदि पांच रंग के पुष्पों की जानु प्रमाण (घुटने तक) वृष्टि होती है। इस में किसी को शंका हो कि " विकस्वर और मनोहर पुष्पों के समूह से व्याप्त एक योजन प्रमाण समवसरण की पृथ्वी पर जीवदया के रसिक चित्तवाले मुनियों का रहना तथा आना जाना किस प्रकार उचित होगा। क्यों कि इससे तो जीवों का

घात होता है।" इस पर कईयोंकी सम्मति हैं कि वे पुष्प देवताओं द्वारा रचे हुए होने से सचित्त ही नहीं होते है परन्तु यह जवाब युक्त प्रतीत नहीं होता क्यों कि ये पुष्प केवल रचे हुए ही नहीं होते है अपितु जल एवं स्थल से उत्पन्न पुष्पों की भी देवतागण वृष्टि करते हैं। इस विषय में आगम का भी कहना है कि:—

"बिटट्ठाइं वि सुरभि जलथलयं दिवसुमनोहरिं।
पकिरंति समंतेण दसद्धवणं कुसुमवासंति॥

भावार्थः—नीचे बींटवाले, सुगंधित और जल स्थल में उत्पन्न हुए पंचरंगी दिव्य पुष्पों की वृष्टि देवतागण चारों ओर करते हैं।

इस प्रकार सिद्धान्त का पाठ पढ़कर कितने ही अल्पज्ञ पंडित स्वमतिकल्पना से कहते हैं कि जिस स्थान पर मुनिगण बैठते हैं वहाँ पर देवतालोग पुष्पवृष्टि नहीं करते। यह उत्तर भी सत्यप्रतीत नहीं होता क्योंकि जिस स्थान पर मुनिगण बैठते हैं उसी स्थान पर वह काष्ठवत् स्थिर होकर बिना हिलेडुले बैठे रहे ऐसा कोई नियम नहीं है परन्तु कारणवश उनका आनाजाना भी संभव है अथ इस सब का यथोचित यही उत्तर प्रतीत होता है कि जैसे एक योजन समवसरण की भूमि में अपरिमित सुर, असुर, नर और तिर्यंचों का परस्पर मर्दन होने पर भी उनको किसी प्रकार

का कष्ट नहीं होता उसी प्रकार जानुप्रमाण पुष्पों के समूह पर मुनिगण तथा विविध जनसमूह के चलने से भी उन पुष्पों को कोई कष्ट नहीं होता अपितु जैसे उन पर अमृतरस की बोछार की हो इस तरह से वे उलटे विशेषतया विकसित होते जाते हैं क्योंकि अनुपम तीर्थंकरों का प्रभाव ही अविचारणीय है।

(१७) तीर्थंकर के मस्तक के केश, दाढी, मूछ तथा हाथ एवं पैर के नखों की वृद्धि नहीं होती। सदैव एकही दशा में रहते हैं।

(१८) तीर्थंकरों के समीप सर्वदा कमसे कम एक करोड़ भवनपति आदि चारों निकाय के देव रहते हैं।

(१९) जिनेश्वर जिस स्थान में विचरते हैं वहां वसंत आदि सर्व ऋतुओं के मनोहर पुष्प फलादि का समूह उत्पन्न होता है अर्थात् ऋतुऐं भी सब अनुकूल हो जाती है।

इस प्रकार तीर्थंकरों के सब चोतीस अतिशय का वर्णन जानना चाहिये। इन अतिशयों में किसी स्थान पर समवायांग के कारण कुछ कुछ भिन्नता जान पडती है वह मतान्तर के कारण से है जिनका असली कारण तो सर्वज्ञ ही जान सकते हैं।

मूल श्लोक में 'अतिशयान्वितम्' अतिशयों से युक्त ऐसा जो यह कहा गया है उसकी यह व्याख्या की गई

है। ऐसे अतिशयों से युक्त विश्वसेन राजा के कुल में तिलक समान और अचिरा माता की कुक्षिरूपी शुक्ति (सीप) से मुक्ता (मोती) समान सोलहवें तीर्थंकर श्री-शान्तिनाथस्वामी को नमस्कार कर अर्थात् उपहास का त्याग करने निमित्त मन, वचन, काया की शुद्धि से प्रणाम कर अनेक शास्त्रों का अनुसरण कर यह उपदेशप्रासाद नामक ग्रन्थ रचा गया है।

इस ग्रन्थ में संबंध वाच्य वाचक लक्षण है। इस ग्रन्थ में जो अर्थ है वह वाच्य है और उस अर्थ का कहनेवाला यह ग्रन्थ वाचक है। इस ग्रन्थ में व्याख्यान करने योग्य अर्हद्धर्म के उपदेश का जो निरूपण किया गया है वह इस शास्त्र का अभिधेय है। इस ग्रन्थ का प्रयोजन दो प्रकार का है। एक ग्रन्थकर्त्ता का और दूसरा श्रोता का। इन दोनों के भी दो अन्य प्रयोजन है एक पर (प्रधान) और दूसरा अपर (गौन)। ग्रन्थकर्त्ता का पर प्रयोजन मोक्षपद की प्राप्ति करना और अपर प्रयोजन भव्य जीवों को बोध उपजाना है। इसी प्रकार श्रोताओं का पर प्रयोजन स्वर्ग तथा मोक्ष की प्राप्ति करना और अपर प्रयोजन शास्त्रतत्त्व का बोध होना है। इस प्रकार का अर्थात् सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजनवाला शास्त्र बुद्धिमानों के लिये उसमें प्रवृत्ति करानेवाला सिद्ध होता है।

यहां प्रथम श्लोक में ' अतिशयान्वितम् (अतिशयों से युक्त)' ऐसा जो जिनेश्वर का विशेषण दिया गया है उस (अतिशयों) का वर्णन टीकाकारने अत्यन्त विस्तार से किया है। यह भाव मंगलमय, सर्व विघ्नविनाशक एवं सर्व कल्याणकारक होने से किया गया है।

जो मनुष्य जिनेश्वर के अतिशयों के इस वर्णन को निरंतर प्रातःकाल सुनते हैं वे समग्र समृद्धि युक्त होते हैं।

इत्यब्दिनपरिमितोपदेशप्रासादग्रन्थस्य वृत्तौ जिननमस्कार-कारणातिशयवर्णनरूपं प्रथमं व्याख्यानम् ॥ १ ॥

व्याख्यान २

समकित

यहां प्रथम सर्व समृद्धि के निदानरूप, सर्व गुणों में मुख्य और समस्त धर्मकार्यों के मूल कारणरूप सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहा जाता है:—

" देवत्वधीर्जिनेष्वेव, मुमुक्षुषु गुरुत्वधीः ।
धर्मधीरार्हतां धर्मे, तत्स्यात्सम्यक्त्वदर्शनम् ।१।"

भावार्थः—रागद्वेष को जीतनेवाले जिन कहलाते हैं। वे जिन नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार प्रकार के होते हैं। उन जिनेश्वरों के प्रति देवबुद्धि रखना तथा भव (संसार) से अपनी आत्मा को मुक्त करने की इच्छा

रखनेवाले जो मुमुक्षु प्राणि हैं उन में गुरुपन स्थापन करना और दुर्गति में पड़ते हुए जीवों को उबारनेवाले जिनेश्वर-प्रणीत धर्म में ही धर्मपन की श्रद्धा रखना सम्यग्दर्शन कहलाता है।

यद्यपि दर्शन शब्द से उस वस्तु का बोध होता है कि जो चक्षु ते दिखलाई दे किन्तु जैन शासन में तो सत्य देव, सत्य गुरु और सत्य धर्म के तत्त्व का जो संशयादिक रहित सम्यग् ज्ञान होता है उसे ही सम्यग्दर्शन कहते हैं। वह ज्ञान दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम के क्षयोपशम से प्राप्त होता है। अतः जिनेन्द्र के प्रत्येक वचन पर दृढ़ विश्वासरूप विशिष्ट प्रकार के सद्भाव को 'दर्शन' समझना चाहिये। इस 'समकित' शब्द के बतलाये अर्थ को दृढ़ करने के लिये महाबल नामक राजकुमार का दृष्टांत बतलाया जाता है:—

समकित पर महाबल राजकुमार का दृष्टान्त

हस्तिनापुर में बल नामक राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम प्रभावती था। उस राणीने सिंह के स्वप्न सूचित एक शूरवीर पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम महाबल रखा गया। उस राजकुमार के अनुक्रम से युवावस्था में आने पर भोग भोगने समर्थ समझ कर उसके पिताने एक दिन उसका आठ राजकन्याओं के साथ

विवाह किया। और उन आठों स्त्रियों के लिये राजाने आठ स्वर्ण महल बनवाये। उन स्त्रियों को उनके पिताओंने भी प्रेमपूर्वक आठ करोड़ मोहरें, आठ करोड़ रुपये, आठ मुकुट, आठ जोड़ी कुंडल, आठ नन्दावर्त तथा सर्व प्रकार के रत्न-मय आठ भद्रासन आदि अनेकों वस्तुऐं प्रदान की। (यह गाथा श्रीभगवतीसूत्र में है)। उन आठों स्त्रियों के साथ भोगविलास करते महाबल कुमार को बहुत समय व्यतीत हुआ। एक बार श्रीविमलनाथस्वामी के संतानिये धर्मघोष नामक सूरि पांच सो मुनि के परिवार सहित हस्तिनापुर के उद्यान में पधारे। उनके आगमन की सूचना पा कर अन्य जन समुदाय के साथ वह राजकुमार भी अपनी सर्व समृद्धि सहित उनको वन्दना करने के लिये वहां गया। सूरीश्वर को वन्दना कर राजकुमार योग्य स्थान पर बैठ गया। उस समय मुनीश्वरने देशना की कि:—

" असारमेव संसार–स्वरूपमिति चेतसि।
विभाव्य शिवदे धर्मे, यत्नं कुरुत हे जनाः!॥"

भावार्थः—हे भव्यजनों! इस संसार को असार जानकर मोक्षप्रदान करनेवाले धर्म के लिये यत्न करो।

सर्व धर्मकृत्यों का मूल समकित है, जो देव, गुरु तत्त्व के विषय में सम्यक् श्रद्धा होनेसे प्राप्त होता है। अणुव्रत, महाव्रत, दान, जिनपूजा, क्रिया, जप, ध्यान,

तप, सर्वशास्त्राभ्यास, तीर्थयात्रा और गुणोपार्जन ये सब समकित सहित होने पर ही मोक्षप्राप्ति में साधक हो सकते हैं, अतः सर्व प्रथम उसका आश्रय लेना चाहिये। इस प्रकार गुरुमुख से देशना पाकर वैराग्य उत्पन्न हुए महाबलकुमारने कहा-' हे भगवंत ! मैं अरिहंतद्वारा निर्देशित मार्ग का हर्षपूर्वक अनुसरण करता हूँ, अतः अपने मातापिता की अनुमति लेकर आप के पास दीक्षा अंगीकार करुंगा।" आचार्यने कहां कि " हे वत्स ! धर्मकार्य में प्रतिबंध नहीं करना चाहिये।" तत्पश्चात् महाबलकुमारने घर जाकर अपने मातापिता को प्रणाम कर कहा कि " यदि आप की आज्ञा हो तो मेरी धर्मघोष आचार्य के पास दीक्षा ग्रहण करने की अभिलाषा है।" इसको सुनकर उन्होने जवाब दिया कि " हे वत्स! तुम हमको प्राणों से प्रिय हो, तुम्हारा वियोग हम एक क्षणभर के लिये भी सहने में असमर्थ हैं, अतः तुम ऐसे शब्द कभी अपने मुख से न निकालो। हे पुत्र! जब तक हम जीवित है तब तक तुम घर में ही रहो।" इन शब्दों को सुनकर कुमारने माता से कहा कि " हे माता! पहले कौन मृत्यु को प्राप्त होगा और पश्चात् कौन ? इसको जब कोई नहीं जान सकता तो फिर उत्तम यही है कि मुझे चारित्रग्रहण करने की आज्ञा प्रदान कीजिये कि जिससे तुम्हारी कुक्षिसे प्राप्त मनुष्यजन्म को मैं सार्थक बना सकूँ। जिस प्रकार पूर्व अनन्तभवों में होनेवाली मेरी अनन्त

मातायें बिना अंक की शून्य समान निष्फल हुई है उस प्रकार तुम भी निष्फल न हों। तुम तो शुभ अंक (एक दो आदि) की तरह सार्थक हो सको।" इस प्रकार कुमार के आग्रह को त्याग करने में असमर्थ होनेपर उनके माता-पिता मूक रह गये।

एक समय राजाने महाबल कुमार को स्नेहपूर्वक अपने राज्यासन पर बैठा कर स्वर्ण, रूपा, रत्न और मिट्टी आदि के एक सो आठ आठ कलशों द्वारा राज्याभिषेक किया और बोला कि "हे वत्स! कहो कि अब हम को क्या करना चाहिये?" कुमारने उत्तर दिया कि "हे पिता! अपने कोष में से तीन लाख मोहरें ले कर उन में से मेरे लिए एक लाख मोहरें दे कर कुत्रिकापण[1] से पात्रां लाइये, एक लाख मोहरें दे कर रजोहरण (ओघा) लाइये और केवल चार अंगुल छोड़ कर शेष सर्व केशों को काटने के लिये एक लाख मोहरें दे कर एक नाई को बुलवाइये।" इस को सुनकर राजाने भी उस के कहने अनुसार प्रबन्ध किया। तत्पश्चात् कुमारने स्नान कर, दिव्य चन्दन का शरीर पर लेप कर, सर्व उत्तम अलंकार धारण कर, हजार मनुष्यों द्वारा उठाई जानेवाली शिबिका में आरूढ़ हो कर गुरु के

---

१ दैवी दुकान, कि जिस में तीन भुवन की प्रत्येक वस्तु प्राप्त हो सकती थी।

पास प्रस्थान किया। उस समय उसके मातापिताने कुमार से कहा कि " हे पुत्र ! ऐसे दुर्लभ चरित्र को ग्रहण करने का पूरा यत्न करना।" इस प्रकार कह कर आचार्य को प्रणाम कर वे वापस अपने नगर को लौट गये।

तत्पश्चात् महाबल कुमारने अपने हाथों से पंच मुष्टि लोच कर गुरु द्वारा दीक्षा ग्रहण की।

तीन गुप्ति और पांच समिति युक्त महाबल मुनिने विनयपूर्वक चौदह पूर्व का अभ्यास किया, विविध प्रकार की तपस्या की और बारह वर्ष पर्यंत अस्खलित चारित्र का पालन कर, सर्व पापों की आलोचना कर तथा प्रतिक्रम से एक मास का अनशन कर कालधर्म को प्राप्त हो कर ब्रह्म नामक पांचवें देवलोक में दश सागरोपम की स्थिति-(आयुष्य)वाले देव हुए।

चौदहपूर्वी जघन्य से भी लांतक नामक छट्ठे देवलोक जाते हैं फिर भी यहां महाबल मुनि का पांचवे देवलोक में जाना कहा गया है जिस का कारण कुछ विस्मरण आदि हेतु से चौदहपूर्व से न्यून ज्ञान होगा ऐसा प्रतीत होता है।

वहां के आयुष्य को पूरा कर महाबल मुनि का जीव वाणिज्य नामक ग्राम में किसी बड़े श्रेष्ठी के घर में सुदर्शन नामक पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। अनुक्रम से युवावस्था को प्राप्त करने पर एक समय उस पुर के

उद्यान में पधारे हुए श्रीमहावीरस्वामी के चरणकमल को वन्दना करने के लिये वह भी वहां गया। वहां पर श्रीमहावीरस्वामी सर्व जीवों के हित के लिये समय से लगा कर सर्व काल के स्वरूप का निरूपण कर रहे थे। उसको सुन कर विस्मय से भरे हुए सुदर्शन श्रेष्ठीने प्रभु से पूछा कि "हे भगवन्! काल कितने प्रकारका है?" स्वामीने उत्तर दिया कि "हे सुदर्शन! काल चार प्रकार का है। प्रमाणकाल, यथायुनिवृत्तिकाल, मृत्युकाल और अद्धाकाल।" "हे स्वामी! प्रमाणकाल किसे कहते हैं?" "प्रमाणकाल दो प्रकार का है। चार पहर का दिन और चार पहर की रात्रि आदि।" "हे स्वामी! यथायुनिवृत्ति काल किसे कहते हैं?" "हे सुदर्शन! नारकी जीव तथा देवतागणने जिस प्रमाण में आयुष्य बांधा होगा उसही प्रमाण में पूरा पूरा वे भोगेगें इसको यथायुनिवृत्तिकाल कहते हैं।" "हे स्वामी! मृत्युकाल किसे कहते हैं?" "हे श्रेष्ठी! जीव का शरीर से अलग होना अथवा शरीर का जीव से पृथक् होना मृत्युकाल कहलाता है।" "हे भगवन्! अद्धाकाल किसे कहते हैं?" "हे श्रेष्ठी! अद्धाकाल कई प्रकार का है। समयकाल और आवलिका काल से आरम्भ होकर उत्सर्पिणी अपसर्पिणी तक का सर्वकाल अद्धाकाल कहलाता है।" इसको सुनकर उसने प्रश्न किया कि "हे भगवन्! पल्योपम और सागरोपम जैसा बड़ा काल किस प्रकार पूर्ण

हो सकता है ?" प्रभुने कहा कि "हे सुदर्शन ! पहले तूने भी ऐसा काल व्यतीत किया है। पूर्वभव में तूं ब्रह्म देवलोक में दस सागरोपम के आयुष्यवाला देव था" आदि उसके पूर्वभव का वृत्तान्त प्रभुने सुनाया, जिसको सुनकर सुदर्शन को वैराग्य उत्पन्न हो गया और उसने तुरन्त ही स्वामीद्वारा दीक्षा ग्रहण की।

इस प्रकार उस महाबल के जीव सुदर्शनने दूसरे भव में दीक्षा ग्रहण कर फिर चउदह पूर्व का अभ्यास किया और अन्त में अनुक्रम से सर्व कर्मों का क्षयकर केवलज्ञान प्राप्तकर मोक्षपद को प्राप्त किया।

देव, गुरु और धर्मरूप तत्त्व के लिये जिसकी कामधेनु के समान यथार्थबुद्धि होती है उसको सर्व समृद्धियां अनायास ही प्राप्त हो सकती है, जैसे कि सम्यग्दर्शन से महाबल राजा को मोक्षपर्यन्त की समृद्धि प्राप्त हो गई थी।"

इत्यब्ददिनपरिमितोपदेशप्रासादग्रंथस्य वृत्तौ प्रथमस्थंभे द्वितीयं व्याख्यानम् ॥ २ ॥

व्याख्यान ३

समकित प्राप्ति के दो हेतु।

तीर्थकृत्प्रोक्ततत्त्वेषु, रुचि सम्यक्त्वमुच्यते।
लभ्यते तत्स्वभावेन, गुरूपदेशतोऽथवा ॥१॥

भावार्थः—तीर्थंकरद्वारा कहे गये तत्त्वों के विषय में रुचि-श्रद्धा रखना सम्यकत्व-समकित कहलाता है। वह समकित स्वभाव से अथवा गुरु के उपदेश से दो प्रकार से प्राप्त हो सकता है।

तीर्थंकरने नो तत्त्व बतलाये हैं उनमें रुचि-श्रद्धा होना समकित अर्थात् सम्यक्श्रद्धा कहलाता है। श्रद्धा विना केवलज्ञान मात्र से ही फलसिद्धि नहीं हो सकती। तत्त्वज्ञ भी यदि श्रद्धारहित हो तो वे भी आत्महित लक्षणफल को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। श्रुतज्ञान के धारक होनेपर भी अंगारमर्दक आचार्य जैसे अभव्य और दूसरे दूरभव्य प्राणी जगत के निष्कारण वत्सल ऐसे जिनेश्वर के कहे तत्त्वोंपर श्रद्धारहित होनेसे शास्त्रोक्त तथाप्रकार के आत्महितरूप फल को प्राप्त नहीं कर सके ऐसा शास्त्रोंसे जाना जाता है।

समकित दो प्रकार से प्राप्त हो सकता है। एक स्वभाव से और दूसरा गुरु के उपदेशसे। स्वभावसे अर्थात् गुरु आदि के उपदेश की अपेक्षारहित स्वाभाविक क्षयोपशम से प्राप्त होता है और उपदेश अर्थात् गुरुद्वारा कहे गये धर्मोपदेश के श्रवण करने से प्राप्त होता है।

इस अनादिकाल से चले आते संसाररूपी सागर में पड़ा हुआ प्राणी भव्यत्व के परिपाक के कारण पर्वत परसे नदी में पड़े हुए पत्थर[1] के समान यथाभोगपन से यथाप्र-

१ वह पत्थर लुडकता हुआ गोल आकार का हो जाता है।

वृत्तिकरण करता है। अध्यवसाय विशेषरूप से यथाप्रवृत्तिकरण से एक आयुकर्म विना दूसरे ज्ञानावरणादिक सात कर्मों को पल्योपम के असंख्यातवे भाग से न्यून ऐसे एक सागरोपम कोटाकोटी की स्थितिवाला बना देता है। यहां से जीव को कर्म से उत्पन्न हुए अत्यन्त विषम रागद्वेष के परिणामस्वरूप कर्कश एवं दुर्भेदी ग्रंथि प्राप्त होती है। इस ग्रंथि तक अभव्य जीव अनंतीवार आते हैं और उनको यथाप्रवृत्तिकरण के कारण ग्रंथिप्रदेश प्राप्त होनेपर अरिहंत की विभूति के देखने से शुभ भाव में वर्तते हुए श्रुतसामायिक का लाभ प्राप्त होता है किन्तु दुसरा किसी भी प्रकार का आत्मिक लाभ नहीं होता। और उस ग्रन्थि को प्राप्त कर कोई भव्य प्राणी परम विशुद्धि से ग्रन्थि का भेद करने को अपूर्वकरण[1] करके मिथ्यात्व की स्थिति जो अंतः कोटाकोटी की है उसमें से अन्तर्मुहूर्त काल तक उसके दलिये प्रदेश से भी वेदना प्राप्त न हो ऐसा अन्तरकरण करता है। तीन करण का अनुक्रम इस प्रकार हैं:—

जा गंठी ता पढमं, गंठीसमच्छेयओ भवे बीअं।
अनियट्टीकरणं पुण, सम्मत्तपुरक्खडे जीवे ॥१॥

भावार्थः—ग्रंथि तक आवे तब प्रथम करण (यथा-

---

१ ये करण पहिले कभी भी नहीं करने से इसका नाम अपूर्वकरण हुआ।

प्रवृत्ति) होता है, ग्रंथि का छेद करे तक दूसरा करण (अपूर्व) होता है और वह जीव समकित के समीप पहुंचे अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्ति के समय तीसरा अनिवृत्तिकरण प्राप्त होता है।

यहां मिथ्यात्व की स्थिति के दो विभाग होते हैं। उसमें से पहले अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थिति को भोगकर दूसरी उपशमन की हुई स्थिति में अंतरकरण के प्रथम समय जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। कहा भी है कि:—

आन्तर्मौहूर्तिकं सम्यग्दर्शनं प्राप्नुवन्ति यत्।
निसर्गहेतुकमिदं, सम्यक्श्रद्धानमुच्यते ॥१॥

भावार्थः—मध्य के अन्तर्मुहूर्त में जो समकित प्राप्त होता है वह सम्यक् श्रद्धावाला निसर्ग समकित कहलाता है।

गुरुपदेशमालंब्य, प्रादुर्भवति देहिनाम्।
यत्तु सम्यग्श्रद्धानं, तत्स्यादधिगमजं परम्॥२॥

भावार्थः—गुरु के उपदेश को अवलंबन करने से (सुनने से) जो प्राणियों को सम्यक् श्रद्धा उत्पन्न होती है उसे अधिगमज नामका दूसरा समकित कहते हैं।

अधिगम समकित पर कृषीबल का दृष्टान्त[1]

१ यह दृष्टान्त संप्रदाय से चला आता है।

बलादपि श्राद्धजनस्य दीयते,
सद्दर्शनं सर्वसुखैकजन्मभूः ।
व्यदीधपद्वीराजिनस्तदुद्यमं,
श्रीगौतमेनापि न किं कृषीवले ॥ १ ॥

भावार्थः—श्रावक को बलात्कारपूर्वक भी सर्व सुखों का अद्वितीय कारणरूप समकित प्रदान किया जाता है। ऐसा उद्यम श्रीमहावीरस्वामीने श्रीगौतम गणधरद्वारा कृषीबल पर कराया था। जिसकी कथा इस प्रकार हैः—

एक समय जंगम (चलनेवाले) कल्पवृक्ष समान भगवान महावीरस्वामीने मार्ग में विहार करते हुए गौतम गणधर से कहा कि–हे वत्स ! जो ये समीप में (थोड़ीसी दूरी पर) ही कृषीबल दिखाई देता है उसको प्रतिबोध करने के लिये तू शीघ्रतया जा, क्योंकि उसको तेरे जानेसे बड़ा भारी लाभ होगा। यह सुनकर भगवान की आज्ञा शिरोधार्य कर वे उस कृषक के पास गये और बोले कि– हे भद्र ! तू कुशल तो है ? हे भाई ! ईस खेतीद्वारा अनेकों द्वीन्द्रिय आदि जीवों का वध कर क्यों वृथा पापों का उपार्जन करता है ? पापी कुटुम्ब के पोषण के लिये ऐसे कर्म करके तू तेरी आत्मा को अनर्थ में क्यों डालता है ? सुन—

संसारमावन्न परस्स अट्ठा,
साहारणं जं च करेइ कम्मं ।
कम्मस्स ते तस्स उवेयकाले,
न बंधवा बंधवयं उविंति ॥ १ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य संसार में आकर दुसरों के लिये अर्थात् कुटुम्बियों आदि के लिये खेती आदि साधारण कर्म करता है, उस मनुष्य को ही उन कर्मों का विपाक उदय होनेपर उसके फल स्वयं भोगने पड़ते हैं। उस समय उसके बाँधव उन फलों को भोगने के लिये नहीं आते हैं।

अतः हे भाई! तपस्या(चारित्र)रूपी वहाण का आश्रय लेकर इस भवसमुद्र को तैरने का प्रयत्न कर। इस प्रकार कहे हुए गौतमस्वामी के वचनामृत से आर्द्र हुआ वह कृषक बोला कि–हे स्वामी! में जाति से ब्राह्मण हूं। मेरे सात पुत्र हैं। उन सब के दुष्कर उदर की पूर्ति करने के लिये मैं अनेक पापकर्म करता हूँ। अब आजसे ही आप मेरे बन्धु एवं माता के समान हो। आप जो आज्ञा देगें मैं उसका पालन करुंगा। आपके वचनों की कभी अवहेलना नहीं करुंगा। यह सुनकर गौतमस्वामीने उसको साधुवेष दिया जिसको उसने तत्काल स्वीकृत किया। फिर उस कृषीबल साधु को साथ लेकर जब गौतमस्वामी प्रभु पास

जाने लगे तो वह बोला कि–हे पूज्य ! हमको कहां जाना है ? गौतमस्वामीने जवाब दिया कि–हमको अपने पूज्य गुरु के पास जाना है। यह सुनकर कृषक बोला कि–आप सुर असुर के भी पूज्य हैं फिर जब आपके भी पूज्यगुरु हैं तो फिर वे कैसे होगें ? इस पर गौतमस्वामीने कृषक को भगवान के गुण बतलाये जिनको सुनकर उसको शीघ्र ही समकित की प्राप्ति हो गई। आगे बढ़ने पर तीर्थंकर के अद्भुत अतिशयों की समृद्धि देखकर उसने समकित को विशेषतया दृढ़ किया। अन्त में जब परिवारसहित श्री-वीरस्वामी को उसने साक्षात् देखा तो उसके मन में प्रभु पर द्वेष हुआ। श्रीगौतमगणधरने उस कृषक को कहा कि–हे मुनि ! श्रीजिनेश्वर को वन्दना करो। तो उसने उत्तर दिया कि–हे महाराज ! जो ये आपके गुरु है तो मुझे इस प्रव्रज्या से कोई प्रयोजन नहीं, आप का शिष्य होना ही बस है। यह आप का वेष संभालिये, मैं तो मेरे घर जाउंगा। ऐसा कह कर उसने साधुवेष का त्याग कर मुठी बांध कर भग गया। उस समय उस कृषक की ऐसी चेष्टा देख कर इन्द्र आदि सब हँसते हँसते बोले कि–अहो ! गौतम गणधर को शिष्य तो बहुत अच्छा मिला। ऐसी अद्भुत स्थिति देख कर गौतम गणधरने लज्जित हो कर भगवान से उसके वैर का कारण पूछा। भगवानने कहा कि–हे वत्स गौतम ! इस कृषकने तुम्हारे अरिहंत के बताये गुणों का चिंतवन करने

से ग्रंथिभेद किया है जिस से तुम को तथा उसको बड़ा भारी लाभ हुआ है लेकिन अब मुझ को देख कर जो उस को द्वेष उत्पन्न हुआ है उसका कारण बतलाता हूँ सो ध्यानपूर्वक सुनिये—

पूर्व में मैं पोतनपुर नगर में प्रजापति राजा का पुत्र त्रिपृष्ठ वासुदेव था। उस समय तीन खंड का स्वामी अश्वग्रीव नामक प्रतिवासुदेव था। एक समय सभा में बैठे हुए अश्वग्रीव राजाने किसी निमित्तिये से अपने मरण के विषय में प्रश्न किया। तो उस निमित्तियेने उत्तर दिया कि-तुम्हारी मृत्यु त्रिपृष्ठ के हाथ से होगी। यह सुन कर अश्वग्रीव राजा त्रिपृष्ठ पर द्वेष रख कर निरन्तर उनके मारने का उपाय करने लगा, किन्तु उसके सब उपाय निष्फल हुए। उस अश्वग्रीव के पुरोद्यान में एक शालिक्षेत्र था उस में आकर एक सिंह निरन्तर अनेक मनुष्य का उपद्रव करता था, लेकिन उस सिंह को मारने में कोई समर्थ नहीं था। इस से उस शालिक्षेत्र की रक्षा के लिये अश्वग्रीवने अपने आधीन सब राजाओं को आज्ञा दी कि–बारी बारी से एक एक राजा उस क्षेत्र की रक्षा के लिये आते रहें। उस प्रकार आते आते एक बार प्रजापति राजा की बारी आई। उस समय त्रिपृष्ठ कुमारने अपने पिता को जाने से रोक कर वह स्वयं ही उस उपद्रव को रोकने के लिये केवल एक सारथी को ही साथ लेकर रथारूढ़ होकर वहां गया। शालिक्षेत्र

के समीप जाकर उसने सिंह को ललकारा। सिंह शीघ्र ही त्रिपृष्ठ पर गर्ज कर टूट पड़ा किन्तु त्रिपृष्ठने उसके दोनों होठों को पकड़ कर शुक्तिसंपुट की तरह चीर डाला। उस समय मरते हुए सिंहने अपनी खुद की निन्दा की कि- अहो ! मैं सिंह होते हुए भी एक मनुष्य मात्र के हाथ से ही मारा गया। उस को खेद प्रगट करते देख कर त्रिपृष्ठ के सारथीने उस को शान्त करने के लिये मधुर वाणी से कहा कि–हे सिंह ! ये कुमार वासुदेव होनेवाले हैं, इनको तू एक रंक मनुष्य न समझ। अरे तू तो नरेन्द्र के हाथ से मारा गया है, फिर शोक किस लिये करता है ? मनुष्य लोक में ये त्रिपृष्ठ कुमार ही एक सिंह है और तू तिर्यक योनी में उत्पन्न हुआ सिंह है। इस प्रकार के शान्ति-दायक शब्द सुन कर हर्षित हुए उस सिंहने समाधिपूर्वक मृत्यु प्राप्त की।

तत्पश्चात् उन त्रिपृष्ठ, सारथि और सिंह तीनों के जीव भवसागर में भ्रमण करते हुए इस समय में त्रिपृष्ठ का जीव तो मैं हुआ हूँ, सिंह का जीव वह कृषीबल हुआ है और सारथि का जीव तू इन्द्रभूति (गौतम) हुआ है। पूर्वभव में तूने मधुर वाणीद्वारा उसको प्रसन्न किया था और मैने मारा था, अतः इस भव में उसका तुम्हारे पर स्नेह है और मेरे पर द्वेष है। इसी प्रकार इस भव, नाटक में स्नेह और वैर का कारण समझना चाहिये किन्तु वह कृषक शुक्लपक्षी

हुआ है। अर्थात् जिस जीव के लिये अर्द्धपुद्गलपरावर्तन संसार शेष रहा हो उसे शुक्लपक्षी कहते हैं और जिसके उससे अधिक संसार शेष हो उसे कृष्णपक्षी कहते हैं।

इस प्रकार भगवंत के मुख से सुन कर कई प्राणियोंने समकित उपार्जन किया (समकित प्राप्त किया)

हे गौतम। तेरे से केवल दो घड़ी के लिये समकित पाया हुआ वह कृषक अर्द्ध पुद्गल परावर्तन के अन्दर मोक्षपद प्राप्त करेगा इसी लिये तेरे को उसे प्रतिबोध देने के लिये मैंने भेजा था। इस प्रकार उस कृषक का वृत्तान्त सुन कर इन्द्र आदि समकित में सुदृढ़ हुए। इसी प्रकार हे भव्य प्राणियों! तूमको भी चित में चिरकाल पर्यंत समकित को स्थिर करने का प्रयत्न करना चाहिये।

इत्यब्दिनपरिमितोपदेशप्रासादवृत्तौ प्रथमस्थंभे
तृतीयं व्याख्यानम् ॥ ३ ॥

व्याख्यान ४

समकित के तीन भेद।

समकित को ज्ञान चारित्र से भी अधिक कहा गया है जो इस प्रकार हैं:—

श्लाघ्यं हि चरणज्ञानवियुक्तमपि दर्शनम्।
न पुनर्ज्ञानचारित्रे, मिथ्यात्वविषदूषिते ॥ १ ॥

ज्ञानचारित्रहीनोऽपि, श्रूयते श्रेणिकः किल ।
सम्यग्दर्शनमाहात्म्यात्तीर्थकृत्त्वं प्रपत्स्यते ॥२॥

भावार्थः—ज्ञान और चारित्र रहित केवल समकित ही प्रशंसनीय है, परन्तु मिथ्यात्वरूपी विष से दूषित हुआ ज्ञान और चारित्र श्लाघ्य नहीं। देखिये ! श्रेणिक राजा के विषय में ऐसा सुना जाता है कि वे ज्ञान और चारित्रहीन थे किन्तु केवल सम्यक्दर्शन (समकित) के प्रभाव से वे तीर्थंकर होनेवाले हैं क्यों कि उन्होने तीर्थंकरनामकर्म बांधा है।

यहां पर यदि किसी को यह शंका हो कि श्रेणिक राजाने तीन प्रकार के समकित में से किस समकित द्वारा तीर्थंकरनामकर्म उपार्जन किया है तो उसके उत्तर में कहता है कि सम्यक्त्व तीन प्रकार के हैं–औपशमिक, क्षयोपशमिक और क्षायिक। उनमें से भस्म से आच्छादित अग्नि सदृश मिथ्यात्व मोहनी और अनंतानुबंधिनी चोकड़ी (क्रोध, मान, माया और लोभ) के उपशम से जो प्राप्त होता है उसको औपशमिक सम्यक्त्व कहतें हैं। यह समकित अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को पूर्वकरण करने से अन्तर्मुहूर्त्त की स्थितिवाला होता है अथवाय ह समकित उपशमश्रेणि पर आरूढ़ होनेवाले मुनि को उपशांत मोह नाम के अठारवें गुणस्थान पर प्राप्त होता है। इस विषय में श्रीजिनभद्रगणि महाराज का महाभाष्य में कहना है कि—

उवसामगम्मि सेढिगयस्स होइ
उवसमिअं तु सम्मत्तं ।
जो वा अकयतिपुंजो अखविय–
मिच्छो लहइ सम्मं ॥ १ ॥

भावार्थः—उपशमश्रेणि पर आरूढ होनेवाले को औपशमिक समकित प्राप्त होता है अथवा जिसने तीन पुंज नहीं किये हो और मिथ्यात्व नहीं खपाया हो उसको यह समकित प्राप्त होता है ।

मिथ्यात्व मोहनी तथा अनंतानुबंधी कषाय की चोकडी इसमें उदय हुई हो तो उसका देश से निर्मूल नाश कर डालती है और उपशम दोनों से युक्त जो समकित है उसको क्षयोपशमिक कहते हैं । इस समकित की बासठ सागरोपम की स्थिति बतलाई गई है ।

तीसरा क्षायिक समकित है अर्थात् जिसमें समकित मोहनी, मिथ्यात्व मोहनी और मिश्रमोहनी तथा अनन्तानुबंधी चार कषाय इन सात प्रकृति का निर्मूल नाश हो जाता है । यह क्षायिक समकित आदि अनन्त स्थितिवाला होता है क्योंकि यह आने पर फिर वापस नहीं जाता । इस क्षायिक समकित के प्रभाव से ही श्रेणिक राजाने तीर्थंकरनामकर्म का उपार्जन किया । इस विषय में कहा है किः—

न सेणिओ आसि तया बहुस्सुओ,
न वा य पन्नत्तिधरो न वा युओ ।
सो आगमिस्साइ जिणो भविस्सइ,
सम्मिरकपन्नाइ वरं खु दंसणं ॥ १ ॥

भावार्थः—श्रेणिक राजा नहीं तो बहुश्रुत ही थे, न प्रज्ञप्ति के धारक ही तिस पर भी वे आनेवाली चोवीशी में तीर्थंकर होनेवाले हैं इससे यह स्पष्ट है कि तत्त्वप्रज्ञावाला समकित ही श्रेष्ठ है । इस श्लोक का भावार्थ इसके दृष्टान्त से प्रत्यक्ष है—

दृढ़ समकित पर श्रेणिक राजा का दृष्टान्त ।

राजगृही नगरी में श्रेणिक राजा राज्य करता था । उस नगरी के बाहर गुणशील नामक मंदिर में एक समय जगतस्वामी श्रीमहावीर प्रभु विराजे । उस समय चेलणा रानी को लेकर श्रेणिक राजा एक बृहत् सेना से सुसज्जित हो प्रभु को वन्दना करने के लिये गया । जिनेश्वर को वन्दना कर वह योग्य स्थान पर बैठ गया । उस समय उसने किसी कोढ़ी को उसके कोढ़ का रस लेकर प्रभु के पैरों पर लगाते हुए देखा । इस अयुक्त कार्य को देख कर राजा उस कोढ़ी पर क्रोधित हुआ । उस समय प्रभु को छींक आई तब वह कुष्ठी बोला कि " मरो " । थोड़ी देर बाद राजा को छींक

आई तब बोला कि " चिरकाल जीवो "। इस बीच में अभयकुमार को छींक आई तब वह बोला कि " मरो अथवा न मरो " इतने में कालसूकरिक नामक चांडाल को छींक आई तब वह बोला कि " म मर और म जीव "। इस प्रकार कुष्ठी के बोलने पर और भगवान को मरने का कहना सुन कर अधिक क्रोध से भरे हुए श्रेणिकने विचार किया कि–अहो ! यह कुष्ठी कैसा दुष्ट है ? इस को अवश्य दंड देना चाहिये। ऐसे शोच कर राजाने अपने सेवकों को हुक्म दिया कि–जैसे ही यह कुष्ठी समवसरण के बाहर निकले वैसे ही इस को पकड़ लेना। इस पर जब वह कुष्ठी बाहर निकला तब सेवक लोग उसको पकड़ने के लिये गये तो वह आकाश मार्ग में उड़ गया। तब सेवकोंने आ कर राजा से कहा कि–वह तो कोई देवता था इस से आकाश-मार्ग में चला गया। यह सुन कर राजाने प्रभु से पूछा कि–हे भगवन् ! वह कुष्ठी कौन था और उसने ऐसी चेष्टा क्यों की ? प्रभुने जवाब दिया कि–हे राजा ! वह कुष्ठी मनुष्य नहीं था परन्तु वह तो दुर्दुरांक नामक देव था। उसने तो बावना चन्दन द्वारा मेरे चरणों की पूजा की है किन्तु दैवी माया से तुम को कुष्ठ की भ्रांति हो गई थी। राजाने फिर पूछा कि–हे स्वामी ! वह देवता कैसे हुआ ? तब तीर्थपतिने उत्तर दिया कि —

कोशांबीपुरी में सेडुक नामक एक ब्राह्मण रहता था।

वह वहां के स्थानिक राजा की सेवा किया करता था। एक समय राजाने प्रसन्न हो कर उसको वरदान मांगने को कहा तब उस ब्राह्मणने अपनी स्त्री से मंत्रणा कर राजा से वरदान मांगा कि–हे राजा ! मुझे इस नगरी में हमेशा मिष्टान्न भोजन व ऊपर एक मोहर दक्षिणा मिलती रहे ऐसा प्रबन्ध कर दीजिये। यह सुन कर राजाने कुछ हँस कर उसी प्रकार प्रबन्ध कर दिया। फिर वह ब्राह्मण सदैव भिन्न भिन्न घर पर भोजन करने लगा परन्तु दक्षिणा के लोभ से किये हुए भोजन का वमन कर वह एक से अधिक घर पर भोजन करने को जाने लगा, इस से उसको कुछ समय में कुष्ठ रोगने आ दबाया। यह देख कर राजा तथा उसके कुटुम्बी जनोंने उसको बहुत कुछ बुरा भला कहा इस से वह कुष्ठी क्रोधायमान हुआ। उसने एक बकरा मंगवाया और उसको उसके कुष्ठ के रस से भीगो भीगो कर घास आदि खिलाने लगा। जिस से उन बकरे का खून आदि सब कुष्ठमय हो गया। फिर उस ब्राह्मणने एक दिन उसके पुत्र आदि कुटुम्बियों को कहा कि–हमारे कुल की ऐसी रीति है कि जब कोई वृद्ध होता है तो वह उसके खुद के पुत्र आदि को एक बकरे के मांस का भोजन कराकर फिर वह तीर्थगमन करता है, अतः तुम सब इस बकरे का मांस खाओ और मुझे जाने की आज्ञा दो। यह सुन कर पुत्र आदिने उसकी आज्ञा स्वीकार की अर्थात् उन सब को

उस बकरे का मांस खिला कर उन सब को कुष्ठी बना कर वह ब्राह्मण रात्रि के समय घर में से निकल कर भग गया। वन में भ्रमण करते हुए विविध प्रकार की औषधियों के मूल से बहते हुए पानी से भरे एक सीते का पानी पीने से उनकी व्याधि का नाश हो गया सो वह पीछा उसके घर को गया और उसके पुत्रों से कहा कि–तुमने मेरा अपमान किया था जिस से तुम को उसका यह फल मिल गया और में व्याधि रहित हो गया हूँ। यह सब वृत्तान्त सुन कर पुरवासियोंने उस ब्राह्मण को निन्दित कर वहां से निकाल दिया। वह वहां से चल कर राजगृह नगर को आया और द्वार आ कर बैठ रहा। इस बीच मेरा जब यहां समवसरण हुआ तब मुझ को वन्दना करने का उत्सुक द्वारपाल उस सेडुक ब्राह्मण को दरवाजे पर चोकी देने को रख कर समवसरण में आया। पिछे से उस ब्राह्मणने पुरदेव के पास जो बड़ा, पक्कान्न आदि अनेकों नैवेद्य पुरजनोंने रखे थे उनको खूब ठोंस ठोंस कर खाया और बाद में अत्यन्त तृषा से आतुर हो कर वह पानी पानी चिल्लाता हुआ मृत्यु को प्राप्त कर उसी दरवाजे के पास एक बाव में मेढ़क हुआ।

एक बार फिर हमारा समवसरण इसी स्थान पर हुआ, उस समय मेरा वंदन करने की उत्कंठावाली पानी भरने-वाली स्त्रियों के मुख से हमारा आगमन सुन कर उस मेंढ़क

को जातिस्मरण ज्ञान हुआ, इससे वह मेंढ़क मुझ को वंदना करने निमित्त बाव में से बाहर निकल कर मार्ग में कूदता कूदता आ रहा था उस समय तुम भी उसी रास्ते से यहां आरहे थे, अतः तुम्हारे घोड़े के पैर के नीचे कुचला जाकर वह मेंढ़क मेरे ध्यान में मरण पाकर सौधर्म देवलोकमें दर्दुरांक नामक देवता हुआ।

वह देव आज इन्द्रद्वारा खुद की सभा में की गई तुम्हारी समकित की प्रशंसा सुन कर उस पर श्रद्धा नहीं होने से तुम्हारी परीक्षा करने को यहां आया था और उसने कुष्ठ के बहाने गोशीर्षचन्दन द्वारा हमारी भक्ति की है।

इस प्रकार उस देवता का वृत्तान्त सुन कर श्रेणिक राजाने फिर से प्रभु से प्रश्न किया कि–हे भगवन्! उस देवताने जब आपको छींक आई तो मरने का, मुझे चिरकाल जीने का, अभयकुमार को जीना अथवा मरना, और काल-सौकरिक को म मर और म जीव ऐसा क्यों कहा? जिनेश्वर ने उत्तर दिया कि–हे राजा! उस देवने भक्ति के राग से मुझ को ऐसा कहा कि हे स्वामी! तुम समग्र कर्मों का क्षय करके जन्म जरा मरण आदि से रहित स्वाभाविक सुखवाले मोक्षपद को जल्दी प्राप्त करो। तुमको इस हेतु से कहा कि–तुम जीते हो तब तक राज्यसुख का अनुभव करते हो परन्तु मरने के पश्चात् घोर नरक में जानेवाले हो अतः बहुत

समय तक जीते रहो। तथा अभयकुमार मंत्री को जो कहा वह इस कारण से कहा कि–वह जीते हुए तो यहां सुख भोगता है और मरने पर सर्वार्थसिद्ध विमान में देवता होने-वाला है इस लिये मरो चाहे जीवो ऐसा कहा और काल-सौकरिक को इस अभिप्राय से कहा कि–वह यहाँ जिन्दा रहने की दशा में पांचसो पाड़ों का सदैव वध करता है और मरने पर घोर नरक में जानेवाला है इस लिये उसको जीने तथा मरने दोनों दशाओं में कोई लाभ नहीं होने से म मर म जीव कहा।

यह सर्व हालत सुन कर राजा आश्चर्य से भरा हुआ फिर जिनेश्वर को बन्दना कर बोला कि–हे स्वामी! मेरी नरकगति नहीं हो इस लिये उसके निवारण का उपाय बत-लाइये। प्रभुने उत्तर दिया कि–पहिले मिथ्यात्वपन में जो नारकी का आयुष्य बांधा है उसको तो तुझे अवश्य ही भोगना पड़ेगा–उसकी दूसरी कोई भी प्रतिक्रिया नहीं है। इस प्रकार कहने पर भी श्रेणिक के अधिक आग्रह करने पर उसको बोध देनेके लिये प्रभुने कहा कि–हे राजा! तूं तेरी कपिला नामक दासी के साथ से मुनि को दान दिलावे अथवा सदैव पांचसो पशु के वध करनेवाले कालसौकरिक को एकदिन के लिये हिंसा कर्म करने से रोके तो दुर्गति में जाने से बच सकता है। इसको सुन कर राजाने यह सोच कर कहा कि–यह कार्य तो मेरे अधीन ही है। बाद अपने नगर की ओर चला गया।

मार्ग में दर्दुरांक देवने राजाकी परीक्षा करने के लिये नदी में जाल फैला कर मच्छी पकड़ते हुए एक मुनि का रूप दिखलाया। फिर वह मुनि मत्स्य का मांस खाता हुआ दृष्टिगोचर हुआ। इस पर राजाने उससे कहा–साधु! यह दुष्कर्म करना छोड़ दे। तो वह साधु बोला कि–मैं अकेला ही ऐसा नहीं कार्य करता हूँ किन्तु महावीरस्वामी के सर्व शिष्य मेरे ही समान हैं। यह सुन कर श्रेणिकने उससे कहा कि–अरे! तेरे ही ऐसा हीन भाग्य है वरन् वीरपरमात्मा के शिष्य तो गंगाजल के समान पवित्र–पुण्य स्वरूप है। इस प्रकार उसकी निर्भत्स्ना कर राजाने ज्योहि नगरी में प्रवेश किया कि उसने एक युवान साध्वी का रूप देखा। उस साध्वीने हाथ पैरों पर अलता का रस लगाया हुआ था, यथायोग्य सर्व अलंकार अंग पर धारण किये हुए थे, नेत्रों में काजल लगाया हुआ था, मुह में पान खाया हुआ था और गर्भवती थी। उसको देख कर राजाने कहा कि–हे भली साध्वी! ऐसा शासन विरुद्ध आचरण क्यों करती हो? इस पर उसने उत्तर दिया कि–मैं एकेली ही ऐसी नही हूँ परन्तु सर्व साध्वियें ऐसी ही है। यह सुन कर राजाने कहा कि–हे पापिनी! तेरा ही ऐसा अभाग्य है कि जिससे ऐसा विरुद्ध आचरण करती है और बोलती है। इस प्रकार उसका तिरस्कार कर राजा आगे बढ़ा। इतने में उस देवताने अपना दिव्य स्वरूप प्रकट कर राजा को प्रणाम कर कहा कि–हे

राजन् ! आपको धन्य है। इन्द्रने आपकी जैसी प्रशंसा की है मैंने उसी प्रकार आपको पाया है। जिस प्रकार समुद्र अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ता है उसी प्रकार आप भी अपने सम्यक्त्व की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते, आदि वचनों से स्तुति कर वह देव राजा को एक दैवी हार तथा दो क्षौम वस्त्र भेट कर अदृश्य हो गया।

राजाने अपने महल में आ कर कपिला दासी को बुला कर कहा कि–तू मुनि को तेरे हाथ से दान दे। उसने उत्तर दिया कि हे–स्वामी ! मुझे ऐसी आज्ञा न दीजिये, मैं दान नहीं दे सकती। आप हुक्म देवें तो मैं अग्नि में कूद पड़ूँ, विष पान करूँ, परन्तु यह कार्य मुझ से नहीं हो सकता। उसके ऐसे वचन को सुन कर कालसौकरिक को बुला कर उसे कहा कि–तू केवल एक दिन के लिये ही पाड़े का वध करना त्याग दे। उसने उत्तर दिया कि–हे स्वामी ! मैं जो जन्म से प्रत्येक दिन पांचसो जीवों का वध करता हूँ उस से मैं नहीं छोड़ सकता। मेरे आयुष्य का अधिक भाग व्यतीत हो चुका है, अब थोड़ा सा शेष रहा है, अतः अब उस थोड़े से जीवन के लिये प्राणी वध क्यों छोड़ूँ ? और किस प्रकार छोड़ूँ ? बड़े समुद्र को पार कर अब छोटे से सोते में कौन डूबे ? यह सुन कर राजाने हँसते हुए उस को एक अंध कूप में डाल दिया। दूसरे दिन प्रातःकाल में राजा प्रभु के पास जा कर उनको वन्दना कर बोला कि–

हे प्रभु ! मैने कालसौकरिक को पाड़े का वध करने से एक दिन के लिये रोक दिया है। इस पर प्रभुने उत्तर दिया कि–उस कालसौकरिकने तो कुए में रहते हुए भी मिट्टी के पांच सो पाड़े बना कर उनका वध किया है। यह सुन कर राजाने जिनेश्वर से कहा कि–हे नाथ ! कृपानिधि मैं आप जैसे का शरण छोड़ कर अब किस की शरण में जाउँ ? जिनेन्द्र बोले कि–हे वत्स! खेद न कर, तू समकित के प्रभाव से इस भव से तीसरे भव में मेरा जैसा पद्मनाभ तीर्थंकर होनेवाला है। (इस स्थान पर बहुत अधिक विस्तार है जिस का वर्णन उपदेशकंदली नामक ग्रन्थमें से पढ़िये)। यह सुन कर हर्षित हो अपने नगर में आकर श्रेणिक राजा निरंतर धर्मकृत्यों करने लगे। वह तीनों काल जिनेश्वर की पूजा करते और हमेशा जिनेश्वर के सन्मुख एक सो आठ स्वर्ण के चावलकणों से साथिया बनाता परन्तु स्वयंभूरमण समुद्र के मत्स्य भक्षण करने के त्याग जितना भी वह नियम नहीं ले सकता था। ऐसा विरति रहित होने पर भी क्षायिक समकित के बल से वह बहोतर वर्ष की आयुष्यवाला, सात हाथ ऊँचा और श्रीमहावीर के समान ही आनेवाली चोवीसी में प्रथम तीर्थंकर होगा।

श्रेणिक राजा का जीव पहली नरक में चोराशी हजार

वर्ष की आयुष्य भोग कर शुभ भाव के कारण क्षायिक समकित के प्रभाव से तीर्थंकरपन को प्राप्त होगा।

इत्यब्ददिनपरिमितोपदेशप्रासादग्रन्थस्य वृत्तौ प्रथमस्थंभे चतुर्थं व्याख्यानम् ॥ ४ ॥

व्याख्यान ५

समकित के सड़सठ भेदों में से पहले चार श्रद्धा के भेद में से परमार्थसंस्तव नामक प्रथम श्रद्धा का स्वरूप–

जीवाजीवादितत्त्वानां, सदादिसप्तभिः पदैः।
शश्वत्तच्चिन्तनं चित्ते, सा श्रद्धा प्रथमा भवेत् ॥१॥

भावार्थः—जीव, अजीव आदि तत्त्वों का सत् आदि सात पदोंद्वारा चित्त में निरन्तर चिंतवन करना प्रथम श्रद्धा कहलाता हैं।

प्राणों के धारण करनेवाले को जीव कहते हैं और उसके विपरीत प्राण रहित को अजीव कहते हैं। मूल श्लोक में जीव, अजीव आदि तत्त्व ऐसा कहा गया हैं इस लिये आदि शब्द से पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ए सात तत्त्व समझना चाहिये। उन तत्त्वों का छतापणुं, संख्या, क्षेत्रस्पर्श, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन सात

स्थानोंद्वारा निरन्तर मन में चिन्तवन करना परमार्थसंस्तव नामक समकित की पहली श्रद्धा कहलाती हैं। इसका दूसरा नाम परमरहस्य परिचयपन भी कहा गया है।

अंगारमर्दक आचार्य आदि को भी परमार्थसंस्तव आदि का तो संभव है ऐसी यदि कोई शंका करे तो वह शंका करने योग्य नहीं है; क्यों कि इस श्रद्धा में केवल तात्त्विक श्रद्धा-वाले को ही अधिकारी गिना गया है और अंगारमर्दक जैसे मिथ्यात्वी में तात्त्विक श्रद्धा का बिलकुल संभव नहीं था। इस पहली श्रद्धा पर अभयकुमार का दृष्टान्त उपलभ्य है—

अभयकुमार का दृष्टान्त

औत्पत्त्यादिधियां सद्म, अभयो मंत्रिणां वरः।
तत्त्वपरिचयादाप, सर्वार्थसिद्धिकं सुखम्॥ १॥

भावार्थः—औत्पातकी आदि बुद्धि के स्थापनरूप मंत्रिवर अभयकुमारने तत्त्व के परिचय से सर्वार्थसिद्धि का सुख प्राप्त किया।

राजगृह नगर में प्रसेनजित राजा राज्य करता था। उसके श्रेणिक आदि सो पुत्र थे। एक समय राजाने यह जानने के लिये कि राज्य के योग्य कौनसा कुमार हैं? उन सबको एक एक खीर का थाल देकर एक साथ भोजन करने को बिठाये। फिर जब उन्होंने भोजन करना आरम्भ किया

तो राजाने अत्यन्त भूखे कुत्तों को उनकी तरफ छोड़ा। उन कुत्तों को आते हुए देख कर एक श्रेणिक के अतिरिक्त अन्य सब कुमार बिना भोजन किये ही खीर से भरे हुए हाथों सहित दौड़े। श्रेणिक कुमारने तो ज्यों ज्यों कुत्ते नजदिक आने लगे त्यों त्यों अपने भाइयों के थाल उनको देता देता अपने थाल की खीर खाने लगा। इस प्रकार उसने पूरा भोजन किया। इस वृत्तान्त को सुनकर राजाने अपने निन्नानवें कुमारों की प्रशंसा की और श्रेणिक की निन्दा करते हुए उसको कहा कि–तूने कुत्तों के साथ भोजन किया इस लिये तुझको धिक्कार हैं।

एक समय और परीक्षा करने के लिये खाजा, लड्डु आदि एक टोकरे में भर कर, उसका ढ़क्कन बंद कर उस पर सील (Seal) लगाई तथा मिट्टी के कोरे घड़े में पानी भर कर उस पर भी (Seal) किया। फिर उन टोकरों और उन घड़ों को कुमारों को देकर राजाने कहा कि–तुम इन सीलों (Seals) को बिना तोड़े टोकरों में से पकवान खाओ और घड़ों में से पानी पीवो। ऐसा कह कर उनको ऐकान्त स्थल में रखा। सर्व कुमारों को भूख लगी किन्तु उनके खाने का कोई उपाय नहीं सूझ पड़ा। यह देख कर श्रेणिकने टोकरों को हिला हिला कर उनकी वांस की सलियों के छिद्रों में से पक्वान्न का भूका निकाल कर तथा घड़ो पर कपड़े डाल कर भीगें हुए वस्त्रों को निचोड़ निचोड़ कर

सर्व कुमारों को तृप्त किये। यह हकीकत सुन कर राजा श्रेणिक की बुद्धि से अन्तःकरण में प्रसन्न हुए किन्तु उझरी मन से निन्दा की कि पक्वान्न का भूका कर राख की तरह खाया उसकी बुद्धि राख के समान ही समझना।

एक वार राजमहलों में अग्नि लगी उस समय राजाने कुमारों को आज्ञा दी कि–जिन से जो चिज़ ले जाई जा सके ले जाओ। यह सुन कर सब कुमार मणि, माणिक्य आदि जवाहीर ले आये किन्तु श्रेणिकने राजा के जय के प्रथम चिन्हरूप भंभा को लिया। यह सुन कर भी राजाने श्रेणिक की निन्दा की और उस का भंभसार नाम रक्खा।

तत्पश्चात् राजाने श्रेणिक के अतिरिक्त अन्य कुमारों को भिन्न भिन्न देश दिये किन्तु श्रेणिक को कुछ भी नहीं दिया। इस से श्रेणिक अपमानित होने से गुप्तरूप से नगरी से चला गया। अनुक्रम से वह चलते चलते बेनातट नगर में पहुँचा। उस नगर में प्रवेश कर श्रेणिक किसी भद्र नामक श्रेष्ठी की दुकान पर बैठ गया। उस दिन श्रेणिक के पुण्य प्रभाव से उस श्रेष्ठी को व्यौपार में बहुत लाभ हुआ। इस लिये उसने श्रेणिक से पूछा कि–हे पुण्यनिधि! आज आप किस के यहां अतिथि होगें? श्रेणिकने हँसी में ही उत्तर दिया कि–आप के यहाँ ही। यह सुनकर श्रेष्ठीने अत्यन्त प्रसन्न हो कर विचार किया कि–आज जो मैंने मेरे स्वप्न में मेरी पुत्री

के लिये योग्य वर देखा था वो ही यह जान पड़ता है इस लिये बहुत ही अच्छा हुआ। यह विचार कर श्रेष्ठीने अपनी दुकान बंद कर श्रेणिक को उसके साथ उसके घर पर ले गया। वहाँ गौरव के योग्य श्रेणिक की उसने भोजनादिक से अच्छी महमानदारी की। फिर अपने कुटुम्बीजनों को बुला कर श्रेष्ठीने बड़े भारी महोत्सव सहित विधिपूर्वक उसकी पुत्री सुनंदा का विवाह श्रेणिक के साथ कर दिया। श्रेणिक उसके साथ प्रीतिपूर्वक क्रीडा करने लगा। कुछ समय बाद सुनन्दा गर्भवती हुई। उस समय जिनपूजा करना, हाथी पर बैठना और अहिंसा का पटह (अमारी पड़ह) बजवाना आदि उसको उत्पन्न हुए दोहदों को श्रेणिकने पूर्ण किये।

इस ओर राजगृह नगरी में प्रसेनजित राजा श्रेणिक के चले जाने से अत्यन्त दुखी हो कर उसकी खोज करने लगा। किसी आये हुए सार्थ के मुख से उसने सुना कि– श्रेणिक बेनातट नगर में हैं। इस बीच प्रसेनजित राजा को आयुष्य का अन्त करनेवाली व्याधि उत्पन्न हुई ईससे अपनी मृत्यु समीप आई जानकर उसने श्रेणिक को शीघ्रतया बुलाने के लिये राजसेवकों कों ऊँट पर बिठा कर बेनातट की ओर भेजे। उन्होंने श्रेणिक के पास पहुँच कर उसको राजा की अन्तस्थिति कही, जिसको सुनकर श्रेणिकने सुनंदा से कहा कि–हे प्रिया! मैं मेरा पिता के पास जाता

हूँ, तुम्हारा तो अभी यहीं पर रखना उचित है इसे यहीं पर रहो। यदि तुम्हारे इस गर्भ से पुत्र उत्पन्न हो तो उसका नाम अभय रखना। यह सुन कर सुनन्दाने कहा कि-जब वह पुत्र आठ वरस की आयु का हो और मुझे उसके पिता का पत्ता पूछे तब मैं क्या उत्तर दूँ? यह सुन कर श्रेणिकने खड़िया (Chalk) से भारवट पर इस प्रकार अक्षर लिखे कि:—

"राजगृहे पालिगाम गोवालि धवले टोडे घर कहीया"

राजगृह नगर में उस गांव के गवाल (राजा) हम हैं और उज्वल टोडावाले (राजमहल) हमारा घर है इस प्रकार कहना।

इस विषय में धर्मोपदेशमाला में निम्न लिखित श्लोक है:—

गोपालकाः पाण्डुरकुड्यवन्तो,
वयं पुरे राजगृहे वसामः।
आह्वानमंत्रप्रतिमानितीमान्,
वर्णान् लिखित्वार्पयति स्म चास्यै ॥१॥

भावार्थ—गो का पालन करनेवाले और श्वेतवर्ण की

१ पृथ्वी का पालन करनेवाला राजा, दूसरा अर्थ गाय का पालन करनेवाला ग्वाल।

दिवारोंवाले राजगृहपुर में मैं रहता हूँ। इस प्रकार पुत्र को आवाहन करने को (बुलाने को) मंत्र के समान अक्षर लिख कर श्रेणिकने सुनन्दा को दिये।

तत्पश्चात् प्रियाको युक्ति प्रयुक्ति से समजा बुझा कर, उसकी स्वीकृति लेकर श्रेणिक राजगृह नगर में आया और पिता के चरणकमलों में पड़ कर नमस्कार किया। उसको आया हुआ जानकर राजाने हर्ष के अश्रुजल सहित स्वर्ण कलश के जलसे महोत्सवपूर्वक उसका राज्याभिषेक किया। बाद में राजाने तपस्या अंगीकार की और अनुक्रम से देव-लोक को प्राप्त किया।

श्रेणिकने राजा होने के बाद परीक्षा कर करके चारसो नवाणु मंत्री बनाये। उसके बाद उन सब से ऊपर प्रधान के रूप में दूसरे के मन की बात को जान सके ऐसा मंत्री बनाने की इच्छा से उसकी परीक्षा करने के लिये राजाने खुद की उर्मिका(Ring) एक जल रहित कुए में डालकर यह घोषणा कराई कि इस अंगुठी को जो कोई पुरुष कुए के ऊपर खड़ा रहकर अपने हाथ द्वारा ले लेगा वह ही सब मंत्रियों में अग्रसर (मुख्य) मंत्री होगा। यह सुन कर सब मंत्रिगण तथा अन्य अनेक विचक्षण पुरुष उस कुए के समीप आकर उस मुद्रिका को लेने का प्रयास करने लगे किन्तु सब निराश होकर खाली हाथों वापीस लौटे।

इस तरफ बेनातट में सुनन्दा के गर्भकाल के पूर्ण होने पर एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ जिसका नाम अभयकुमार रक्खा गया। वह कुमार अनुक्रम से बड़ा हुआ। उसको पाठशाला में विद्याध्ययन के लिये रक्खा गया। वहां वह सर्व कलाओं में निपुण हुआ। एक दिन उसके साथ पढ़नेवाले विद्यार्थियों से उसका झगडा हुअ जिसमें उन लड़कोंने उसको बिना बापका लडका होना कह कर हँसी उड़ाई। यह सुन कर अभय को बड़ा खेद हुआ। वह शीघ्र ही उसकी माता के पास पहुँचा और प्रश्न किया कि–हे माता! मेरे पिता कौन हैं? और कहाँ पर हैं? सुनन्दा ने कहा कि–हे वत्स! मैं नहीं जानती। किसी परदेशी मेरे साथ विवाह कर कुछ समय तक यहां रह कर चला गया परन्तु जाते समय उसने यहाँ भारवट पर कुछ अक्षर जरूर लिखे है। यह सुन कर अभयकुमारने भारवट के अक्षरों पढ़ कर पितास्वरूप जान माता से कहा कि–हे माता! मेरे पिता तो राजगृह नगरी के राजा हैं, अतः अब हमको वहां जाना चाहिये। फिर भद्र श्रेष्ठी की अनुमति लेकर अभयकुमार उसकी माता को साथ लेकर राजगृह नगर के उद्यान में आया। वहां सुनन्दा को बिठा कर अभयकुमारने गांव में प्रवेश किया। उपरोक्त कुए के समीप आने पर बहुत से लोगों को वहां एकत्रित हुए देख कर अभयकुमारने पूछा कि–यहां इतने लोग क्यों एकत्रित हो रहे है? तब उन्होंने उसको मुद्रा का वृत्तान्त

सुनाया। यह सुनकर कुमारने उत्तर दिया कि-यह बात दुष्कर नहीं हैं, शीघ्र ही हो सकती है। यह कर उसने एक छाणे का पिंड (cow dung) उस मुद्रिका पर डाला, जिससे वह मुद्रिका उस पिंडे में चिपक गई। फिर जब वह कन्डा सुख गया तब उस जल रहित कुए को जल से भर दिया जिस से वह सुखा कन्डा मुद्रिका सहित तैर कर ऊपर आ गया। अभयकुमार ने उसको अपने हाथ से निकाल लिया और उसमें चिपकी हुई अंगुठी को उखेड़ कर राजा के पास भेजा। यह वृत्तान्त सुन कर हर्षित हुआ राजा श्रेणिक स्वयं ही कुए पर आया और कुमार को देख कर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। राजाने कुमार को आलिंगन कर पूछा कि-हे वत्स! तू किस ग्राम से आ रहा हैं? और क्या तू इसी ग्राम में रहता हैं? कुमारने प्रणाम कर उत्तर दिया कि-हे स्वामी! मैं बेनातट नाम के पुर में से आज ही यहां आया हूँ। राजाने पूछा कि-वहां पर धन नामक श्रेष्ठी रहता हैं जिसके सुनन्दा नामक एक पुत्री हैं। क्या तू उसका कुछ वृत्तान्त जानता है? कुमारने उत्तर दिया कि-हाँ, उसके एक पुत्र उत्पन्न हुए हैं जिस का नाम अभयकुमार रक्खा है। वह कुमार रूप, गुण में एवं आयु में मेरे ही समान हैं। हे स्वामी! मुझे देख कर यही समझीये कि मानो उसीको देखा हो। उसके साथ मेरा प्रगाढ़ स्नेह हैं, उसके बिना मैं एक क्षण भी विलग नहीं रह सकता। राजाने प्रश्न किया कि-फिर इस समय उसको छोड़

कर तू यहां किस प्रकार आया ? कुमारने उत्तर दिया कि-उसको और उसकी माता को यहीं समीपवृति उद्यान में ही ठहरा कर मैं आया हुँ। यह सुनकर राजा उस कुमार के साथ उद्यान में गया और उसकी प्रिया सुनन्दा से मिला। राजाने सुनन्दा से पूछा कि-उस समय जो तुझे गर्भ था वह पुत्र कहां है ?

सुनन्दाने उत्तर दिया कि-हे प्राणनाथ ! यह जो आप के साथ आया हैं वह ही यह पुत्र है। यह सुनकर राजाने कुमार से कहा कि-हे वत्स ! तू मेरे सामने झूठ क्यों बोले ? उसने उत्तर दिया कि-मैं निरन्तर मेरी माता के हृदय में रहता हूँ इस से मैने वह उत्तर दिया था। यह सुनकर राजाने हर्षित होकर कुमार को अपनी गोद में बिठाया। तत्पश्चात् राजाने अति आनन्दपूर्वक ध्वज तोरण से शृंगारित राज-गृह नगर में सुनंदा का प्रवेश कराया और अभयकुमार को चार सो नवाणु मंत्रियों में प्रधान मंत्री का पद प्रदान किया। बाद में बुद्धिशाली अभयकुमार की सहायता से श्रेणिक राजाने अनेकों देशों को विजय किये (अपने आधीन किये)।

एक बार श्रीमहावीरस्वामीने राजगृह नगर के उप-वन में समवसरण किया जिनको वन्दना करने के लिये अभयकुमार गया। वहां अनेकों देव, देवी, साधु, साध्वी आदि से व्याप्त भगवान की पर्षदा में एक कृश गात्रवाले

शान्त महर्षि को देखकर कुमारने भगवान से पूछा कि–हे स्वामी ! यह महर्षि कौन है ? प्रभुने उत्तर दिया कि–ये वीतभयपतन के राजा नीतिमान उदायन हैं। ये राज्यावस्था में मुझे वंदना करने के लिये आये थे तब मैंने इन प्रकार धर्मोपदेशक दिया था कि–संध्या के रंग सदृश, पानी के बुदबुदे जैसा और दर्भ के अग्र भाग पर ठहरे हुए ओशबिन्दु के समान यह जीवन चंचल है और युवावस्था नदी के वहाव के समान वहती है तो फिर पापी जीव ! तुझे बोध क्यों नही होता ? अहो ! मुक्ति के सदृश सुख इस संसार में किसी भी स्थान पर उपलब्ध नहीं हो सकता है। इस विषय पर अंगारदाहक का दृष्टान्त देखने योग्य है सो सुनिये।

अंगारदाहक का दृष्टान्त

कोई एक अंगार (कोयला) का व्योपारी लकड़ी को जला कर उसके कोयले बनाने के लिये एक जल का भरा घड़ा लेकर वन में गया। वहां काम करते करते तृषा लगने से यह खुद ही पूरे घड़े का पानी पी गया परन्तु सिर पर सूर्य के प्रचण्ड ताप से तथा पास में कोयले बनाने के लिये जलाई हुई अग्नि के ताप से तथा लकड़ी के काटने के श्रम से अत्यन्त तृषा लगी इस से पानी नहीं मिलने से वह मूर्च्छा खाकर निद्रावश हो गया। निद्रा में उसको

स्वप्न आया जिस में वह उसके घर का पानी पी गया। फिर अनुक्रम से सरोवर, कुआ, नदी तथा अन्त में सर्व समुद्रों का पानी पी गया तिस पर भी उसकी तृषा शान्त नहीं हुई। फिर एक पुराने कुए में जो थोड़ासा पानी था उसको निकालने के लिये उसने घास का पूला डोरी से बांध कर कुए में डाला और उस पूले को बाहर निकाल कर उसमें से टिपकते हुए जलबिन्दुओं को जीभ द्वारा चाटने लगा। समुद्र के जल से भी जिसकी तृषा शान्त नहीं हुई उसकी तृषा इस पूले में से झरते हुए जलकण से किस प्रकार नष्ट हो सकती है ?

इस दृष्टान्त का यह तात्पर्य है कि–स्वर्गादिक के अनेकों सुख भोग बाद भी जिसको तृप्ति नही हुई उसको अल्प आयुषवाले मनुष्य देह के अल्प सुख से तृप्ति किस प्रकार हो सकती है ? जराद्वारा जर्जरित अंग होने पर भी वह विषयसुख से तृप्त नहीं होता। इस प्रकार की हमारी वैराग्यमयी वाणी सुनकर उदायन राजा को प्रतिबोध होने से उसने तुरंत ही दीक्षा ग्रहण करली। इस चोवीशी में यह आखरी राजर्षि है। अब इस के बाद कोई भी राजा दीक्षा नहीं लेगा। यह राजर्षि इस भव में ही सर्व कर्मों का क्षय कर मोक्षपद प्राप्त करेगा।

इस प्रकार के वृत्तान्त को सुनकर अभयकुमारने अपने

घर जाकर राजा से कहा कि-हे स्वामी। आप की आज्ञा से मैं दीक्षा लेना चाहता हूँ इस लिये आप कृपा कर मुझे चारित्र दिलाइये। क्यों कि हे पूज्य पिता! बड़े भारी पुन्य के उदय से आप जैसे जैनधर्मावलम्बी हितकारक पिता मिले हैं और साक्षात जिनेश्वर श्रीमहावीरस्वामी गुरु मिले हैं अतः ऐसे संयोग में भी मैं यदि दुष्कर्म के मर्म का नाश न कर सकूँ तो फिर मेरे समान दूसरा मूर्ख कौन होगा? पुत्र के ऐसे युक्तियुक्त वचन सुन कर राजाने उसको आलिंगन कर कहा कि-हे वत्स! जिस समय में क्रोध में भर कर तुजको एसा कहूँ कि-अरे पापी! मेरे पास से हठ जा, मुझ को मुख न दिखला, उस समय तू व्रत ग्रहण कर लेना। इस प्रकार के वचन सुन कर विनयवान अभयकुमारने उनको अंगीकार किया और भक्तिपूर्वक उनकी सेवा करने लगा।

एक वार शीतऋतु में श्रीमहावीरस्वामीने राजगृहनगरी के गुणशील मन्दिर में समवसरण किया। उस समय श्रेणिक राजा चेलना राणी सहित प्रभु को वन्दना करने निमित्त गये। प्रभु को वन्दना कर देशना सुन कर राणी सहित पिछले पहर में पीछे लौटते समय मार्ग में नदी किनारे एक साधु को कायोत्सर्ग करते देखा। उस शान्त दान्त मुनि को वंदना कर राजा अपने घर गया। रात्रि को शयनगृहमें श्रेणिक राजा चेलणा राणी के साथ कामक्रीडा कर आलिंगन देकर सो रहा। निद्रा में राणी

का एक हाथ ओढ़े हुए वस्त्र में से बाहर निकल गया। वह ठंड के मारे ठर जाने से राणी जाग उठी और मुंह से सीत्कार शब्द करती हुई राणीने वह हाथ शीघ्र ही सोड में ले लिया। उस समय नदी के किनारे पर वस्त्र रहित उस मुनि के रहने का उसको स्मरण आने से वह बोली कि–अहो! प्राण के नाश करनेवाली ऐसी उग्र ठंड में उसकी क्या गति हुई होगी? उसका यह वाक्य अकस्मात् जगे हुए राजा के सुनने में आया। इस से उसने विचारा कि–अहो! यह राणी दुराचारणी जान पडती हैं, इसको मेरे अतिरिक्त कोई अन्य पुरुष प्रिय मालुम होता हैं इससे सचमुच यह व्यभिचारिणी हैं तो फिर अन्य सब राणीये व्यभिचारिणी हो जिसमें तो सन्देह ही क्या हैं? इस प्रकार मन में क्रोधित होकर राजाने विचार ही विचार में रात्रि जगते जगते बिताया। बहुधा समझदार पुरुष भी अपनी स्त्री को स्नेह से बुलानेवाले से भी इर्षालु होते है।

प्रातःकाल राजाने अभयकुमार को बुला कर आज्ञा दी कि–मेरा समग्र अन्तःपुर दुराचारी है, अतः अभी सब अन्तः-पुर में आग लगा दो। यह सुन कर अभयकुमारने कहा कि–हे पिता! आप की आज्ञा सिरोधार्य है। तत्पश्चात् श्रेणिक राजा शीघ्र ही जिनेश्वर को वन्दना करने के लिये गये। प्रभु के मुख से धर्मदेशना सुनने के पश्चात् राजाने प्रभु से पूछा कि–हे स्वामी! चेटक राजा की पुत्री (चेलणा) के

एक ही पति है या अनेक ? स्वामीने उत्तर दिया कि–हे श्रेणिक ! तेरी सर्व स्त्रियें धर्मपत्नी (पतिव्रता) हैं। गत रात्रि को यहां से जाते हुए तूने और चेलणाने नदी किनारे जिस मुनि को देखा था तथा उसका स्मरण कर मध्य रात्रि को चेलणाने कहा था कि–ऐसी सर्दी में उसकी क्या दशा हुई होगी ? किन्तु दुसरे आशय से वह नहीं बोली। इस प्रकार के वचन भगवान के मुख से सुनकर श्रेणिकराजा शीघ्रतया अपने घरकी ओर दौड़ा।

इधर अभयकुमारने राजा की आज्ञा होने पर विचारा कि–राजाने मुझे आज्ञा तो दी है किन्तु यह कार्य सहसा करने से परिणाम में अत्यन्त दुखदायी होगा। ऐसा विचार कर उसने अन्तःपुर के पासवाले घास के घरों को खाली कर जीव जंतु रहित खोज कर दिया और भगवान के समवसरण की ओर चल दिया। मार्ग में श्रेणिकराजा सामने आते हुए मीले। उसने अभयकुमार को पूछा कि–तूने क्या किया ? अभयने उत्तर दिया कि–आप की आज्ञानुसार किया। यह सुनकर राजाने क्रोध के आवेश में कहा कि–मेरी दृष्टि से दूर हठ जा, मुझे तेरा मुंह न दिखा। ऐसा काम करने का साहस तेरे अतिरिक्त अन्य कौन मूर्ख करे ? यह सुन कर 'पिताकी आज्ञा स्वीकार है' ऐसा कह कर अभयकुमारने समवसरण में जा कर प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण की।

इस तरफ राजाने गांव में आकर देखा तो केवल घास के घर ही जलते हुए नजर आये, इस से उसने विचारा कि– अहो ! अभयने मुझे कपट कर छल लिया। उसने अवश्य दीक्षा ले ली होगी। ऐसा विचार कर वह मुट्ठी बांध वापीस दौड़ते हुए समवसरण में आये किन्तु वहां पर तो अभय-कुमार को व्रत ले कर बैठे देखा, इस लिये 'तूने मुझे छला' ऐसा कह कर श्रेणिक राजाने उसको वन्दना की, फिर क्षमा याचना कर घर गये। अभयमुनि प्रभु के पास रह कर, तपस्या कर, कालधर्म प्राप्त कर सर्वार्थसिद्ध विमान में देवता बने।

इस प्रकार गुण के स्थानरूप अभयमंत्रीने परमार्थ-संस्तव नाम की प्रथम श्रद्धा को सफल कीया इसी प्रकार हे भव्यजीवों ! तुम को भी यहि मुक्तिरूपी स्त्री को आलिंगन करने की अभिलाषा हो तो तुम भी उस प्रकार करो।

इत्यब्दिनपरिमितोपदेशप्रासादवृत्तौ प्रथम-
स्तंभे पंचमं व्याख्यानम् ॥ ५ ॥

व्याख्यान ६

उत्तम प्रकार से परमार्थ को जानने वाले मुनियों की सेवा करनेरूप मुनिपर्युपास्ति नाम की दूसरी श्रद्धा–

गीतार्थाः संयमैर्युक्तास्त्रिधा तेषां च सेवनम् ।
द्वितीया सा भवेच्छ्रद्धा, या बोधे पुष्टिकारिणी ॥१॥

भावार्थः—संयमयुक्त ऐसे गीतार्थ मुनियों की तीन प्रकार से सेवा करना दूसरी श्रद्धा कहलाती है । वह श्रद्धा बोध में अर्थात् तत्त्वज्ञान में पुष्टिदायक है ।

गीत अर्थात् सूत्र और अर्थ अर्थात् उस (सूत्र) के अर्थ का विचार । ये दोनों जिस में हों वह गीतार्थ कहलाता है । संयम अर्थात् सर्वविरतिरूप सत्तर प्रकार का चारित्र । वह इस प्रकार–पांच आश्रवों को रोकना, पांच इन्द्रियों का निग्रह करना, चार कषायों को जीतना और तीन दंड से विराम पाना । इस प्रकार की विरति में आसक्त हुए तल्लीन मनवाले मुनियों की तथा ज्ञान और दर्शनवालों की भी मन, वचन और कायाद्वारा सेवा करना अर्थात् विनय करना, बहुमान करना और भक्ति करना आदि । अन्यथा हिंसा करनेवाली सिंहनी भी शिकार पर ताक कर नमन करती है अर्थात् नीचे झुकती है उसकी तरह नमन करना तो निष्फल है । इस प्रकार की गुणवाली श्रद्धा को मुनिपर्युपास्ति नाम की दूसरी श्रद्धा कहते हैं। यह श्रद्धा वस्तु का यथार्थ स्वरूप जानने में पुष्टि करनेवाली है और समकित को स्फटिक के समान स्वच्छ करनेवाली है । इस पर पुष्पचूला साध्वी का दृष्टान्त प्रशंसनीय हैं:—

पुष्पचूला साध्वी का दृष्टान्त ।

गीतार्थसेवने सक्ता, पुष्पचूला महासती ।
सर्वकर्मक्षयाल्लेभे, केवलज्ञानमुज्वलम् ॥

भावार्थः—गीतार्थ मुनि की सेवा में आसक्त हुई महासती (साध्वी) पुष्पचूलाने सर्व कर्मों का नाश कर केवलज्ञान की प्राप्ति की ।

इस जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र में पृथ्वीपुर नामक नगर था जिसमें पुष्पकेतु नामक राजा राज्य करता था । उसकी रानी का नाम पुष्पवती था जिसके पुष्पचूल नामक पुत्र और पुष्पचूला नामक पुत्री युगलरूप से पैदा हुए थे । उन दोनों भाई बहिनों में इतना स्नेह था कि एक क्षण मात्र के वियोग से वे एक दूसरे के लिये मरने को तैयार हो जाते थे । यह देख पुष्पकेतु राजाने विचार किया कि यदि इन दोनों को भिन्न भिन्न स्थान पर ब्याहें जायेंगे तो ये दोनों परस्पर के वियोग से मृत्यु को प्राप्त होंगे, अतः इन दोनों को यदि मैं परस्पर ब्याह दूँ तो उत्तम होगा । ऐसा विचार कर राजाने मंत्रियों को तथा पुरवासियों को बुला कर प्रश्न किया कि मेरे अन्तःपुर में जो रत्न उत्पन्न हों उनका स्वामी कौन हो सकता है ? यह सुनकर वे सब बोले कि—नाथ ! आपके समग्र राज्य में किसी भी स्थान पर उत्पन्न हुए रत्नों के आप ही स्वामी हैं तो अन्तःपुर में उत्पन्न होनेवाले रत्नों के तो आप ही

स्वामी हैं उसमें शक ही क्या है ? उसके तो आप ही स्वामी है। अन्तःपुर में उत्पन्न होनेवाले रत्नों की तो आप जो कुछ योजना करें वह हम सब को मान्य है। इस प्रकार कपट वचनोंद्वारा उन सब की सम्मति लेकर राजाने निषेध करने पर भी दोनों के परस्पर लग्न कर दिये। इससे पुष्पवती राणी को वैराग्य हो मया और कठीन तपस्या करने लगी जिसके फलस्वरूप वह स्वर्गलोक में देवता हुई।

कुछ समय बाद पुष्पकेतु राजा को मृत्यु प्राप्त हुई और पुष्पचूल राजा बना। वह पुष्पचूला के साथ विषयसुख भोगता हुआ समय व्यतीत करने लगा। अहो ! इस संसार में कामांध पुरुष कार्या-कार्य का विचार भी नहीं कर सकता। पुष्पवती रानी का जीव जो देव हो गया था उसने अवधिज्ञानद्वारा पुत्र-पुत्री का अकार्य देख कर पूर्वभव की वशीभूत होकर पुष्पचूला को स्वप्न में महाभय उत्पन्न करने-वाला नरक दिखाया। उसको देखकर भय से भयभीत हुए पुष्पचूलाने जागृत होकर स्वप्न का सर्व वृत्तान्त अपने पति से कहा। राजाने प्रातःकाल होते ही बौद्ध आदि सर्व दर्शनियों को बुलाकर उनसे प्रश्न किया कि नरक कैसे होते है ? उसके उत्तर में किसीने गर्भवास को नरक बतलाया, किसीने कैदखाने को, किसीने दारिद्र को, और किसीने परतंत्रपन को नरक कहा। उन सब के मतों को सुन कर रानीने कहा कि-ये तो नरक नहीं कहलाती। इस पर

राजाने अग्निकापुत्र आचार्य को बुलाकर नरक का स्वरूप पूछा। इस पर सूरिने उत्तर दिया कि–हे राजा! नरक सात हैं, जिस में से पहले नरक में एक सागरोपम की, दूसरे में तीन सागरोपम की, तीसरे में सात की, चोथे में दस की, पांचवें में सतरह की, छठे में बाईस की और सातवीं में तेतीश सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति होती है। उन सातों नरक में पृथ्वी में क्षेत्र से उत्पन्न हुई वेदना होती है। पांच नरक में क्षेत्र वेदना के साथ साथ अन्योन्यकृत वेदना होती है और प्रथम को तीन नरकों में वे दो प्रकार उपरान्त तीसरी परमाधामीकृत वेदना होती है इत्यादि। नरकों का यथार्थ स्वरूप सुनकर राणीने आचार्य से पूछा कि–अहो! आप को भी मेरे ही समान स्वप्न आया है या क्या? गुरुने कहा कि–हे भद्रे। मुझे कोई स्वप्न नहीं आया किन्तु जिनेश्वरप्रणीत आगम से मैं इसका सर्व स्वरूप जानता हूँ। राणीने पूछा कि–हे पूज्य! कौन से कर्मों से प्राणी नरक में जाता है? गुरुने कहा कि–महा-आरंभादिक कार्यों के करने और विषयसेवनादिक से जीव नरकगामी होता है। इत्यादि उपदेश सुनकर राजाने उसको विसर्जन किया।

दूसरी रात्रि को उक्त देवताने पुष्पचूला को स्वप्न में स्वर्ग के सुख बतलाये। वह वृत्तान्त भी राणीने राजा से कहा तो उसने सर्व दर्शनियों को बुलाकर स्वर्ग का स्वरूप पूछा। इस के उत्तर में उन्हीने कहा कि–मनोवांच्छित सुख

मीले उसीको स्वर्ग कहते हैं। उनके इस जवाब से संतोष नहीं होने से राजाने अम्बिकापुत्र आचार्य को बुलाकर स्वर्ग का स्वरूप पूछा। गुरुने उत्तर दिया कि–देवतागण अखंड यौवनवाले, जरा रहित, निरुपम सुखवाले तथा सर्व अलंकारों को धारण करनेवाले होते हैं। पहले देवलोक में ३२ लाख विमान हैं, दूसरे में २८ लाख आदि स्वर्ग का यथार्थ स्वरूप बतलाया। यह सुनकर राणीने श्रद्धापूर्वक पूछा कि–हे गुरु ! वह स्वर्ग का सुख किस प्रकार मिल सकता है ? गुरुने उत्तर दिया कि–श्रावकधर्म अथवा साधु-धर्म का उत्तमरीति से सेवन करने पर स्वर्ग का सुख प्राप्त हो सकता है।

यह सुन कर प्रतिबोध पाई हुए रानीने पुष्पचूल राजा से कहा कि–हे नाथ ! मुझे चारित्र लेने की आज्ञा प्रदान कीजिये। इस पर राजाने कहा कि–हे प्रिया ! तेरा वियोग मैं एक क्षण भर के लिये भी सहन नहीं कर सकता हूँ। तिस पर भी राणीने आग्रह किया तो राजाने कहा कि–हे प्रिया ! यदि तू सदैव यहीं रहनेका और मेरे घर से ही आहार ग्रहण करना स्वीकार करे तो मैं चारित्र लेने की स्वीकृति दूँ। इसको राणीने स्वीकार किया और राजाने बड़े उत्सवपूर्वक अम्बिकापुत्र आचार्य के पास राणी को दीक्षा दिलाई !

कुछ समय बाद आचार्यने श्रुतज्ञान के उपयोग से दुष्काल

पडने की आशंका जान कर अपने गच्छ को दूसरे स्थान पर भेजा दिया व स्वयं वृद्ध होने से वहीं पर रहे। उस पुष्पचूला साध्वी निर्दोष आहार लाकर देने द्वारा अग्लान वृत्ति से गुरु की वैयावृत्त करने लगी। अनुक्रम से शुभ ध्यान क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ होकर केवलज्ञान को प्राप्त किया फिर गुरु की सेवा करना जारी रक्खा अपितु गुरु की इच्छानुसार आहार लाकर उन्हें भेट कर सेवा करने लगी। इस पर गुरुने एक दिन उससे पूछा कि–तू मेरे मन की इच्छा सदैव क्यों कर जान जाती हैं? साध्वीने उत्तर दिया कि–हे पूज्य! जो जिसके साथ निरन्तर रहता है वह उसकी मनोवृत्ति क्यों कर नहीं जान सकता? अर्थात् अवश्य जान जाता है।

एक दिन वर्षा हो रही थी उस समय भी वह आहार लाई। तब सूरिने पूछा कि–हे पुत्री! तूं श्रुत की ज्ञाता है, ऐसी वर्षा में तूं आहार किस प्रकार लाई? उसने उत्तर दिया कि–जिस जिस प्रदेश में अचित्त अप्काय की वृष्टि हुई थी उस उस प्रदेश में चलकर मैं आहार लाई हूँ इस से यह आहार अशुद्ध नहीं है। गुरुने पूछा कि–तूने अचित्त प्रदेश किस प्रकार जाना? उसने उत्तर दिया कि–ज्ञानद्वारा। सूरिने पूछा कि–प्रतिपाति[1] ज्ञानद्वारा या अप्रतिपाति[2]

---

१ आकर चला जावे उसे प्रतिपाति ज्ञान कहते हैं।
२ आकर वापस नहीं आवे उसे अप्रतिपाति (केवलज्ञान) कहेते हैं।

ज्ञानद्वारा ? उसने उत्तर दिया कि–पांचवें ज्ञानद्वारा (केवल-ज्ञानद्वारा)। यह सुन कर सूरिने सोचा कि–अहो ! मैने केवली की आशातना की। ऐसा कह कर उसको मिथ्या दुष्कृत दिया। फिर आचार्यने उससे पूछा कि–मेरे को मोक्ष मिलेगा या नहीं? केवलीने कहा कि–तुमको गंगा नदी पार करते हुए केवलज्ञान होगा। यह सुनकर सूरि गंगा नदी उतरने के लिये कई लोगों के साथ नाव में बैठे, परन्तु जिस तरफ वे बैठे उस तरफ नाव झुकने लगी इस से प्रत्येक और सूरि बैठे इस प्रकार प्रत्येक स्थान झुकने लगा। फिर सूरि मध्य में बैठे तो समस्त नाव डूबने लगी। आचार्यने पूर्व भव में उनकी स्त्री का अपमान किया था वह स्त्री व्यन्तरी हो गई थी जो इस प्रकार सूरि के लिये उपद्रव करती थी। इसलिये लोगोंने आचार्य को उठाकर जल में फेंक दिया। उस समय उक्त व्यन्तरीने जल में शूली खड़ी कर आचार्य को उसमें पिरो लिये। फिर भी आचार्यने कहा कि–अहो ! मेरे देह के रुधिर के गिरने से अप्काय के जीवों की मृत्यु होती है, इस प्रकार जीवदया की भावना करने लगें। इस प्रकार शुभ भाव की वृद्धि होने से सर्व कर्मों का क्षय कर अंत में केवली हो कर वे शीघ्र ही मोक्षगामी हुए।

इस समय समीपवर्ती देवताओंने उनके केवलज्ञान का महोत्सव किया। इसी समय से वह प्रयाग नामक तीर्थ बना। वहां पर अन्यदर्शनी स्वर्गसुख मिलने के हेतु से करवत रखाते हैं।

पुष्पचूला साध्वीने केवलीपन से पृथ्वी पर विहार कर सर्व कर्मों का क्षय कर अन्त में मोक्षपद प्राप्त किया।

इस पुष्पचूला के पवित्र चरित्र को सुनकर जो भव्य जीव गुरुपरिचर्या करने को तत्पर रहते हैं वे परम सुखों के धाम मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

इत्यद्वदिनपरिमितोपदेशप्रासादग्रन्थस्य वृत्तौ
प्रथमस्थंभे षष्ठं व्याख्यानम् ॥ ६ ॥

व्याख्यान ७

व्यापन्नदर्शनी का त्याग करनेरूप तीसरी श्रद्धा—

व्यापन्नं दर्शनं येषां, निह्नवानामसद्ग्रहैः।
तेषां संगो न कर्तव्यस्तच्छ्रद्धानं तृतीयकम् ॥१॥

भावार्थः—कदाग्रहद्वारा जिनका सम्यग्दर्शन नाश हो गया है उन निह्नवों का संग नहीं करना तीसरी श्रद्धा कहलाती है।

असद्ग्रहसे अर्थात् अपनी खुद की कल्पनाद्वारा माने हुए मत पर कदाग्रह रखने से जिन का दर्शन अर्थात् सर्व नयविशिष्ट वस्तुओं का बोधरूप समकित नष्ट हो गया हैं ऐसे निह्नवों समग्र वस्तुओं में यथावस्थित प्रतिपत्ति (श्रद्धा) होने पर भी कोई एकाद अर्थ में अन्य मान्यतावाले होते

हैं। निह्नव अर्थात् जिनेश्वर के वचन का निह्नव करे–अपलाप करे, ऐसे निह्नवों के संग का त्याग करना। निह्नव शब्द के उपलक्षण से पासत्था, कुशील आदिके संग का भी त्याग करना चाहिये। अन्यथा समकित की हानि होती है इस का त्याग करना तीसरी श्रद्धा कहलाती है। इस विषय पर जिनका समकित नष्ट हुआ है ऐसे जमालि आदि का दृष्टान्त है जिनमें से प्रथम जमालि का दृष्टान्त निम्न लिखित है:

जमालि का दृष्टान्त।

कुंडपुर नामक नगर में श्रीमहावीरस्वामी के बहन का लड़का जमालि नामक राजपुत्र रहता था। उस जमालि का विवाह श्रीमहावीरस्वामी की पुत्री सुदर्शना के साथ हुआ था जिसके साथ विषयसुख भोगता हुआ सुखपूर्वक अपना समय व्यतीत करता था।

एक समय विहार करते करते प्रभु उस नगर के उपवन में पधारे। उनका आगमन सुनकर जमालि वंदना करने गया। प्रभु को प्रदक्षिणापूर्वक वंदना कर निम्न लिखित देशना सुनी—

गृहं सुहृत्पुत्रकलत्रवर्गो,
धान्यं धनं मे व्यवसायलाभः।
कुर्वाण इत्थं न हि वेत्ति मूढ़ो,
विमुच्य सर्वं व्रजतीह जन्तुः॥ १॥

भावार्थः—मनुष्य ऐसा समझता है कि यह घर, मित्र, पुत्र, स्त्री, धन, धान्य आदि सर्व मेरे उद्योग का फल है, परन्तु वह मूर्ख यह नहीं समझता कि इन सब को यहीं पर छोड़ कर प्राणी परलोक में अकेला ही जावेगा।

इस प्रकार की देशना से वैराग्य पाये हुए जमालिने अपने घर जाकर अत्यन्त आग्रह से अपने मातापिता की आज्ञा लेकर पांचसो क्षत्रियों सहित प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण की। उसके बाद हजार स्त्रियों सहित सुदर्शनाने भी दीक्षा ग्रहण की। चारित्र का पालन करते हुए जमालिने अगीयारह अंगों का अभ्यास किया। बाद में अकेले विहार करने की प्रभु आज्ञा मांगी। भावी लाभ नहीं जानकर प्रभु मौन रहे। कोई उत्तर नहीं दिया तिस पर भी जमालिने पांच सो साधुओं को साथ लेकर विहार कर श्रावस्ति नगर गया। वहां तिन्दुक उद्यान में किसी यक्ष के मन्दिर ठहरे। रूक्ष एवं निरस आहार करने से कुछ समय बाद जमालि को दाहज्वर उत्पन्न हुआ जिस से उसके शरीर में बैठने या खड़े रहने की भी शक्ति नहीं रही। एक दिन उसने साधुओं से कहा कि–मेरे लिये जल्दी से संथारा करो जिससे मैं सो जाऊँ। यह सुनकर साधुलोग संथारा करने लगे। जमालिने दाहज्वर की अधिक पीड़ा होने से तुरन्त ही साधुओं से पूछा कि–संथारा पथराया या नहीं? तब साधुने आधा पथराने पर भी उत्तर दिया कि–हाँ, पथरा

दिया। इसे सुनकर वेदना से विह्वल जमालि तुरन्त ही उठ-कर सोने की इच्छा से वहां गया तो आधा संथारा पथराया हुआ पाया, जिस से वह क्रोधित हुआ और 'क्रियमाणं कृतं' (किया जानेवाले काम किया हुआ कहा जा सकता है) ऐसा सिद्धान्त का वचन उसने स्मरण किया। उसी समय मिथ्यात्व का उदय होने से कितनी युक्तियों द्वारा उसने सिद्धान्त के उस वचन को असत्य समझा। वह विचारने लगा कि " क्रियमाणं कृतं, चलमानं चलितं " आदि भगवान का वचन असत्य है यह आज मैंने प्रत्यक्ष देखा है, क्यों कि यह संथारा अभी " क्रियमाणं " अर्थात् किया जाता है नही, " कृतं " अर्थात् किया हुआ नहीं। इसी प्रकार सर्व वस्तु यदि की जाती हो वो तो हुई नहीं कह सकते परन्तु जो कार्य किया गया हो–पूरा हो गया हो वह किया हुआ कहला सकता है। जिस प्रकार घट आदि कार्य क्रियाकाल के अन्त में ही हुआ दिखाई देता है। परन्तु शिवस्थासादि[1] समय में घटरूपी कार्य हुआ नहीं दिखाई देता। यह बात बच्चे से लगा कर सर्व जनों को प्रत्यक्ष सिद्ध है। इस प्रकार विचार कर वह अपनी कल्पित युक्तियें सर्व साधुओं को समझाने लगा तो उसके समुदाय के स्थविर साधुओं ने उससे कहा कि-

१ शिव और स्थास ये घड़े के पेटाल, गोलाश आदि अवयव विशेष हैं।

हे आचार्य ! 'क्रियमाणं कृतं' आदि भगवान के वाक्य सत्य ही है। उसमें कोई प्रत्यक्ष विरोध नहीं है क्यों कि एक घटादिक कार्य में अवान्तर कारण और कार्य असंख्यात होते हैं। मिट्टी लाना, उसको मर्दन कर पिन्ड बनाना, उसको चक्र पर चढ़ाना, दंड से चक्र को घुमाना, प्रथम शिव करना, फिर स्थासक करना, आदि घटरूपी सर्व कार्यों का कारण है और अन्त में डोरेद्वारा काट कर घट को चक्र से अलग किया तब ही वह घटरूपी कार्य हुआ ऐसी आपकी मान्यता हैं यह अयोग्य है; क्यों कि घटरूप कार्य करते समय प्रत्येक वक्त अन्य कार्यों का आरंभ होता हैं और वह कार्य निष्पन्न होता हैं क्यों कि कार्य के कारण का और निष्पत्ति का एक ही समय हैं (कारण का काल भिन्न और निष्पत्ति का काल भिन्न ऐसा नहीं) इस लिये सर्व अवांतर कारण और कार्य के होने बाद अन्त समय में ही परिपूर्ण घट का आरम्भ होता है उसी समय वह निष्पन्न होता है (इस विषय बहुत विस्तार हैं जो महाभाष्य से जाना जा सकता है ।) अपितु हे जमालि ! तुमने आधा संथारा पाथरा हुआ देख कर संथारा किया ही नहीं इस प्रकार कहा जो अयोग्य हैं, क्यों कि संथारा आधा बिछाया हैं ऐसा तुमने भी कहा। यदि वह नहीं बिछाया हुआ होता तो किस प्रकार बोलते ? अतः पहेले से जितने आकाश-प्रदेश में संथारा बिछाना शुरु किया उतने आकाशप्रदेश में तो वह बिछा दिया गया हैं, केवल ऊपर

बिछाने वस्त्र बाकी हैं वे नहीं बिछाये गये हैं लेकिन संथारा जितना बिछाया गया उतना बिछा ही गया है उसमें अब और बिछाने की आवश्यकता नहीं, अतः विशिष्ट समय की अपेक्षावाले भगवान के वाक्य में किसी प्रकार का दोष नहीं हैं।

इस प्रकार अनेक युक्तियों से स्थविर साधुओंने जमालि को समझाया तिस पर भी वह नहीं समझा तो वे उसे छोड़ कर वीरप्रभु के पास चले गये। किन्तु सुदर्शनाने तो जमालि पर अनुराग होने से उसके मत को स्वीकार किया। वह ढंक नामक कुम्हार जाति के श्रावक के यहां रहती थी उससे उसको अपना मत का बनाने के लिये समझाने लगी, परन्तु ढंकने उसको मिथ्यात्व पाई हुई जान कर कहा कि–हम तो ऐसी बातों में कुछ नहीं समझते। पश्चात् एक दिन ढंक श्रावक आव में से बर्तन निकालता था और उसी स्थान पर सुदर्शना साध्वी बैठी बैठी स्वाध्याय करती थी, उसको प्रतिबोध करने के लिये ढंकने अग्नि का एक अंगारा उसके वस्त्र पर डाल दिया जिससे उसके कपड़े का एक छोर जल गया। उसको देखकर सुदर्शनाने कहा कि हे श्रावक! तूने मेरा कपड़ा जला दिया। तब ढंक बोला कि–अरे! जलते को जला हुआ कहना तो श्रीभगवान का मत है, तुम ऐसा कहां मानते हो? इससे तुम्हारे मतानुसार तो मैंने कपड़ा नहीं जलाया फिर जला हुआ किस प्रकार कहते हो? इस प्रकार

ढंक के शब्द सुनकर विचार करने पर उस सुदर्शना को बोध प्राप्त होने से बोली कि–हे श्रावक ! तूने मुझे ठीक प्रतिबोध दिया। मैं इस सम्बन्धि मिथ्यादुष्कृत का त्याग करती हूँ। इस प्रकार कह कर जमालि के पास जाकर उसको भी बोध करने लगी किन्तु उसको तो कुछ भी बोध नहीं हुआ इससे उसको छोड़ कर सुदर्शना भगवान के समीप गई।

एक वार जमालिने चम्पा नगरी में आकर श्री महावीरस्वामी से कहा कि–हे जिन ! मेरे अतिरिक्त तुम्हारे समस्त अन्य शिष्य छद्मस्थरूप से ही बिहार करते हैं किन्तु मुझ को तो केवलज्ञान उत्पन्न हो गया है इस से मैं तो सर्वज्ञ अरिहंत हो गया हूँ। यह सुनकर गौतमस्वामीने कहा कि–हे जमालि ! तू ऐसा असत्य भाषण न कर क्यों कि केवलज्ञानी का ज्ञान तो किसी स्थान पर स्खलना को नहीं प्राप्त होता इस से यदि तू केवली है तो मेरे प्रश्नों का उत्तर दे। यह लोक शाश्वत है या अशाश्वत ? और ये सर्व जीव नित्य है या अनित्य ? यह सुनकर इसका उत्तर मालूम नहीं होने से जमालि मौन रहा और नियंत्रित सर्प के समान स्थिर हो गया। यह देख कर प्रभुने कहा कि–हे जमालि! छद्मस्थ साधु भी इन प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं वह इस प्रकार है–भूत, भविष्यत् और वर्तमान की अपेक्षा से यह लोक नित्य है और उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी काल की अपेक्षा से यह लोक अनित्य है, इसी प्रकार द्रव्य-

रूप से यह जीव शाश्वत है और तिर्यंच, मनुष्य, नारकी तथा देवपन पर्याय से अशाश्वत है।

इस प्रकार के भगवान के वाक्यों से जमालि को श्रद्धा नहीं हुई इस से वह खेद को तथा दूसरों को भी कुयुक्तियों द्वारा मिथ्यात्वी करने लगा। अन्त में मृत्यु समय भी वह बिना पापकर्म का प्रायश्चित लिये तथा आलोयणा प्रतिक्रमणादि किये एक मास का अनशन कर लांतक देवलोक में तेरह सागरोपम की आयुष्यवाला किल्विषीदेव हुआ (यह जमालि का चरित्र भगवती सूत्र में विस्तार से दिया हुआ है)

श्री जिनेश्वरने कहा है कि–देव तिर्यंच, और मनुष्यों के भव में पांच पाँच बार उत्पन्न होकर वह जमालि फिर से समकित पाकर सिद्धिसुख को पावेगा। इस प्रकार श्री वीर प्राकृत चरित्र में कहा गया है।

इस जमालि के चरित्र को पढ़ कर भव्य जीवों को नष्ट दर्शनी का संग नहीं करना चाहिये। ऐसी संगति होने पर भी जो ढंक श्रावक के समान श्रद्धा का त्याग नहीं करते ते सर्व प्रकार के सुख को प्राप्त करते हैं।

इत्यब्दिनपरिमितोपदेशप्रासादवृत्तौ प्रथम-
स्तंभे सप्तमं व्याख्यानम् ॥ ७ ॥

व्याख्यान ८

पाखंडी के वर्जनरूप चोथी श्रद्धा—

शाक्यादीनां कुदृष्टीनां, बौद्धानां कूटवादिनाम् ।
वर्जनं क्रियते भव्यैः, सा श्रद्धा स्यात्तुरीयका ॥१॥

भावार्थः—शाक्य आदि कुदृष्टिओं (मिथ्यात्वी) का, बौद्धों का और मिथ्याभाषियों का वर्जन करना ये चौथी श्रद्धा कहलाती हैं ।

शाक्य मतवाले उन्मत्त होकर ऐसे उपदेश करते है कि:—

न मांसभक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला ॥ १ ॥

भावार्थः—मांस भक्षण करने में, मद्य-मदिरा पान करने में और विषयसुख के सेवन में कोई दोष नहीं क्यों कि प्राणियों की ऐसी ही प्रवृत्ति है परन्तु मांसभक्षण आदिसे निवृत्त होने में बड़ा फल है ।

वे किसी युवा स्त्री को उद्देश कर कहते हैं कि:—

पिब खाद चारुलोचने !, यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते ।
न हि भीरु ! गतं निवर्तते, समुदयमात्रमिदं
कलेवरम् ॥ १ ॥

भावार्थः—हे सुन्दर नेत्रवाली स्त्री ! तू यथेच्छ खा और पी ! हे सुन्दर गात्रवाली ! यदि तेरी यह युवावस्था गई तो फिर वह तेरी नहीं रहेगी अर्थात् फिर तेरे को वापस नहीं मिल सकती; क्यों कि हे भीरु स्त्री ! जो कुछ भी चला जाता है वह वापस नहीं आता और यह शरीर तो केवल मात्र महमान के समान (थोड़े समय तक रहनेवाला) है।

प्रथम श्लोक में शाक्यादि लिखा हुआ है इस लिये उस आदि शब्द से एकांत नय को अंगीकार करनेवाले सर्वे मिथ्यादृष्टि को समझना चाहिये। कहा भी है कि:-

जावइया वयणपहा, तावइया चेव हुंति नयवाया।
जावइया नयवाया, तावइयं चेव मिच्छत्तं ॥१॥

भावार्थः—जितनी वचनरचना है वे सब नयवाद है, और जितने नयवाद है उतने मिथ्यात्व के प्रकार हैं ।

अतः शाक्य मतवालों का तथा अन्य मिथ्यादृष्टियों का भी संग वर्जित हैं अपितु कुदृष्टि अर्थात् जिनका दर्शन (शासन) कुत्सित है-निंद्य है ऐसे कुदृष्टि तीन सो त्रेसठ प्रकार के हैं। आगम में उनके भेद इस प्रकार बतलाते हैं:-

असियसय किरियाणं, अकिरिवाईण होइ चुलसी उ
अन्नाणिय सत्तट्ठी, वेणइयाणं च बत्तीसं ॥१॥

भावार्थः—क्रियावादी के एक सो अस्सी भेद हैं, अक्रियावादी के चोरासी भेद हैं, अज्ञानवादी के सड़सठ भेद हैं और विनयवादी के बत्तीस भेद है–कुल ३६३ भेद हैं।

ऐसे कुदृष्टि के संग का त्याग करना तथा बौद्ध अर्थात् क्षणिकवादियों का तथा मिथ्याभाषी–नास्तिक का संग, शुद्ध बुद्धिवाले भव्य प्राणियों को सर्वथा सर्व प्रकार से शीघ्रतया छोड़ देना चाहिये। इसे चोथी पाखंडीसंग–वर्जनरूप श्रद्धा जानना चाहिये। इसकी दृढ़ता के लिये इन्द्रभूति (गौतम) का दृष्टान्त कहा जाता है–

इन्द्रभूति (श्री गौतमस्वामी) का दृष्टान्त।

गुरुं वीरं च संप्राप्य, इन्द्रभूतिर्गणाधिपः।
जातः कुसंगत्यागेन, सद्धर्मकथने रतः ॥ १ ॥

भावार्थः—इन्द्रभूति (गौतम) गणधर महावीरस्वामी गुरु को पाकर, कुसंग का त्याग कर सद्धर्म की प्ररूपणा करने में आसक्त हुए।

श्रीमहावीरस्वामी केवलज्ञान प्राप्त करने बाद अपापानगरी के महसेन नामक उद्यान में सोमिल नामक ब्राह्मण के घर पर यज्ञ करने को ग्यारह विद्वान ब्राह्मण एकत्रित हुए। उसमें इन्द्रभूति, अग्निभूति आदि पांच पंडित पांच सो पांच सो शिष्यों के सहित आये थे। दो पंडित साढे तीनसो

साढे तीनसो शिष्यों सहित आये थे और चार पंडित तीनसो तीनसो शिष्यों सहित आये थे। इस प्रकार ४४०० ब्राह्मण इकट्ठे हुए थे। उस समय श्रीवीर प्रभु को वांदने के लिये आकाशमार्ग से आते हुए असंख्य सुर, असुर को देखकर तथा देवदुन्दुभि के स्वर को सुनकर वे पंडित बोले कि- अहो! हमारे यज्ञ मंत्रों के आकर्षण से आकर्षित हो कर ये देव साक्षात् यहां आरहे हैं, परन्तु जब उन देवताओं को चांडाल के पाड़े के समान यज्ञ के स्थान को छोड़ कर प्रभु के पास जाते हुए देखा तो उन सब ब्राह्मणों को बड़ा खेद हुआ। उन्होंने लोगों के मुंह से सुना कि ये देवता सर्वज्ञ को बांदने को जाते हैं। यह सुनकर उन ब्राह्मणों में जो सब से मुख्य इन्द्रभूति था उसने विचार किया कि-अहो! मेरे अकेले के ही सर्वज्ञ होते हुए भी क्या कोई दूसरा भी मनुष्य अपना सर्वज्ञ होना प्रसिद्ध कर सकता है? कदाच कोई धूर्त मूर्खजनों को धोका देता होगा, परन्तु अहो! इस धूर्तने तो देवताओं को भी धोके में डाल दिया है कि जिससे सरोवर छोड़ कर जानेवाले मेंढ़क के समान, अच्छे वृक्ष को छोड़ कर जाने-वाले ऊंट के समान, सूर्य के तेज को छोड़ कर जानेवाले उल्लू की तरह, और सुगुरु को छोड़कर जानेवाले कुशिष्यों समान ये देवतागण यज्ञमंडप को तथा मुझ सर्वज्ञ को भी छोड़कर उसके पास जाते है अथवा जैसा यह सर्वज्ञ होगा वैसे ही ये देवता भी होंगे तिस पर भी मैं ऐसे इन्द्रजाली को

सहन नहीं कर सकता क्यों कि आकाश में दो सूर्य नहीं रह सकते, एक गुफा में दो सिंह नहीं रह सकते और एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकती। इस प्रकार विचार करते हुए इन्द्रभूतिने प्रभु को बांद कर वापीस लौटते हुए लोगों को पूछा कि–हे लोगों! सर्वज्ञ कैसा है? तो लोगोंने उनके आठ प्रातिहार्य का स्वरूप बतलाया और कहा कि:–

यदि त्रिलोकी गणनापरा स्यात्तस्याः समाप्तिर्यदि नायुषः स्यात्।
परे परार्ध्यं गणितं यदि स्याद् गणेयनिःशेषगुणोऽपि स स्यात्॥ १॥

भावार्थः—यदि कदाच तीनों जगत के जीव भगवान के गुणों की गणना करने को तत्पर हो और इसमें भी उनके आयुष्य की समाप्ति ही न हो और परार्ध से भी अधिक संख्या के अंक हो तो वे कदाच भगवान के समग्र गुणों की गणना कर सके।

इस प्रकार लोगों के मुंह से सुन कर इन्द्रभूति विचार करने लगा कि–सचमुच यह कोई बड़ा भारी धूर्त जान पड़ता है कि जिसने सब लोगों को भ्रम में डाल रखा है, परन्तु जिस प्रकार सूर्य अंधकार को और सिंह अपनी केशवाली के छेद को सहन नहीं कर सकता इसी प्रकार मैं भी उसको सहन

नहीं कर सकता। मैंने जब बड़े बड़े वादियों को बड़ी बड़ी सभाओं में चूप कर दिया है तो केवल घर का ही शूरवीर ऐसा मेरे सामने क्या चीज है? जिस वायुने बड़े बड़े हाथियों को उड़ा दिये हैं उसके सामने रुई का फूंवा किस गिनती में है? उसके ऐसे वचन सुन कर अग्निभूति बोला कि–हे भाई! ऐसे सामान्य धूर्त पर तुमकों पराक्रम दिखाने की क्या आवश्यकता है? क्या पक्षिराज (गरुड़) छोटे छोटे कीड़ों पर पराक्रम दिखलाता है? अतः ऐसे वादी कीट पर तुमको पराक्रम दिखलाने की कोई आवश्यकता नहीं है। हे बन्धु! मैं ही उसके पास जाउगा। एक कमल की दंडी को उखेड़ने के लिये ऐरावत हाथी को ले जाने की क्या आवश्यकता हैं? यह सुन कर गौतमने उसके भाई अग्निभूति से कहा कि–हे भाई! मैंने सर्व वादियों का पराजय किया हैं किन्तु फिर भी उस मग के पाक में रहे कोरडु की तरह, घाणी में रहे आखे तील के कण के समान और अगस्तिन समुद्र के पान करते हुए शेष रहे जलबिन्दु के समान छोटे खड्डे के समान बाकी रहा हैं परन्तु उस एक को बिना जीते सब जीते हुए भी नहीं जीते के समान हैं क्यों कि एक बार शील का खंडन करनेवाली सती स्त्री भी हमेशा के लिये असती कहलाती हैं। समुद्र में चलनेवाले जहाज में यदि छोटासा भी छिद्र हो तो वह समग्र जहाज को डूबा देता हैं। अहो! मेरे भय मारे गोड़ देश के पंडित देश छोड़ कर भग गये, गुजरात के

विद्वान् जर्जरित होकर त्रासित हो गये हैं, मालवा देश के पंडित तो मानों मरसे गये हैं और तिलंग देश के उदय हुए पंडित भी अस्त हो गये हैं। विश्व में मेरे सामने वाद करने-को खड़ा होनेवाला एक भी पंडित शेष नहीं रहा। केवल यह एक ही धूर्त जैसे मेंढक कृष्णसर्प को लात मारने को तैयार हो, बैल ऐरावत हाथी को सींग मारने को तैयार हो और हाथी अपने दांतद्वारा पर्वत को तोड़ने का प्रयास करे उसी प्रकार मेरे साथ वाद करने को इच्छुक हैं। अथवा इसने जो यहां आकर मेरे को क्रोधित किया हैं यह उसने सोये हुए सिंह को जागृत करने का प्रयास किया हैं। अपनी आ-जीविका और यश को हानि पहुंचाने के लिये उसने ऐसा अविचारी कृत्य क्यों किया हैं ? इसने वायु के सामने होकर अग्नि को प्रज्वलित किया हैं। देह के सुख के लिये इसने कौचलता का आलिंगन[1] किया हैं और शेषनाग के फण पर मणि लेने के लिये उसने हाथ लम्बा किया हैं। अरे ! जब तक सूर्य उदय नहीं होता तब तक ही खद्योत और चन्द्र प्रकाश कर सकता हैं किन्तु सूर्य के उदय होते ही खद्योत और चन्द्र अदृश हो जाते हैं। एक ही सिंह के गर्जन से सर्व पशु भग जाते हैं। जब तक गुफा में रहनेवाले सिंह के पूंछ झपाटे का शब्द सुनाई नहीं देता तब तक ही मदोन्मत्त

---

१ कौचा का केवल स्पर्श करने से सम्पूर्ण शरीर में जलन पैदा हो जाती है तो उसके आलिंगन करने से तो क्या नहीं होता ?

हाथी काले मेघ के समान गर्जना करता हैं किन्तु जैसे दुष्काल में भूखे प्राणी को कहीं से अन्न मिल जाय उसी प्रकार मुझे भी आज मेरे भाग्यवश यह वादी मिला हैं, अतः अब मैं उसके पास जाता हूँ। यमराज के लिये कोई मालवा देश दूर नहीं होता, चक्रवर्ती के लिये कोई अजय नहीं होता, पंडितों से कोई छिपा नहीं होता, और कल्पवृक्ष के लिये वस्तु नहीं देने योग्य नहीं होती। इस लिये आज उसके पास जाकर उसका पराक्रम तो देखलूँ। साहित्यशास्त्र, न्याय-शास्त्र, व्याकरणशास्त्र, छंदशास्त्र और अलंकारशास्त्र आदि सब शास्त्रों में मैं निपुण हूँ। किस शास्त्र में मेरा प्रयास नहीं? अतः उस वादी को मैं जीत कर उसके सर्वज्ञपन के आडंबर को दूर करुंगा।

इस प्रकार गर्विष्ठपन के वचनों को बोलते हुए इन्द्रभूतिने देह की कान्ति को बढ़ाने लिये अपने शरीर पर बारह तिलक लगाये, सुवर्ण का यज्ञोपवीत धारण किया और उत्तम वस्त्र पहिने। इस प्रकार महाआडम्बर कर अपने पांचसो शिष्यों सहित रवाना हुआ। उस समय उसके शिष्यगण विरुदावली बोलने लगे कि जिसके कंठ में सरस्वती देवी आभूषणरूप विद्यमान हैं, जो सर्व पुराणों का ज्ञाता हैं, जो वादीरूपी केल के लिये कृपाण (खड्ग) के समान है, अपितु वादीरूपी अंधकार को दूर करने के लिये सूर्य समान, वादीरूपी घंटी को तोड़ने लिये मुद्गर समान, सर्वशास्त्रों का

आधारभूत, साक्षात् परमेश्वरस्वरूप, वादीरूपी घुवड़ को नष्ट करने में सूर्य समान, वादीरूपी समुद्र का शोषण करने में अगस्त्यऋषि समान, वादीरूपी पतंगीयों को भस्म करने में दीपक समान, वादीरूप ज्वर का नाश करने में धन्वन्तरी वैद्य के समान, सरस्वती के कृपापात्र, और बृहस्पति (देव-गुरु) भी जिसके शिष्यरूप हैं ऐसे हे भगवान! तुम्हारी जय हो। इस प्रकार शिष्यों के मुख से गायी जानेवाली बिरुदावली का श्रवण करते हुए गौतम आगे बढ़ता गया।

समवसरण के नजदीक आने पर अशोकादि अतिशयों को देख कर तथा जातिवैरवाले प्राणियों को वैर का त्याग कर एकत्रित हुए देखकर वह बोला कि–अहो! यह तो कोई महाधूर्त जान पड़ता हैं। उस पर उसका छात्र (शिष्य) बोला कि–हे पूज्य गुरु! हम आपकी कृपा से हमेशा करोड़ो वादीयों को जय करने में समर्थ हैं तो फिर इस एक का पराजय करना तो कौन बड़ी बात है? हमारे में से एक ही छात्र उसका निग्रह करने में समर्थ हैं। यह सुन कर गौतम समवसरण के समीप गया। समवसरण के पहिले पगथिये पर चढ़ कर श्री वीरप्रभु को देखते ही उसको शंका (भय) उत्पन्न हुई। वह आश्चर्यचकित होकर बिचारने लगा कि–अहो! यह कौन हैं? क्या सूर्य है? नहीं, सूर्य तो उष्ण किरणोंवाला होता हैं। तो क्या यह चन्द्र हैं? नहीं, वह तो कलंकी है। तो क्या मेरुपर्वत है? नहीं, वह तो अत्यन्त

कठिन हैं। तो क्या यह विष्णु हैं ? नहीं, यह तो काला हैं। तब क्या ब्रह्मा हैं? नहीं वह तो अवस्थाद्वारा आतुर हैं और जरा (वृद्धावस्था) से व्याप्त हैं। तो क्या कामदेव है? नहीं, वह तो बिना शरीरवाला हैं। तो क्या महादेव है ? नहीं, वह तो कंठ में शेषनाग के धारन करने से भयंकर है परन्तु यह तो सर्व दोषों रहित और समग्र गुणसमूह से व्याप्त हैं, अतः यह तो आखिरी तीर्थंकर ही होना चाहिये। सूर्य के समान इनके सामने भी नहीं देखा जा सकता और दुस्तर समुद्र के समान इनका उल्लंघन भी नहीं किया जा सकता। अब इनके सामने मैं मेरा महत्व किस प्रकार करुँ ? अरे ! मुझ जैसे मूर्खने सिंह के मुँह में हाथ डाला और बैर के वृक्ष की डाली का आलिंगन किया। मेरे लिये तो एक और पूरी भरी हुई नदी और दूसरी और बाघ इस न्याय के समान हुआ। अपितु एक कीली के लिये सम्पूर्ण महल को घिराना कौन चाहता हैं ? सूत के धागे के लिये सम्पूर्ण हार कौन तौड़े ? राख के लिये चन्दन की लकड़ी कौन जलावे ? लोह के लिये समुद्र के जहाज को कौन तोड़े ? परन्तु मैंने तो यह सब कुछ करनेवाले की तरह अविचारी कार्य किया हैं। मुझ दुर्बुद्धिने जगदीश्वर को जीतने की इच्छा की और इस लिये यहां आया परन्तु इस जगन्नाथने किसी भी दिव्य प्रयोग से मेरा मन वश कर लिया कि जिससे मेरी ऐसी बुद्धि हुई। अब इनके सामने मैं एक अक्षर भी किस प्रकार बोल सकता हुँ ? और

उनके पास भी किस प्रकार जाउँ ? इस समय तो जन्म से लगा कर सेवित किये हुए शंकर यदि मेरे यश का रक्षण करें तो बहुत श्रेष्ठ हैं अन्यथा तो तीनों जगत के जीतने-वाले इन प्रभु के सामने शंकर भी क्या कर सकते हैं ? वह तो इस समय कहीं भग गये जान पड़ते हैं परन्तु किसी भी प्रकार से भाग्य के वश से यदि यहां मेरी जय हो तो मैं तीनों भुवन में पंडितशिरोमणि बनुँ ।

इस प्रकार जब वे विचार कर रहा था तो भगवंतने उनको पुकारा कि--हे इन्द्रभूति गौतम ! क्या तुम सुखी तो हो ? यह सुन कर गौतमने विचार किया कि अहो ! क्या यह मेरा नाम भी जानते हैं ? या तीनों जगत में प्रसिद्ध मेरा नाम को कौन नहीं जानता ? बच्चों से लगा कर सब सूर्य को जानते हैं, वह किसी से छिपा हुआ नहीं है परन्तु इसने मुझे मधुर वाक्य से बुलाया है इससे मेरी समझ से यह मेरे साथ वादविवाद करने से डरता है परन्तु मैं ऐसे मीष्ट वचन से संतुष्ट होनेवाला नहीं हूँ। यदि यह मेरे मन के संशय को दूर कर दें तो मैं इसको सच्चा सर्वज्ञ समझुं और तब ही मुझको आश्चर्य हो । गौतम इस प्रकार विचार कर रहा था कि भग-वानने कहा कि-हे गौतम ! जीव है या नहीं ? इस विषय में तुम्हारे मनमें संशय है। चारों प्रमाण से (प्रत्यक्ष, अनु-मान, उपमान और शब्दप्रमाण से) जीव ग्राह्य नहीं हो सकता इस लिये जीव है ही नहीं ऐसी तुम्हारी मान्यता हैं

परन्तु यह असत्य है क्यों कि तुम वेद पद का सच्चा अर्थ नहीं जानते इसी से तुमको यह संशय उत्पन्न हुआ हैं। वेद में कहा है कि:-"विज्ञानघन एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेतसंज्ञास्ति" विज्ञानघन के जीव इस पंच महाभूत से उत्पन्न हो कर फिर वापीस उन्हों पंच महाभूतों में ही विनाश को प्राप्त होता हैं इस लिये उनकी प्रत्ये परलोक संज्ञा नहीं होती। ऐसा अर्थ कर तुमने जीव का अभाव सिद्ध किया है, परन्तु वह अर्थ अयुक्त है क्यों कि विज्ञानघन का अर्थ जीव नहीं हैं परन्तु पांचों इन्द्रियां हैं। उससे होनेवाले घटादि पदार्थ का जो ज्ञान है वह घटादि के नाश होने पर उसके साथ ही साथ नाश को प्राप्त होता हैं, उनकी प्रेत्यसंज्ञा नहीं होती है (इस पद का सर्व युक्तियों सहित व्याख्यान श्रीविशेषावश्यक से जाना जा सकता है) इसी प्रकार है गौतम! जिन प्रकार दूध में घी है, तील में तेल है, काष्ठ में अग्नि है, पुष्प में सुगन्ध है तथा चन्द्रज्योत्स्ना में अमृत है उसी प्रकार जीव भी देह में स्थित है। इस लिये जीव का होना सिद्ध है।

इत्यादि युक्तियुक्त जन्म मरण रहित भगवान के वचन सुन कर गौतम का संशय दूर हो गया और उसने पांचसो शिष्यों साथ भगवान के पास प्रव्रज्या अंगीकार की। फिर भगवान के मुँह से "उपज्जएई वा, विगमए वा, धुवए वा"-उत्पन्न होता हैं, मरता है और निश्चल भाव है। इन तीन

पदों को प्राप्त कर उसने द्वादशांगी की रचना की। उसमें "उपज्जाए" अर्थात् जीव से उत्पन्न होनेवाला जीव, नर नारी से उत्पन्न होनेवाला गर्भ, जीव से उत्पन्न होनेवाला अजीव, देह से उत्पन्न होनेवाले नख आदि, अजीव से उत्पन्न होनेवाला अजीव, इंटादिक के चूर्ण के समान और अजीव से उत्पन्न होनेवाला जीव, पसीने से जुं आदि की उत्पत्ति के समान। इस प्रकार विगम—नाश के भी चार भाग समझना चाहिये। जीव से* जीव का नाश होता है, जीव से अजीव का नाश होता है, अजीव से जीव का नाश होता है और अजीव से अजीव का नाश होता है। ध्रुवन में नित्य, अछेद्य, अभेद्यादिक जीव का स्वरूप समझना चाहिये।

गौतम के दीक्षा लेने की खबर सुन कर अग्निभूति आदि अन्य दक्ष पंडित भी अनुक्रम से भगवान के पास आये और उनके संशय दूर होने से उन सबने भी अपने अपने शिष्यों सहित दीक्षा ग्रहण की।

हे भव्य प्राणियों! ये गौतम गणधर के गुणों का मन्दिर जैसा और सर्व सुखों को देनेवाला चरित्र सुनो कि

---

* १ जीव छकाय जीवों की उपमर्दना करनेवाला
२ जीव घटादि पदार्थों का नाश करनेवाला
३ खड्गादिक अथवा सोमलादिक से मरण पानेवाला
४ घड़े को पत्थर मारने से घड़ा फूट जानेवाला।

जिससे मिथ्यादर्शन का नाश हो और मोक्षसुख को प्राप्त करनेवाले सम्यग्दर्शन प्राप्त हो।

इत्यब्ददिनपरिमितोपदेशप्रासादवृत्तौ प्रथमस्तंभे अष्टमं व्याख्यानम् ॥ ८ ॥

व्याख्यान ९

समकित के तीन लिङ्गों में से पहिला शुश्रूषा नामक लिङ्ग—

शुश्रूषा भगवद्वाक्ये, रागो धर्मे जिनोदिते।
वैयावृत्त्यं जिने साधौ, चेति लिंगं त्रिधा भवेत् ॥५॥

भावार्थः—श्री जिनेश्वर के वाक्यों में शुश्रूषा अर्थात् सुनने की इच्छा, जिनेश्वरद्वारा कहे धर्म में राग-प्रीति और जिनेश्वर तथा साधुओं का वैयावृत्य-ये तीन समकित के लिङ्ग हैं।

श्रीअरिहंत के कहे हुए वचनों को सुनने की निरन्तर इच्छा रखना चाहिये, क्योंकि बिना जिनवचनश्रवण किये किसी भी ज्ञानादिक गुण की प्राप्ति नहीं होती। आगम में भी कहा है किः—

सवणे नाणे य विन्नाणे, पच्चक्काणे य संजमे।
अनिहुए तवे चेव, वोदाणे अकिरिय निव्वाणे॥१॥

भावार्थः—शास्त्रश्रवण से ज्ञानोपार्जन होता है, ज्ञान से विज्ञान, विज्ञान से पच्चक्खाण, पच्चक्खाण से संयम, संयम से दोष रहित तप, तप से क्रिया रहितपन प्राप्त होता है, पूर्वकर्म की निर्जरा होती है, नये कर्म नहीं बांधे जाते और क्रिया रहित होने से निर्वाण–मोक्ष की प्राप्ति होती है।

श्री हरिभद्रसूरिने भी इस प्रकार कहा है किः–

क्षाराम्भस्त्यागतो यद्वन्मधुरोदकयोगतः।
बीजं प्ररोहमादत्ते तद्वत्तत्त्वश्रुतेर्नरः॥ १॥

भावार्थः—जिस प्रकार खारे जल के त्याग से और मीठे जल के योग से बीज अंकुरित होता है उसी प्रकार तत्त्वज्ञान को प्राप्त करता है–ज्ञानरूपी अंकुर प्रकट होते हैं।

अतः यह शुश्रूषा समकित का प्रथम लिंग है। इस पर सुदर्शन श्रेष्ठी का दृष्टान्त प्रसिद्ध है।

सुदर्शन श्रेष्ठी और अर्जुनमाली का दृष्टान्त।

राजगृह नगर में अर्जुन नामक एक माली रहता था। उसके अत्यन्त सुन्दर और युवावस्था से मनोहर बंधुमती नामक स्त्री थी। उस माली के नगर के बाहर पंचरंगी पुष्पों-वाला एक सुन्दर बाग था। उस बाग के समीप एक यक्ष का देवालय था। उसमें हजार पल का लोहे का मुद्गर धारण

कर खड़ी हुई मुद्गरपाणि नामक यक्ष की मूर्ति थी। उस यक्ष की वह माली अपनी स्त्री सहित उसके कुलदेवता समान नित्य अर्चना किया करता था। एक वार महोत्सव का दिन होने से कोई छ पुरुष फिरते फिरते मुद्गरपाणि यक्ष के देरा में आकर बैठे हुए आनन्द मना रहे थे कि उस समय अर्जुनमाली उसकी स्त्री सहित सुन्दर पुष्प लेकर यक्ष की पूजा करने को आया। उसको आते देख कर उन छ ही मित्रोने परस्पर विचार किया कि-इस माली की स्त्री अति रूपवान है, इस लिये इस माली को बांध कर इसके समक्ष ही उसकी स्त्री के साथ हम को क्रिया करना चाहिये। ऐसा निश्चय कर वे दरवाजे के पीछे छिप कर खड़े हो गये। वह माली देवालय में आकर पुष्प आदि से यक्ष की पूजा कर पंचांग प्रणाम करने लगा कि उस समय उन छ ही मित्रोंने बाहर आकर उसको बांध दिया। फिर उस के समक्ष ही उसकी स्त्री के साथ विलास करने लगे। यह देखकर अर्जुनमाली को विचार हुआ कि मेरे जीने को धिक्कार है, क्योंकिः—

सह्यन्ते प्राणिभिर्बाढं, पितृमातृपराभवाः।
भार्यापराभवं सोढुं, तिर्यंचोऽपि न हि क्षमाः ॥१॥

भावार्थः—प्राणी पिता तथा माता के पराभव को सहन कर सकते हैं परन्तु स्त्री के पराभव को सहन करने में तो तिर्यंच भी समर्थ नहीं होते।

अहो ! मेरे देखते हुए भी ये पशु तुल्य पुरुष पशु-धर्म का आचरण करते हैं। इस प्रकार विचार करते हुए वह अर्जुनमाली मन ही मन यक्ष को उपालंभ देने लगा कि-हे यक्ष ! सचमुच तू पत्थरमय ही देव है। इतने दिन तक मैंने तेरी पूजा की जिसका मुझे वह फल मिला। उस समय यक्षने ज्ञानद्वारा यह सब जानकर और माली के वचनों से अत्यन्त क्रोधायमान हो कर उसने उसके देह में प्रवेश किया। बांधे हुए सर्व बंधनों को तोड़कर लोहे के मुद्गर को ऊठाकर उससे बंधुमती सहित छ ही मित्रों का चूरण बना दिया। तब से ही अर्जुन के शरीर में घुसा हुआ वह यक्ष हमेशा जब तक एक स्त्री सहित छ पुरुषों को नहीं मारता तब तक उसका क्रोध शान्त नहीं होता है। यह वृत्तान्त सुन कर उस नगर के राजा श्रेणिकने नगर के दरवाजे बन्द करा कर सर्व पुरवासियों को सूचित किया कि-जब तक वह अर्जुन सात पुरुषों को न मारते तब तक कोई भी नगर के बाहर न निकले।

इस अवसर पर श्रीवीर प्रभु इस नगर के उद्यान में पधारे। सुदर्शन नामक महाश्रावक उनका आगमन सुन-कर अत्यन्त आनन्दित हुआ और जिनेश्वर के वचनामृत का पान करने की इच्छा से उसके मातापिता से आज्ञा मांगने लगा कि-मैं जिनेश्वर को वन्दना करने के लिये जाना

चाहता हूं। यह सुन कर उन्होंने जवाब दिया कि-हे वत्स ! वहां जाने से तेरे को उपसर्ग होगा इसलिये यहीं रह कर भाव से प्रभु को वन्दना करले। सुदर्शनने जवाब दिया कि-हे मातापिता ! तीनों जगत के गुरु श्री जिनेश्वर के मुँह से बिना उपदेश के श्रवण किये मुझे तो भोजन करना भी नहीं कल्पता। इस प्रकार कह कर मातापिता की आज्ञा लेकर सुदर्शन श्रीवीर प्रभु को वन्दना करने को चला। मार्ग में चलते हुए उसने क्रोध से मुद्गर ऊंचा ऊठाकर आते हुए कोपायमान यमराज के समान अर्जुन माली को दूर से आते हुए देखा। इस पर शीघ्र ही भय रहित सुदर्शन सेठ उसके वस्त्र के छोर से पृथ्वी का प्रमार्जन कर वहां बैठ गया। फिर जिनेश्वर को नमस्कार कर, चार शरणों को अंगीकार कर, सर्व प्राणियों को खमाकर, सागारी अनशन कर उपसर्ग नाश होने पर ही पारने का निश्चय कर कायोत्सर्ग किया और पंचपरमेष्ठी महामंत्र का स्मरण करने लगा। अर्जुनमाली के शरीरस्थ यक्ष उसके पास आया परन्तु मंत्र से विष रहित किये हुए और खीजे हुए सर्प के समान वह उसका पराभव करने में अशक्त रहा, उसका रोष नष्ट हो गया। वह यक्ष भयभीत हो कर और अपना मुद्गर लेकर अर्जुन के शरीर से निकल गया। यक्ष के प्रवेश से मुक्त हुआ अर्जुन भी काटे हुए वृक्ष के समान शीघ्र ही पृथ्वी पर गिर पड़ा। थोडी देर बाद सुध

आने पर अर्जुन सेठ की ओर देख कर उस से पूछा कि–तुम कौन हो ? और कहां जा रहे हो ? सेठने उत्तर दिया कि– मैं सुदर्शन नामक श्रेष्ठी हूँ और श्रीवीरप्रभु को वन्दना करने को जा रहा हूँ। तू भी उन सर्वज्ञ को वन्दना करने को चल। यह सुनकर अर्जुन भी उसके साथ भगवान के समवसरण में गया। प्रभु को वन्दना कर उन दोनों ने इस प्रकार देशना सुनी कि—

" हे भव्य प्राणियों ! मोह से अन्धे हुए इस जगत में मनुष्य जन्म, आर्य देश, उत्तम कुल, श्रद्धालुपन, गुरुवचन का श्रवण और कृत्याकृत्य का विवेक यह मोक्षरूपी महल पर चढ़ने के पगथियों की पंक्ति है। यह पूर्व के किये हुए सुकृत्यों के योग से ही प्राप्त होते हैं।" इत्यादि देशना सुनकर कितने ही नियम ग्रहण कर सुदर्शन सेठ अपने घर पर आया।

अर्जुनमाली को वैराग्य उत्पन्न होने से पूर्व किये वध सम्बन्धी पाप को हनन करने के लिये उसने भगवान् के समीप जाकर दीक्षा ग्रहण की और उसीके साथ उसने अभिग्रह लिया कि–हे विभु ! आज से मुझे आप की आज्ञा से निरन्तर षष्ठ तपद्वारा आत्मा को भाते हुए विचरन करना हैं। स्वामीने उसको योग्य समझ कर वैसा करने की आज्ञा प्रदान की। फिर अर्जुन मुनि छट्ठ छट्ठ का तप करते विचरने

लगा। पारणा के दिन गोचरी के लिये जब वे ग्राम में जाते तो उन्हें देख कर लोग कहते कि-इसने मेरे पिता को मारा है, कोई कहता कि-इसने मेरी माता को मार डाली है। इस प्रकार कोई भाई को, कोई बहिन को, और कोई स्त्री को मार डालने का कह कह कर मुनि को गालियें देने लगे, आक्रोश करने लगे, मारने लगे, धिक्कारने लगे, और निन्दा करने लगे; परन्तु वे मुनि उन पर मन से भी विना खेद पाये सर्व उपसर्ग सम्यक्रूप से सहन करने लगे। ऐसा करते हुए किसी समय पारणा के दिन कुछ आहार मिलता तो वे भगवान को निवेदन कर मूर्च्छा रहित उपयोग में लाते। इस प्रकार उदार तप, कर्म द्वारा आत्मा को भाते हुए वह अर्जुनमाली मुनिने कुछ उणें छ मास व्यतीत किये। अन्त में आधे मास की संलेखना कर के अंतकृत केवली होकर अनन्तचतुष्टयवाले मोक्षपद को प्राप्त किया।

सदैव सात मनुष्यों के वध करनेवाले अर्जुनमालीने भगवान को पाकर, अनुपम अभिग्रह का पालन कर, अन्त में अन्तकृत केवली होकर सिद्धपद को प्राप्त किया और सुदर्शन श्रेष्ठीने भी स्वर्ग के सुख को प्राप्त किया।

हे भव्य जीवो! आगम के श्रवण करने में जिसका चित्त लगा हुआ है ऐसे सुदर्शन श्रेष्ठी के इस चरित्र को पढ़ कर भवसागर को पार करने के लिये नौका के समान धर्म का श्रवण करने का निरन्तर यत्न करो।

यह विषय अंतगडदशांग सूत्र में भी वर्णित है।

इत्यद्धदिनपरिमितोपदेशप्रासादवृत्तौ प्रथमस्तंभे नवमं व्याख्यानम् ॥ ९ ॥

व्याख्यान १० वां

समकित के दूसरे धर्मरागरूप लिंग के विषय में

पिछले व्याख्यान के आरम्भ के श्लोक में "रागो धर्मे जिनोदिते" यह दूसरा पद कहा गया है। उसमें "जिन" अर्थात् रागद्वेष रहित जो तीर्थंकर है उनसे कहा हुआ "धर्म" जो यतिधर्म और श्रावकधर्म हैं उनके विषय में "राग" अर्थात् मन की अत्यन्त प्रीति रखना चाहिये। शुश्रूषा नामक लिंग में श्रुतधर्म पर राग रखने को कहा गया है और यहां पर चारित्र धर्म पर राग रखने का उपदेश किया गया हैं। इतना ही इन दोनों में अन्तर है। इस प्रसंग पर चिलातिपुत्र का दृष्टान्त प्रसिद्ध है, जो इस प्रकार हैं:-

चिलातिपुत्र का दृष्टान्त

तीव्रेण धर्मरागेण, अघं दुष्टमपि स्फुटम्।
चिलातिपुत्रवत्सद्यः, क्षयीकुर्वन्ति देहिनः ॥ १ ॥

भावार्थः—प्राणी चिलातिपुत्र की तरह दुष्ट पाप को भी धर्म पर तीव्र राग रखने से तत्काल क्षय कर देते हैं।

क्षितिप्रतिष्ठ नगर में यज्ञदेव नामक एक ब्राह्मण रहता था। वह अनिंद्य जैन धर्म की निन्दा किया करता था। उस पंडितमानी ब्राह्मण को एक समय किसी क्षुल्लक जैन मुनिने वाद करने के लिये बुलाया। उस समय उसने शर्त की कि मेरे को जीतनेवाले का मैं शिष्य बन जाउंगा। वाद करते उस साधुने उसको जीत लिया इस पर वह पराजित होकर उसका शिष्य बन गया। एक वार शासन देवताने यज्ञदेव साधु से कहा कि–जिस प्रकार मनुष्य के नेत्र हुए भी वह सूर्य के प्रकाश विना नहीं देख सकता इसी प्रकार जीव ज्ञानयुक्त होने पर भी शुद्ध चारित्र बिना मोक्ष के सुख का अनुभव नहीं कर सकता। इस लिये तुम चारित्रवान बनों। शासनदेव के ऐसा कहने पर भी उस ब्राह्मण होने से वह अपने हठ को नहीं छोड़ता था। स्नान, दंतधावन आदि के नहीं करने से उसको दुर्गंछा उत्पन्न हुई। उसकी स्त्री उसके प्रेम को नहीं छोड़ सकी अतः उसने उसको वश करने के लिये कामण किया इससे शारीरिक पीड़ा सहते हुए उस ब्राह्मणने मुनिशुद्ध चारित्र का पालन कर देवपद प्राप्त किया।

उस ब्राह्मण की स्त्रीने अपने कामण से ही पति की मृत्यु होना जान कर वैराग्य उत्पन्न होने से चारित्र ग्रहण कर मुनिहत्या का पाप आलोच्ये बिना ही मृत्यु को प्राप्त कर स्वर्गारोहण किया।

वह ब्राह्मण देव आयुष्य के पूर्ण होने पर चव कर राज-

गृह नगर में धना श्रेष्ठी की चिलाती नामक दासी की कुक्षी से पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। लोगों में वह चिलातीपुत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसकी स्त्री स्वर्ग में से चव कर धना श्रेष्ठी के यहां पांच पुत्रो के बाद सुसुमा नामक पुत्री हुई। धना श्रेष्ठीने उस पुत्री को खिलाने के लिये चिलातीपुत्र को रखने की योजना की। एक बार श्रेष्ठीने चिलातीपुत्र को सुसुमा के साथ असभ्य क्रीडा करते देख कर उनको निकाल दिया। वह सिंहगुहा नामक चोर की पल्ली में जा-कर रहने लगा। पल्लीपतिने उसके अवसान काल में उसको अपने पुत्र की जगह स्थापित कर उसे पल्लीपति बना दिया।

वहां कामदेव के शस्त्र से वेधित चिलातीपुत्र सुसुमा का बारंबार स्मरण करने लगा। एक बार उस पापीने सर्व चोरों से कहा कि–हे चोरों! आज हमे राजगृह में धनाश्रेष्ठी के यहां चोरी करने चलना चाहिये। वहां से जितना भी धन प्राप्त हो वो सब तुम लोग आपस में बांट लेना और उसकी पुत्री सुसुमा मेरे हिस्से में रहेगी। इस प्रकार व्यवस्था कर रात्रि के समय वे चोर धनाश्रेष्ठी के घर में घुस पड़ें। धना सेठ आदि को अवस्वापिनी देकर सर्व चोर धन लेकर निकल गये और चिलातिपुत्र सुसुमा को ले कर भगा। थोडी देर बाद सेठ की आंखे खुली तो उसने हल्लागुल्ला कर सब को जगा दिया। अपने पांचों पुत्रो सहित नगर के कोतवाल आदि को संग में ले कर सेठ चोरों की खोज में उनके पीछे पीछे

चला। उसको पीछे आता देख कर सब चोर मारे भय के सब धन वहीं छोड़ कर भिन्न भिन्न दिशाओं में भग गये। उस धनको ले कर कोतवाल आदि तो वापस लौट गये परन्तु धना सेठ पांचों पुत्रों सहित सुसुमा की खोज में और आगे बढ़ा। उसको तलवार हाथ में लिये हुए आते देख कर चिलाति पुत्रने अपनी खड्ग से सुसुमा का मस्तक धड से अलग कर धड़ को वही डाल मस्तक हाथ में ले कर शिघ्रतया भग गया। धना सेठ जब उस स्थान पर आया तो सुसुमा को मरी हुई देख कर विलाप करने लगा और क्षण वार ठहर कर वापिस अपने नगर को चला गया।

धन श्रेष्ठी दूसरे रोज पुत्रों सहित जब श्रीवीरप्रभु के पास धर्मदेशना सुनने गये तो प्रभुने उपदेश किया कि–इस संसार में मनुष्य, यह मेरा पिता है, यह मेरी माता है, यह मेरे बांधव है, यह परीजन है, ये स्वजन हैं, और यह द्रव्य मैंने उपार्जन किया हैं ऐसा मानते हैं परन्तु वे यह नहीं जानते कि वे खुद यमराज के वश में हैं। इत्यादि जिनेवर की वाणी सुन कर प्रतिबोध होने से धन श्रेष्ठीने दीक्षा ग्रहण की और तीव्र तपस्या कर स्वर्ग को सिधारे। उसके पांचों पुत्रोंने भी श्रावक धर्म अंगीकार किया।

इधर चिलाति दासी का पुत्र हाथ में सुसुमा का मस्तक लेकर दौड़ा जाता था और उस मस्तक से निकलते हुए खून से उसका शरीर ओतप्रोत हो रहा था। थोड़ी दूर जाने पर

उसने एक मुनि को कायोत्सर्ग करते देखा। उनके समीप जाकर चिलातिपुत्रने कहा कि–हे मुनि! मुझे शीघ्र धर्मोपदेश सुनाइयें, अन्यथा मेरी खड्गद्वारा इस स्त्री के मस्तक के समान मैं तुम्हारा मस्तक भी धड़ से अलग कर दूंगा। यह सुन कर मुनिने उसे योग्य पात्र समझ कर संक्षेप से "उपशम, विवेक और संवर" ये तीन पद कहे। तत्पश्चात् नवकार मंत्र बोलते हुए वे मुनि आकाशमार्ग से अन्तर्ध्यान हो गये।

मुनि के कहे हुए पदों का स्मरण कर वह चोरपति विचार करने लगा कि "उपशम का क्या अर्थ है?" विचार करते करते उसके मन में समझ पड़ी की उपशम अर्थात् क्रोध की शान्ति, यह उपशम तो मेरे में कहाँ है? बिलकुल नहीं। ऐसा विचार कर उसने अपने हाथ में से क्रोध के चिन्हभूत खड्ग को फैंक दिया। फिर विचार करते हुए उसने विवेक पद का यह अर्थ लगाया कि–कृत्य (करने लायक) के लिये प्रवृत्ति करना और अकृत्य के लिये निवृत्ति करना इसे विवेक कहते हैं, इस विवेक से धर्म होता है। ऐसा विवेक मेरे में कहां है? क्यों कि दुष्टता को सूचित करनेवाला स्त्री का मस्तक तो मेरे हाथ में है। ऐसा विचार कर उसने स्त्री के मस्तक को त्याग किया। फिर संवर का अर्थ विचारते हुए उसने समझा कि पांचों इन्द्रियों और मन का निरोध करना संवर कहलाता है।

वह संवर मेरे जैसा स्वेच्छाचारी को–सर्व प्रकारसे पतित को कहाँ से हो ? नहीं हो सकता । तो मुझे उसके लिये प्रयत्न करना चाहिये । इस प्रकार बिचार कर पहले वो मुनि जिस स्थान पर खड़े थे उसी स्थान पर वह भी उस मुनि के समान कायोत्सर्ग कर खड़ा हो गया और प्रतिज्ञा की कि जब तक स्त्रीहत्या का पाप स्मरण में आवे तब तक मेरे देह को मैं बोसराता हूँ अर्थात् तब तक मैं कायोत्सर्ग में रहूँगा ।

अब भावमुनि हुए चिलाति पुत्र का शरीर रुधिर से व्याप्त था इस लिये उसके गंध से असंख्य चीटियें एकत्रित हो कर उसके शरीर को छेद छेद कर चलनी के समान बना दिया । वे चीटियें पेंर से खाती खाती मस्तक पर आ निकली । इस प्रकार अढ़ाई दिन तक महातीव्र वेदना को सहते हुए भी वे किंचित् मात्र भी बिचलित नहीं हुए । अन्त में आयुष्य पूर्ण कर वे महात्मा मृत्यु को प्राप्त कर आठवें सहस्रार देवलोक में देवता हुआ ।

हे भव्य प्राणियों ! सद्वाक्य के अर्थ को बुद्धिपूर्वक विचार कर चिलातिपुत्रने बड़े पाप का नाश किया इसी प्रकार यदि तुम भी आश्रवों का त्याग करोगे तो तुम्हारे हाथ में ही मोक्षलक्ष्मी क्रीड़ा करेगी ।

इत्यब्ददिनपरिमितोपदेशप्रासादग्रंथस्य वृत्तौ
प्रथमस्थंभे दशमं व्याख्यानम् ॥ १० ॥

व्याख्यान ११ वां

समकित के तीसरे वैयावृत्य नामक लिंग के विषय में—

नववें व्याख्यान के आरम्भ के श्लोक में "वैयावृत्यं जिने साधौ, चेति लिंगं त्रिधा भवेत्।" इन आखिरी दो पदों में 'जिन' अर्थात् रागादि अठारह दोषों को जीतनेवाले देव और तत्त्व का प्रकाश करनेवाले तथा पांच प्रकार के आचार के पालने में तत्पर 'साधु' अर्थात् 'गुरु' इन में से जिनेश्वर की द्रव्यपूजा तथा भावपूजा द्वारा वैयावृत्य करना चाहिये और गुरु की अशन, पानादि द्वारा वैयावृत्य अर्थात् सेवा अवश्य करनी चाहिये। क्यों कि वह प्राणियों के लिये लाभदायक होती है। इसे समकित का तीसरा लिंग समझना चाहिये। इसके लिये संप्रदायागत नंदिषेण का दृष्टान्त है जो इस प्रकार हैं:-

नंदिषेण का दृष्टान्त

वैयावृत्यं वितन्वानः, साधूनां वरभावतः।
बध्नाति तनुमान्नान्दिषेणवत् कर्म सुन्दरम् ॥१॥

भावार्थः—श्रेष्ठ भाव से साधुओं को वैयावच्च करनेवाले प्राणी नंदिषेण मुनि समान शुभ कर्मों का उपार्जन करते हैं।

नंदि ग्राम में सोमिल नामक ब्राह्मण के सोमिला नामक स्त्री से नंदिषेण नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उस पुत्र की बाल्यावस्था में ही उसके माबाप मर चुके थे। नंदिषेण मस्तक के केश से लगा पेर के नख तक कुरूप था। उसके नेत्र बिल्ली के नेत्रें के समान मांजरे थे, उसका उदर गणेश के समान मोटा था, उँटके समान होट लम्बें थे और हाथी के समान उसके दांत बाहर की ओर निकले हुए थे। उसको दुर्भागी जान कर उसके स्वजनोंने भी उसको छोड़ दिया था इस लिये वह मामा के घर जाकर दासकर्म करने लगा। अत्यन्त कुरूप होने से उसको किसीने अपनी कन्या नहीं दी। इससे उसे अत्यन्त खेदीत देखकर उसके मामाने उससे कहा कि "तू खेद न कर, मेरे सात कन्यायें हैं उनमें से मैं एक तुझको दूंगा।" बाद में उसने उसकी सब लडकियों को अनुक्रम से नंदिषेण के साथ विवाह करने को कहा तो सब बोली कि– हम विष पी लेंगी अथवा गले में फांसी लगा लेंगी परन्तु नंदिषेण को पतिरूप से अंगीकार नहीं करेगी। उसके मामा को निरुपाय हुआ जानकर नंदिषेण को इतना खेद हुआ कि उसने उसके मामा के घर को छोड़ कर वन में जाकर भृगुपात[1] कर मरने की तैयारी की कि इस बीच में उसने समीप ही एक मुनि को कायोत्सर्ग कर खड़े हुए देखा।

---

१. पर्वत के उँचे शिखर से गिर कर मर जाना। इसको भैरवजव भी कहते हैं।

मुनिने उसको भृगुपात करने से रोक कर उसका कारण पूछा। इस पर उस मुनि से प्रणाम कर अपना सब वृत्तान्त कह सुनाया। मुनिने कहा कि—हे मुग्ध! निरन्तर मलिन देहवाली, जिसके शरीर के बारह द्वारों में से मल बहता ही रहता है ऐसी स्त्रीयों में तू आसक्ति न रख, ऐसे मरण से कोई कर्म क्षय नहीं होता अपितु कर्मवृद्धि होती है परन्तु यदि तुझे सुख की आशा हो तो जीवनपर्यंत चारित्रधर्म की प्रतिपालना कर कि जिससे आगामी भव में तुझे सुख प्राप्त हो सके। यह सुन कर उसने शीघ्र ही उस मुनि के पास प्रव्रज्या ग्रहण की। गुरु के पास विनयपूर्वक धर्मशास्त्रों का पठन करते हुए वह गीतार्थी हुआ। अंत में उस नंदिषेण मुनिने अभिग्रह किया कि—निरन्तर छट्ठ तप कर पारणे के दिन वृद्ध, ग्लान और अनेक साधुओं की वैयावच्च कर बाद में आंबिल करना।

इस प्रकार अविच्छिन्न अभिग्रह का पालन करते हुए एक बार इन्द्रने उसकी सभा में नंदिषेण की उग्र तपस्या तथा निश्चल अभिग्रह की प्रशंसा की। इस पर अविश्वास होने से दो देवता इस बात की परीक्षा लेने के लिये उसके पास आये। एक देवता ग्लान साधु का रूप धारण कर ग्राम के बाहर ठहरा और दूसरा देव साधुके रूप में नंदिषेण के पास आया। उस समय नंदिषेण मुनि छट्ठ का पारणा होने से पच्चख्खाण कर भोजन करने बैठता ही था कि उस

द्रव्य साधुने भाव साधु से कहा कि-" अरे नंदिषेण ! तेरा अभिग्रह कहां गया ? इस नगर के बाहर एक ग्लान साधु अत्यन्त तृषाक्रांत पड़ा हुआ है उसका बिना वैयावृत्य किये तू क्यों कर खाने बैठता है ? " यह सुन कर नंदिषेण मुनि उसका भिक्षापात्र दूसरे मुनि के पास रख कर यह ग्लान साधु के लिये प्रासुक जल लेने को निकला। उस देवताने देवशक्ति द्वारा सब घरों के पानी को अनेषणीय कर देने से नंदिषेण मुनि को कई घरों पर फिरना पड़ा। अन्त में एक घर से उसको शुद्ध जल मीला जिस को लेकर उस साधु के साथ नंदिषेण ग्राम बाहर ग्लान साधु के पास गया। उस ग्लान साधु को अतिसार की व्याधि थी, इस से नंदिषेण उसके शरीर को धोने लगा। उस समय उस देवने अत्यन्त दुर्गंधी फैलाई, परन्तु नंदिषेण उससे खेदित न हो कर विचार करने लगा कि-अहो ! कर्म की गति विचित्र है, वह किसी को नहीं छोड़ता। इस प्रकार शुद्ध भावना भाते हुए वह उस ग्लान साधु को उसके कंधे पर ऊठा कर उपाश्रय की ओर ले जाने लगा। मार्ग में उस ग्लान साधुने बारंबार दस्त कर नंदिषेण के समस्त शरीर को विष्टा से भर दिया। तिस पर भी नंदिषेण को बिलकुल घृणा उत्पन्न नहीं हुई और उसको उसी दशा में उपाश्रय में ला कर विचार करने लगा कि-अरे ! मैं इस साधु को किस प्रकार रोगमुक्त करूंगा ? ऐसा

विचार कर वह खुद की आत्मा को धिक्कारने लगा। इस प्रकार उसको वैयावृत्य में निश्चल जान कर वे दोनों देव प्रत्यक्ष हुए और उसको वंदना कर, क्षमा याचना कर, सुगंध पुष्पोदक की वृष्टि कर उसको प्रशंसा करते करते स्वर्ग को लौट गये।

नेमिचरित्र में नंदिषेण मुनि का बारह हजार वर्ष तक तपस्या करना और वसुदेव हिंडि में पंचावन हजार वर्ष तक तपस्या करना कहा गया है।

अन्त में नंदिषेण मुनिने जब अनशन ग्रहण किया तब कोई चक्रवर्ती राजा उसके सर्व अन्तःपुर सहित उसको वन्दना करने निमित्त आया। उस चक्रवर्ती की अत्यंत स्वरूपवान स्त्रियों को देख कर उसकी पूर्व स्थिति का स्मरण होने से उस मुनिने ऐसा निदान किया कि– इस तपस्या के प्रभाव से मैं स्त्रीवल्लभ बनुं। फिर वह मुनि कालधर्म को प्राप्त कर सातवें महाशुक्र देवलोक में देवता हुआ।

देवलोक से चव कर नंदिषेण का जीव सूर्यपुर में अंधकवृष्णी राजा की सुभद्रा नामक राणी से दसवां वसुदेव नामक पुत्र हुआ। वह कुमार पूर्व जन्म के किये निदान के कारण स्त्रीवल्लभ हुआ। वसुदेव कुमार नगर में जहां जहां फिरता वहां वहां नगर की स्त्रियें उनके गृहकार्यों को

छोड़ कर उसके पीछे हो जाती थी, इस से उद्वेग पाये हुए पुरजनोंने समुद्रविजय राजा को विज्ञप्तिपूर्वक यह सब वृत्तान्त जाहिर किया जिसको सुन कर राजाने पुर जनों को समझा-बुझा कर विदा किया। फिर वसुदेव को बुला कर उससे कहा कि-आज से तू अपने राजगढ़ में ही क्रीडा करना, बाहर मत निकलना। वसुदेवने उसकी आज्ञा को सिरोधार्य किया।

एक बार ग्रीष्मऋतु में शिवादेवी से समुद्रविजय के विलेपन के लिये भेजे हुए कटोरे को ले जाते हुए दासी को देख कर वसुदेव कुमारने पूछा कि-हे दासी! क्या ले जाती है? ला मुझे दें। दासीने देने से इन्कार किया इस पर वसुदेवने बलात्कारपूर्वक उसके पास से चन्दन का कटोरा छीन कर चन्दन का अपने शरीर पर विलेपन किया। इस से रुष्टमान हुई दासीने कहा कि-ऐसे बदमाश हो इसी कारण घररूपी केदखाने में रखे गये मालूम होते हों। यह सुन कर वसुदेवने पूछा कि-यह क्यों कर? इस पर उसने पुरवासियों सम्बन्धी सब वृत्तान्त कह सुनाया। इसमें वसुदेव अपना अपमान समझ कर, रोष में भर उसी रात्रि को चूपके से नगर से बाहर निकल गया और उसकी जंघा चीर कर उसके रुधिर से नगर के दरवाजे पर लिखा कि, "भाई के अपमान से वसुदेवने यहां चित्ता में प्रवेश किया है।" बाद में उसके समीप ही एक चित्ता बना कर उसमें किसी मुर्दे को जला कर वसुदेव देशान्तर चला गया।

गांव गांव घूमते हुए अनुक्रम से बहतर हजार विद्याधर आदि की कन्याओं के साथ उसने विवाह किया। एक बार शौरीपुर में रोहिणी राजपुत्री का स्वयंवर हो रहा था, जिस में कई राजा और राजपुत्र एकत्रित हुए थे। वसुदेव भी वामन और कुब्ज का रूप बना वहां पहुंचा। सर्व लोग उसे वामनरूप से देखते थे किन्तु रोहिणी उसको मूलरूप से ही देखती थी, इस से रोहिणीने उस पर मोहित होकर अन्य सर्व का त्याग कर उसके कंठ में ही वरमाला आरोपण की। यह देख कर समुद्रविजय आदि राजागण क्रोधित हो कर उस वामन के साथ युद्ध करने को तैयार हुए। वसुदेवने सोचा कि–बड़े भाई के साथ युद्ध करना अयुक्त है इस लिये उसने उसके नाम से अंकित बाण समुद्रविजय की ओर फैंका। उस बाण को ले कर देखने पर "वसुदेव तुम को प्रणाम करता है" ऐसे अक्षर पढ़ कर समुद्रविजयने जाना कि यह तो मेरा छोटा भाई है, किसी कारणवश उसने ऐसा रूप धारण किया जान पड़ता है। फिर युद्ध बन्द कर सब मिले, परस्पर आनन्द हुआ और वसुदेव के साथ रोहिणी का विवाह कर उनको ले कर समुद्रविजय अपने नगर को लौटा।

कुछ समय बाद हाथी, सिंह, चन्द्र और समुद्र इन चार स्वप्नोंद्वारा सूचित बलराम को रोहिणीने जन्म दिया।

इस के बाद देवकीने सात स्वप्न से सूचित वासुदेव (कृष्ण) को जन्म दिया (इस चरित्र का विस्तार श्री धर्मदास गणिकृत ग्रंथ से जाना जा सकता है)। आयुष्य पूर्ण होने पर वसुदेव मृत्यु प्राप्त कर स्वर्ग सिधारें।

तीसरे वैयावृत्य नामक लिंग के विषय में दृढ़ निश्चय-वाले नंदिषेण मुनिने राजाओं से भी प्रशंसनीय पदवी को प्राप्त कर अन्त में मोक्षसुख को प्राप्त किया अतः हे भव्य प्राणी! तुम भी वैयावृत्य के लिये प्रयास करो।

इत्यब्दिदिनपरिमितोपदेशप्रासादग्रंथस्य वृत्तौ प्रथमस्थंभे एकादशं व्याख्यानम् ॥ ११ ॥

व्याख्यान १२ वां।

तीसरा विनय द्वार।

अर्हत्सिद्धमुनीन्द्रेषु, धर्मचैत्यश्रुतेष्वपि।
तथा प्रवचनाचार्योपाध्यायदर्शनेष्वपि ॥ १ ॥
पूजा प्रशंसनं भक्तिरवर्णवादनाशनम्।
आशातनापरित्यागः, सम्यक्त्वे विनया दश ॥२॥

भावार्थः—अर्हत्, सिद्ध, मुनि, धर्म, चैत्य, श्रुत, प्रवचन, आचार्य, उपाध्याय और दर्शन के विषय में पूजा, प्रशंसा, भक्ति, अवर्णवाद का नाश और आशातना

का परित्याग करना यह समकितसूचक दश प्रकार का विनय है।

विस्तरार्थः—सुर और असुर आदि द्वारा की हुई पूजा को जो अर्हं के लायक हो वह अर्हत् कहलाती है।

उक्कोसं सत्तरिसयं, जहन्न वीसा य दस विहरंति।
जम्मं पइ उक्कोसं, वीसं दस हुंति जहन्ना ॥१॥

भावार्थः—एक काल में उत्कृष्ट से एक सो सीत्तेर और जघन्य से बीस या दस तीर्थंकर विचरते हैं। जन्म द्वारा उत्कृष्ट से बीस एक काल में जन्मते हैं और जघन्य से एक काल में दस तीर्थंकर पैदा होते हैं।

सिद्ध अर्थात् जो कृतकृत्य हो गये हैं। मुनि अर्थात् मनन करने के स्वभाववाले, सत्य वचन के प्रकाशक। धर्म–एक से लगा कर क्षांत्यादि दश प्रकार का। चैत्य–तीन भवनों के शाश्वत और अशाश्वत जिनभवन। उन में शाश्वत जिनबिंबो की संख्या इस प्रकार हैः—

देवेसु कोडिसयं, कोडि बावन्न लख्ख चउणवइ।
सहसा चउआलीसं, सत्तसया सट्ठी अप्भहिआ।१।

भावार्थः—देवलोक में (वैमानिक में) एक सो बावन करोड़, चोराणुं लाख, चवालीस हजार, सात सो साठ शाश्वत जिनबिंब हैं।

लक्खतिगं इगनवइ, सहस्स विसा य तिन्नि सया य।
जोइस वज्जिऊणं, तिरियं जिणबिंबसंख इमा ॥२॥

भावार्थः—तीन लाख इकाणुं हजार तीन सो बीस शाश्वत जिनबिंब ज्योतिषी के अतिरिक्त तिर्च्छा लोक में हैं।

तेरस कोडिसयाइं, गुणनवइ कोडि सट्ठि लक्खाइं।
भुवणवइणं मज्झे, जोइसियभुवणेसु य असंखा।३।

भावार्थः—तेरा सो नेवाशी करोड़ और साठ लाख शाश्वत जिनबिंब भुवनपति में हैं, और ज्योतिषी के भुवन (विमान) में तो असंख्यात हैं।

कोडि सयाइं पन्नरस, कोडि बायाल लक्ख अडवन्ना।
छत्तीसं पुण सहसाइं, असिहियाओ सव्वग्गं ॥४॥

भावार्थः—पन्द्रह सो बियालीस करोड़, अठावन लाख, छतीस हजार और अस्सी–इतनी शाश्वत जिनबिंबों की कुल संख्या है (यह संख्या व्यंतर और ज्योतिषी के अतिरिक्त समझना चाहिये।)

अशाश्वता अर्थात् भरतचक्रीद्वारा निर्मित जिनबिंब। श्रुत अर्थात् द्वादशांगी आदि सूत्र। प्रवचन–चतुर्विध संघ। आचार्य–गच्छाधिपति। उपाध्याय–वाचना प्रदान करनेवाले (मुनियों को पढ़ानेवाले) तथा दर्शन–जिन-

शासन अथवा सम्यक्त्व। ये अर्हंत आदि दस पदों की पूजा, प्रशंसा, भक्ति, अवर्णवादवर्जन तथा आशातनापरित्याग-द्वारा विनय करना। अन्य ग्रन्थों में विनय के अनेकों प्रकार बतलाये हैं परन्तु यहां तो दश प्रकार ही माने गये हैं। विनय पर भुवनतिलक मुनि का दृष्टान्त दिया गया है—

भुवनतिलक प्रबन्ध

कुसुमपुर में धनद नामक राजा था। उसके पद्मावती नामक रानी और भुवनतिलक नामक राजकुमार था। एक बार राजा धनद अपने मंत्रियों सहित सभा में बैठा था कि उस समय रत्नस्थल नगर के राजा अमरचन्द्र के प्रधानने राजा की आज्ञा से राजसभा में प्रवेश किया। उसने राजा को नमस्कार कर विज्ञप्ति किया कि—हे स्वामी! हमारे राजा अमरचन्द्र के यशोमती नामक पुत्री है, वह एक बार पुष्पोद्यान में क्रीड़ा कर रही थी कि उस समय उसने विद्याधरियों के मुख से तुम्हारे पुत्र भुवनतिलक कुमार के गुणसमूह को गाते हुए सुना तब से ही वह यशोमती तुम्हारे कुँवर का ही ध्यान करती हुई महाकष्ट से दिवस निर्गमन करने लगी। वियोग की विधुरता से कृश हुई कुमारी को देख कर राजाने उससे कृश होने का कारण पूछा तो उसने उसका मनोगत अभिप्राय उससे निवेदन किया। वह सुन कर हमारे राजाने मुझे आप के पास आप के पुत्र के साथ उसका लग्न सम्बन्ध करने के लिये भेजा

है, अतः आप मेरी बात स्वीकार कर हम को आभारी कीजिये। उस प्रधान के बचन सुन कर धनद राजाने कुमार का विवाह करना स्वीकार कर उस प्रधान का उपयुक्त सन्मान किया।

बाद में शुभ दिन को धनद राजा की आज्ञा से मंत्री और सामन्त राजाओं सहित राजकुमार भुवनतिलक ने लग्न के लिये प्रयाण किया। मार्ग में सिद्धपुर नगर के पास आते हुए कुमार एकदम आंखें बन्ध कर मूर्च्छा खाकर रथ में पड़ गया। उसको सब पुकारने लगे परन्तु वह तो मूंगे के समान एक अक्षर भी नहीं बोलता था। इस पर हिमाघात कमल के समान मुखवाले सचिवगण नगर में से कई मांत्रिकों को बुलाकर लाये, परन्तु उन सब के प्रयोग उखर भूमि में वृष्टि के समान निष्फल हुए। उसी समय थोडी-सी दूरी पर कोई केवली स्वर्णकमल पत्र पर बैठ कर देशना दे रहे है ऐसा सुन कर वे मंत्रीगण केवली के पास जाकर उनको वन्दना कर देशना सुनने लगे। केवली भगवान बोले कि-"हे भव्य प्राणियों! इस संसाररूपी अगाध समुद्र में मत्स्यादिक के समूह के समान संभ्रम से भटकते हुए जीव बहुत कष्ट भोग कर, पूर्ण सत्कृत्यों द्वारा अद्भुत मनुष्य जन्म को प्राप्त करते हैं। उस मनुष्य जन्म को सफल करने के लिये मोक्षसुख-रूपी वृक्ष को वृद्धि करने में मेघ के समान विनयद्वारा सिद्धादि परमेष्ठी का आराधन करो।"

इत्यादि देशना सुनकर कंठीरव नामक प्रधान मंत्रीने प्रणामपूर्वक केवली को पूछा कि "हे भगवान ! भुवनतिलक राजकुमार को अणचिंती दुःखप्राप्ति होने का क्या कारण है ?" केवली ने उत्तर दिया कि "धातकीखंड के भरत-क्षेत्र में भवनागार नामक पुर में अपने पापसमूह का नाश करनेवाले कोई सूरि अपने गच्छ सहित पधारे। उन सूरि का एक वासव नामक शिष्य महात्माओं का शत्रुरूप था। वह निरन्तर दुर्विनयरूप समुद्र में निमग्न रहता था। एक वार उसको आचार्यने उपदेश दिया कि 'वत्स ! विनयगुण धारण कर। कहा भी है कि—

विनयफलं शुश्रूषा, गुरुशुश्रूषाफलं श्रुतज्ञानम्।
ज्ञानस्य फलं विरतिर्विरतिफलं चाश्रवनिरोधः ॥१॥

संवरफलं तपोबलमथ तपसो निर्जराफलं दृष्टम्।
तस्मात् क्रियानिवृत्तिः, क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम् ॥२॥

योगनिरोधाद्भवसन्ततिक्षयः सन्ततिक्षयान्मोक्षः,
तस्मात् कल्याणानां, सर्वेषां भाजनं विनयः ॥३॥

भावार्थः—विनय का फल गुरु की सेवा करना है, गुरुसेवा से श्रुतज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान के फल से विरति प्राप्त होती है, विरति के फलस्वरूप आश्रव का निरोध होता

है। आश्रवनिरोध (संवर) का फल तप करने के लिये बल की प्राप्ति होता है। तप का फल कर्म निर्जरा है। कर्म निर्जरा से क्रिया की निवृत्ति होती है। क्रिया रहित होने से अयोगिपन प्राप्त होता है। योग के निरोध से भव की परंपरा का नाश होता है और भवपरंपरा के क्षय से मोक्ष की प्राप्ति होती है, अतः विनय सब प्रकार के कल्याण का भाजन है।"

इस प्रकार विनयगुण के लिये गुरुने बहुत उपदेश दिया परन्तु उद्धत शिष्य को तो वह उपदेश ऊलटा द्वेषरूप हुआ इसलिये गुरु तथा अन्य सब मुनियोंने उसकी उपेक्षा की। इससे क्रोधित होकर उसने प्रासुक जल में गुरु तथा अन्य मुनियों को मारने के लिये तालपुट विष मिला दिया और स्वयं भय के मारे वहां से भाग कर किसी अरण्य में जाकर सो रहा। उसमें दावानल के जलने से वह दुष्ट साधु रौद्र ध्यान से मृत्यु प्राप्त कर आखिरी नरक में गया। इधर सूरि आदि को उस जल को पीने से शासनदेवने रोक दिया।

वह वासव नरक से निकल कर मत्स्यादि योनियों में पैदा हो कर अनेकों भवों में भटका। वह वासव हाल ही में कुछ कर्म की लघुता होने से राजकुमार हुआ है। अभी पूर्व किये हुए मानसिक ऋषिघात सम्बन्धी शेष रहे पाप के उदय से ऐसी दुर्दशा को प्राप्त हुआ है। हे मंत्री! इस

प्रकार मेरे से कहे हुए उसके पूर्वभव के वृत्तान्त को तुम जब उस राजकुमार को कहोंगे तो वह सचेत हो जायगा।"

केवली के वचन को अंगीकार कर मंत्री आदि सब कुमार के पास आये और मंत्रीने उससे केवली द्वारा कहा हुआ सब वृत्तान्त सुनाया कि वह शीघ्र ही सचेत हो गया। फिर जातिस्मरण प्राप्त होने से कुमार केवली को वंदना करने को आया। मुनि को वन्दना कर पूर्व कर्मों का क्षय करने के लिये उसने तुरन्त ही दीक्षा ग्रहण की। उसके साथ ही साथ उन मंत्री आदिने वैराग प्राप्त कर चारित्र अंगीकार किया। राजकुमारी यशोमती यह वृत्तान्त सुन कर क्षणभर के लिए मूर्च्छित होगई परन्तु फिर तुरन्त ही सचेत होकर उसने भी संसार क्षणिक सुख से वैराग्य प्राप्त कर मा-बाप की आज्ञा से चारित्र ग्रहण किया। यह सब वृत्तान्त राजसेवकोंने जाकर धनद राजा से निवेदन किया।

भुवनतिलकमुनि तीर्थंकरादिक दशों पद का विनय करने लगा यह देख कर उसका गुरु भी उसकी विनयगुण की प्रशंसा करने लगा। उसने बहतर लाख पूर्व तक चारित्र का प्रतिपालन किया और कुल अस्सी लाख पूर्व का आयुष्य पूर्ण कर अन्त में पादपोपगम अनशन ग्रहण कर केवलज्ञान प्राप्त कर अनन्त आनन्द के साम्राज्यरूप पद को प्राप्त किया।

"हे भव्य जीवों! इस भुवनतिलक मुनि के दृष्टान्त को

श्रोत्रद्वयना कुंडलरूप कर (श्रवण कर) अर्हदादिक दश पद की निरन्तर विनय-सेवा करो कि जिससे शीघ्रतया मोक्षलक्ष्मी तुम्हारे उत्संग में आकर रहे।

इत्यब्ददिनपरिमितोपदेशप्रासादग्रंथस्य वृत्तौ
प्रथमस्थंभे द्वादशं व्याख्यानम् ॥ १२ ॥

व्याख्यान १३ वां

विनयप्रशंसा

प्राप्नोति विनयाज्ज्ञानं, ज्ञानाद्दर्शनसंभवः।
ततश्चरणसंपत्तिश्चान्ते मोक्षसुखं लभेत् ॥ १ ॥

भावार्थः—विनय से ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञान से दर्शन-समकित की प्राप्ति होती है, दर्शन से चारित्र की प्राप्ति और चारित्र से अन्त में मोक्षसुख की प्राप्ति होती है।

श्रुतज्ञान की अभिलाषावाले पुरुषों को तो विशेषतया गुरुजनों का विनय करना चाहिये। विनयपूर्वक ग्रहण किया हुआ श्रुत तत्काल सम्यक् फल की प्राप्ति कराता है, उसके विना फल की प्राप्ति नहीं होती। कहा भी है कि :—

मातंगसूनोर्वरविष्टरस्थाद्विद्या
गृहीता फलतिस्म शीघ्रम्।

श्रीश्रेणिकस्येह यथा तथा,
स्यात्सप्रश्रयं शास्त्रमधीतमृध्यै ॥ २ ॥

भावार्थः—श्रेणिक राजाने चान्डाल पुत्र को सिंहासन पर बैठा कर विद्या ग्रहण की जिससे उसको शीघ्रतया विद्या का फल प्राप्त हुआ, इसी प्रकार शास्त्र को विनयपूर्वक ग्रहण करने पर सर्व प्रकार की समृद्धि प्राप्त होती है। देखिये:—

विनय प्रसंग पर श्रेणिक राजा का प्रबंध

राजगृह नगर में श्रेणिक राजा राज्य करता था। एक बार श्री वीर प्रभु के मुंह से सतीपन की परीक्षा के लिये उसने प्रसन्न हो कर चेलणा रानी से कहा कि "हे प्रिया! अन्य रानियों से अधिक सुन्दर महल मैं तेरे लिये बनवाना चाहता हूँ सो बतला की कैसा बनवाऊँ?" चेलणाने उत्तर दिया कि "हे स्वामी! मेरे लिये एक स्तंभवाला प्रासाद बनवाइये।" यह सुन कर राजाने एक स्तंभवाला महल बनवाने के लिये अभयकुमार को आज्ञा दी। अभयकुमारने सुतारों को बुला कर हुक्म दिया। सुतार ऐसे महल के योग्य काष्ठ अरण्य में चारों ओर ढूंढने लगे। वहां उन्होंने एक मोटे धड़वाला वृक्ष देख कर विचार किया कि "सचमुच यह वृक्ष किसी देवता से अधिष्ठित होना चाहिये, अतः इन को काटने से पूर्व अपने स्वामी को कोई विघ्न न हो जिस के लिये उन्होंने उसके अधिष्ठायक

देव को उद्देश कर उसकी आराधना के लिये उपवास किया और गंध, धूप तथा पुष्पादिक से उसकी पूजा कर अपने घर चले गये। यह देख कर उस वृक्ष का अधिष्ठायक देव अपने स्थान के भंग होने की आशंका से भयभीत हो कर अभयकुमार के समीप जा कर बोला कि " हे मंत्री! मैं सर्व ऋतुओं के फल पुष्पों से युक्त सुन्दर नन्दन वन सदृश बाग बना कर, घुमनेवाला प्राकार बना उसके बीच में एक स्तंभवाला महल तुम्हारे लिये निर्मित कर दूंगा परन्तु तुम मेरे निवासस्थानरूप उस वृक्ष को काटने की आज्ञा मत देना।" यह सुन कर अभयकुमारने उसकी प्रार्थना स्वीकार की और उस अद्भूत शक्तिवाले व्यन्तरने तत्काल अपने कथनानुसार महल बना दिया। राजा की आज्ञा से चेलणा देवी उस महल में रह कर पद्मद्रह में रहनेवाली लक्ष्मी के समान निरन्तर लीला करने लगी।

एक वार उस नगर में रहेनेवाले किसी चांडाल की गर्भिणी स्त्री को अकाल में केरी खाने का दोहद हुआ। उसने उसके पति को केरी लाने को कहा। उसने उत्तर दिया कि-इस ऋतु में केरी नहीं मिल सकती फिर कहां से ला कर दूँ? स्त्रीने कहां कि-चेलणा रानी के उद्यान में सर्व ऋतुओं के फल एवं पुष्प हैं इसलिये वहां से लाकर दें। चांडालने उत्तर दिया कि-उस वन में राजा का बहुत बन्दोबस्त है परन्तु किसी उपाय से लाउंगा। चाण्डाल रात्रि

के समय उस उद्यान के समीप जाकर उसके प्राकार के बाहर खड़ा रहा और अवनामिनी विद्याद्वारा आम्रवृक्ष की शाखा को नीचे झुका कर उस पर की केरियें तोड़ ली और उन्नामिनी विद्याद्वारा वापीस उसकी शाखा को ऊँची उठा जैसे की तैसी करदी। इस प्रकार उसने उसकी स्त्री का दोहद पूर्ण किया। इस प्रकार केरियों के ले लेने से वह आम्र केरीरहित हो गया। सवेर में उद्यानरक्षकने उस आम्र को केरियों रहित देख कर उसका हाल राजा से निवेदन किया। राजाने अभय को बुला कर कहां कि--जिनमें ऐसी शक्ति हो वह अन्तःपुर में भी प्रवेश क्यों न कर सके ? अतः उस चोर को सात दिन में पकड़ लाओ, अन्यथा उस चोर का दण्ड तुम्हें भोगना पड़ेगा। राजा की आज्ञा अंगीकार कर अभयकुमार रातदिन नगर में घूमने लगा परन्तु चोर हाथ नहीं आया। अन्त में सातवी रात्री को किसी नट का खेल देखने के लिये जुआरी, स्त्रीलंपट, चोर और मांसलुब्धक एक स्थान पर एकत्रित हुए थे, अभयकुमार भी वहां जा पहुंचा। नट के आने में कुछ देर बाकी थी इस लिये अभयकुमारने सब लोगों से कहा कि--भाइयों ! जब तक नट नहीं आये तब तक मैं एक बात कहता हूँ सो सुनो—

वसन्तपुर में एक जीर्ण नामक निर्धन वणिक रहता था। उसके एक पुत्री थी। वह युवा हो गई फिर भी उसको कोई योग्य वर नहीं मीला इस लिये योग्य वर की प्राप्ति के लिये

वह कामदेव की पूजा करने लगी। एक वार वह कुमारी चुप के पुष्प लेने के लिये उद्यान में गई। उद्यानरक्षकने उसे पुष्पों की चोरी करते हुए पकड़ लिया, किन्तु उसके अति सुन्दर स्वरूप को देख कर उद्यानपालक उस पर मोहित हो गया और उससे कामक्रीड़ा के लिये प्रार्थना की, इस पर वह कुमारी बोली कि-मैं अभी अविवाहिता हूँ, इससे स्पर्श करने अयोग्य हूँ। कहा भी है कि—

अस्पृशा गोत्रजा वर्षाधिका प्रव्रजिता तथा।
नाष्टौ गम्याः कुमारी च, मित्रराजगुरुस्त्रियः ॥१॥

भावार्थः—अस्पृशा (चांडाल आदि अस्पर्श्य जाति की), एक गोत्रवाली, बड़ी आयुवाली, दीक्षित, कुमारी, मित्र की स्त्री, राजा की स्त्री और गुरु की स्त्री-ये आठ प्रकार की स्त्रिये अगम्य हैं अर्थात् परपुरुषों का इनको स्पर्श करना ही अयोग्य है।

यह सुन कर माली ने उससे कहा कि-जब तेरा विवाह हो तब तू प्रथम मेरे पास आना स्वीकार करे तो मैं इस समय तुझ को छोड़ शकता हूँ। यह शर्त मंजूर कर वह उस के घर लौट गई। कुछ दिन बाद उस कन्या का विवाह एक योग्य पति के साथ हो गया। प्रथम रात्रि को ही उसने एकान्त में उसके पति से माली के साथ किये हुए वादे का हाल कहा। यह सुन कर उसके पतिने विचार किया कि-

"अहो ! यह स्त्री सत्यप्रतिज्ञ जान पड़ती है।" यह सोच कर उसने उसको आज्ञा दी। आज्ञा पाकर वह स्त्री मणि, मोती और स्वर्ण के अलंकार तथा उत्तम वस्त्र पहन घर के बाहर निकल उद्यान की तरफ चली। मार्ग में उसको चोरों ने आघेरा और उसको सर्व वस्त्र तथा आभूषण उतार कर दे देने को कहा, इस पर उसने अपना सब वृत्तान्त उनको सुना कर कहा कि "हे भाइयों ! मैं अभी जाकर वापीस आती हूँ उस समय तुम्हें कहने अनुसार करुंगी, अभी तो जाने दो।" यह सुन कर चोरोंने उसे जाने दिया। आगे बढ़ कर एक क्षुधापीडित राक्षसने उसको देख कर रोका। उसको भी चोर के समान सत्य वृत्तान्त सुना कर पीछा लौटने का वचन दे कर माली के पास पहुंचीं। माली को कहा कि- मैंने तेरे को पहले वचन दिया था इस से उसको पूरा करने के लिये आज विवाहित होने से तेरे पास आई हूँ। यह सुन कर मालीने विचार किया कि 'अहो ! यह कैसी सत्यप्रतिज्ञ है ?' ऐसा विचार कर उसको अपनी बहन बना कर वस्त्रादि से सन्मान कर वापीस लौटाई। फिर वापीस लौटते समय उसने राक्षस के पास जा कर उसके पूछने पर माली का उनको बहन बनाना व वस्त्रादि देने का सर्व वृत्तान्त कहा। जिस को सुन कर राक्षसने सोचा कि "अहो ! क्या मैं माली से भी अधम हूँ ?" ऐसा विचार कर उसको मुक्त किया। वहां से चल कर वह उस

की वाट जोते राह में बैठे हुए चोरों के पास आई। चोरोंने पूछने पर उसने माली तथा राक्षस के साथ होनेवाले सब हकीकत बतलाई। जिसे सुन कर उन्होंने कहा कि "अहो! क्या हम उन दोनों से भी अधम कहलायेगें?" ऐसा विचार कर उन्होंने भी उसको बहन के समान समझ कर उसका सन्मान कर जाने की आज्ञा दी। फिर घर आ कर उसने यह सब हाल उसके पति से कहा। यह सुन कर वह भी अत्यन्त आनन्दित हुआ और उसके साथ सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करने लगा।

इस प्रकार कथा कह कर अभय मंत्रीने सब से पूछा कि "हे भाइयों! बतलाओं कि उस स्त्री का पति, चोर, राक्षस और माली इन चारों में से किसने दुष्कर काम किया?" अभय-कुमार के प्रश्न के उत्तर में जो स्त्री के इर्ष्यालु थे उन्होंने कहा कि "हे मंत्री! अपनी नवविवाहिता सुन्दर युवा स्त्री को माली के पास जाने की जिस पतिने आज्ञा दी उसने बहुत दुष्कर कार्य किया हैं।" जो क्षुधातुर थे उन्होने कहा कि "राक्षसने भूखे होने पर भी उसको जाने की आज्ञा दी अतः राक्षसने बहुत दुष्कर कार्य किया।" लंपट पुरुषोंने कहा कि "ऐसी स्वरूप-वान स्त्री को जैसी की तैसी वापस जाने दिया उस मालीने बहुत दुष्कर कार्य किया।" अन्त में आम्रफल के चोरनेवाले चाण्डालने उन चोरों की प्रशंसा की। यह सुन कर अभय-कुमार मंत्रीने तुरन्त ही उस चाण्डाल को पकड़ लिया। फिर

उसको दबा कर केरियों के चोरने के बारे में पूछा। चंडालने स्त्री का दोहद पूर्ण करने के लिये विद्या की सहायता से केरियों का लेना स्वीकार किया। उस चांडाल को राजा के पास लेजाकर अभयकुमारने उसका सब वृत्तान्त कहा। इस पर राजाने उसका वध करने की आज्ञा दी। इस पर अभयकुमारन कहा कि–हे स्वामी! इसके पास से पहले दोनों अपूर्व विद्या ग्रहण करो, फिर जैसा योग्य प्रतीत हो वैसा करना। क्योंकि—

बालादपि हितं ग्राह्यममेध्यादपि काञ्चनम्।
नीचादप्युत्तमा विद्या, स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥१॥

भावार्थः—बालक से भी हितवचन ग्रहण करना, अशुचि में से भी कांचन का ले लेना, नीच पुरुषों से भी उत्तम विद्या ग्रहण करना और नीच कुल से भी स्त्रीरत्न का ले लेना नीतिशास्त्र का कथन है।

अभयकुमार के इस प्रकार कहने पर श्रेणिक राजा सिंहासन पर बैठे बैठे उस चाण्डाल को उसके सामने नीचे बिठा कर उसके पास से अवनामिनी और उन्नामिनी विद्या सिखने लगे परन्तु बार बार बतलाने पर भी वह विद्या राजा को हृदयंगम नहीं हुई। इस पर राजाने क्रोधित होकर कहा कि–अरे चांडाल! मुझे विद्या देने में तूं खोटाई

करता है। ऐसा कह कर उसका तिरस्कार करने लगे। यह देख कर अभयकुमारने कहा कि–हे स्वामी! यदि विद्या ग्रहण करनी हो तो इसको सिंहासन पर बिठा कर आप हाथ जोड़ कर पृथ्वी पर इसके सन्मुख बैठिये तब विद्या प्राप्त हो सकेगी। यह सुन कर राजाने वैसा ही किया कि शीघ्र ही मानो हृदय में अंकित हो उस प्रकार दोनों विद्यायें दृढ़ हो गई। पश्चात् विद्यागुरु होनेसे उस चांडाल को अभयकुमारने राजा द्वारा मुक्त कराया।

इस कथा से विनय ही सर्वत्र फलदायी है ऐसा समझ कर विनयपूर्वक श्रुत का अध्ययन आदि करना चाहिये।

इत्यब्दिनपरिमितोपदेशप्रासादग्रंथस्य वृत्तौ प्रथमस्तंभे त्रयोदशं व्याख्यानम् ॥ १३ ॥

व्याख्यान १४ वां।

अविनय का फल

अन्वय से विनय का स्वरूप कह कर अब व्यतिरेक से उसका व्याख्यान करते हैं।

प्रकृत्या दुर्विनीतात्मा, गुरूक्ते प्रतिकूलधीः।
संसारसागरे मग्नो, विनेयः कूलवालकः ॥ १ ॥

भावार्थः—प्रकृति से ही अविनयवान (उद्धत) और

गुरु के वचन से विपरीत वर्तन करनेवाला कूलवालक साधु संसारसागर में डूब गया जिसका दृष्टान्त इस प्रकार है—

कूलवालक का दृष्टान्त

किसी आचार्य के एक अविनयी शिष्य था। उनको यदि आचार्य शिक्षा देते या ताड़ना करते तो वह उन पर क्रोधित होता था। एक बार आचार्य उस शिष्य को साथ ले कर उज्जयंत (गिरनार) गिरि की यात्रा करने को गये। वहां वह शिष्य यात्रालु स्त्रियों को कुदृष्टि से देखने लगा। यह देख कर गुरुने उसको ऐसा करने से मना किया इस पर वह उन पर कोपायमान हुआ और यात्रा कर लौटने पर उनके पीछे रह कर उनको मारने के लिये उस दुष्ट शिष्यने गुरु पर एक बड़ा पत्थर लुढ़का दिया परन्तु वह पत्थर गुरु के दोनों पैरों के बीच में हो कर निकल गया। उसके इस दुष्ट कृत्य को देख कर गुरुने उसे शाप दिया कि— हे दुरात्मा! तेरा स्त्री से विनाश होगा। यह सुन कर उसने ऐसे स्थान पर निवास करना निश्चय किया कि जहां पर स्त्रियें न हो कि जिस से गुरु का शाप मिथ्या सिद्ध हो। वह किसी नदी के अग्रभाग में बरान हिस्से में जा कर आतापना लेने लगा। उसके उग्र तप के प्रभाव से उस नदीने उसकी ओर बहना बंध कर दूसरी ओर बहना आरम्भ किया इस लिये लोगोंने उस साधु का नाम कूलवालक रक्खा।

राजगृह नगरी के राजा श्रेणिकने देवताओं द्वारा दी हुई दिव्य कुण्डल की जोड़ी, अठारह चक्र (सेर) का हार और दिव्य वस्त्रों सहित सेचनक हाथी भी अपने पुत्र हल्ल विहल्ल को दे दिया। इस से क्रोधित हो कर कूणिकने कुछ प्रपंच कर उसके पिता श्रेणिक को काष्ठ के पांजरे में बन्दी बना दिया। राजा के परलोकवास होने के कुछ दिन बाद कूणिकने नई चम्पापुरी नामक पुरी बसा कर उसमें उसके काल महाकाल आदि दस भाइयों सहित रहने लगा। बाद में उसकी रानी पद्मावती के सदैव के आग्रह से प्रेरित हो कर उसने हल्ल विहल्ल से हार आदि चारों वस्तुओं की याचना की। इस पर उन दोनों बुद्धिमान् भाइयोंने यह विचार कर कि " यह याचना अनर्थ का मूल है " अपनी सब वस्तुओं को ले कर रात्रि के समय चूपके से वहां से निकल कर उनके मातामह चेटक राजा के पास विशाला नगरी में जा कर रहने लगे। कूणिक को इस की सूचना मिलने पर उसने दूत भेज कर चेटक राजा को कहलाया कि " हल्ल विहल्ल को पीछा हमारे सिपूर्द करो " चेटक राजाने उत्तर दिया कि " शरणागत दोहित्रों को मैं किस प्रकार सौंपुं ? " दूतने जब यह संदेशा कूणिक राजा के पास पहुंचाया तो वह अत्यन्त क्रोधित हो कर तीन करोड़ सुभटों की सैना सहित अपने सदृश बलवान काल महाकाल आदि दशों भाइयों को साथ ले कर चेटक राजा पर चढ़ाई करने

को प्रयाण किया। चेटक राजाने भी उसके सामन्त अठारह राजाओं सहित कूणिक का सामना किया। दोनों में परस्पर घमाशान युद्ध हुआ। प्रथम दिवस के युद्ध में ही चेटक राजाने देवताओं द्वारा दिये हुए अमोघ बाण-द्वारा कालकुमार को यमपुरी में भेज दिया और दोनों लश्करों में युद्ध बन्द हो गया। इस प्रकार दस दिन में कूणिक के दशों भाइयों को चेटकने मार डाला। चेटक राजा को प्रत्येक दिन एक ही बाण छोड़ने का नियम था। अपने दशों भाइयों का मारा जाना देख कर शोकसागर में निमग्न हुए कूणिक चेटक राजा को दुर्जय मान कर अट्ठम तप द्वारा सौधर्मेन्द्र और चमरेन्द्र की आराधना करने लगा। अतः उन दोनो इन्द्रोंने आ कर कूणिक से कहा कि "चेटक राजा जैनधर्मी होने से हमारा साधर्मी है, इस लिये उसको हम नहीं मार सकते, परन्तु तेरे देह की रक्षा करेगें।" बाद में चमरेन्द्रने उसको महाशिलाकंटक और रथमुशल नामक दो संग्राम दिये अर्थात् दो प्रकार के युद्ध सिखाये। उनमें से पहले संग्राम में यदि शत्रुदल में एक कंकर डाला हो तो वह एक बड़ी शिला समान हो कर शत्रु का नाश करता और एक कांटा डाला हो तो वह शस्त्ररूप हो कर नाश करता था। उस संग्रामद्वारा कूणिकने एक दिवस में चेड़ा राजा के चोरासी लाख सुभटों का विनाश किया। दूसरे दिन छन्नु लाख योद्धाओं का

विनाश किया। इस से त्राहीत हो कर तीसरे दिन चेड़ा राजाने श्रावक धर्म में दृढ़, निरन्तर छट्ठ तप के करनेवाले और महापराक्रमी नाग सारथी के पुत्र वरुण नामक अपने सैनापति को कहा कि "हे वीर! आज तो तू सचेत हो कर युद्ध कर।" स्वामी की आज्ञा स्वीकार कर वरुण सेनापति कूणिक के सैन्य के साथ लडाई में जुज गया। भवितव्यतावश कूणिक के सैनापतिने वरुण को बाण द्वारा मर्मस्थान में वेधित किया जिस से वरुणने अपने रथ को दो तीन पग पीछे की ओर हटा कर तीव्र बाण द्वारा उस सैनापति को मार गिराया। फिर शीघ्र ही वह वरुण युद्ध भूमि से निकल दूर जा कर, दर्भ का संथारा बना उस पर बैठ कर, आलोचना प्रतिक्रमण कर, समाधिपूर्वक मृत्यु प्राप्त कर अरुणाभ नामक विमान में चार पल्योपम के आयुष्यवाला देव हुआ। वहां से चव कर वह वरुण का जीव महाविदेह में उत्पन्न हो कर मोक्षपद को प्राप्त करेगा। (वरुण का सविस्तर चरित्र श्रीभगवती सूत्र से जाना जा सकता है)

वरुण के जाने पर चेटक राजाने कूणिक पर बाण फेंका परन्तु कूणिक के शरीर पर इन्द्रने वज्र का कवच रखा था इससे वह बाण उससे टकरा कर भूमि पर गिर पड़ा। चेड़ाराजा की एक ही बाण फेंकने की प्रतिज्ञा होने से उसने फिर दूसरा बाण नहीं छोड़ा। दूसरे दिन फिर उसने बाण फेंका तो वह भी निष्फल गया। इससे चेड़ा

राजाने अपने अमोघ बाणद्वारा भी कूणिक को अजय जान कर पीछा लौट गया और विशाला नगरी में प्रवेश कर दरवाजे बन्द करा दिये। इस पर कूणिकने उस नगरी के चारों ओर घेरा डाल दिया।

रात्रि के समय में हल्ल और विहल्ल सेचनक हाथी पर आरुढ़ होकर नगर से बाहर निकले और गुप्त रीति से कूणिक के सैन्य में प्रवेश कर उस सैना का विनाश करने लगे। इस प्रकार प्रत्येक दिन अपने सैन्य का नाश होता देख कर कूणिकने अपने सैन्य के चारों ओर एक खाई खुदवाई और उसमें गुप्त रूप से खेर के अंगारे भरवा दिये। हल्ल विहल्ल को इसका पता नहीं होने से सदैव के नियमानुसार वे रात्री के समय में सेचनक हाथी पर आरुढ़ होकर सैन्य के समीप आपे। खाई के समीप आने पर हाथीने विभंगज्ञान से जलते हुए अंगारे की गुप्त खाई को देख कर "इन हल्ल विहल्ल का विनाश न हो" इस हेतु से एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा। यह देख कर उन दोनों भाइयो ने अंकुशद्वारा उस पर प्रहार कर कहा कि "हे दुष्ट हाथी! आज तू प्रतिकूल आचरण करता है जो तेरे लिये अयोग्य है।" यह सुन कर उन दोंनो को उसकी पीठ से भूमि पर उतार कर वह हाथी खाई में कूद पड़ा। उस खाई के अन्दर की अग्नि के ताप से भस्म होकर मृत्यु को प्राप्त कर वह हाथी प्रथम स्वर्ग में देवता हुआ। इस प्रकार हाथी को मरा जान

कर दोनों भाई खेदित होकर विचार करने लगे कि "अहो! हम इस पशु से भी अधम हैं कि जिससे इसके जितना भी हम न जान सकें, खैर परन्तु अब हम इस भयंकर पाप से किस प्रकार मुक्त होंगे ?" इस प्रकार विचार करते हुए उन दोनों को वैराग्य उत्पन्न हुआ। इससे शासनदेवने उनको तुरन्त ही उठा कर श्रीवीरप्रभु के पास लाकर खड़ा किया। उन दोनोंने भगवंत के पास दीक्षा ग्रहण की और अनुक्रम से तपस्या कर दोनों भाई सर्वार्थसिद्ध विमान में देवता हुए।

इस ओर कूणिकराजाने मन में ऐसी प्रतिज्ञा की कि "यदि मैं अपने तीक्ष्ण बाणोंद्वारा विशालानगरी का तहस-नहस न कर सकूंगा तो अग्नि में प्रवेश कर अपने आपको भस्म कर दूंगा।" ऐसी कठिन प्रतिज्ञा करने पर भी जब वह विशालानगरी को जीत न सका तो वह अत्यन्त दुःखी हुआ।

इस समय गुरु की आज्ञा का भंग करनेवाला कूल-बालक मुनि जो नदी के किनारे आतापना ले रहा था उस पर कोपित हुई शासनदेवीने आकाश में रह कर कूणिक से कहा कि "यदि मागधिका नामक गणिका कूलवालक मुनि को चारित्र भ्रष्ट कर लावे तो उसकी सहायता से अशोकचन्द्र (कूणिक) राजा विशाला नगरी को जीत सकेगा। उसके बिना वह नगरी नहीं जीती जा सकेगी।" यह सुन कर राजाने मागधिका गणिका को बुला कर सत्कारपूर्वक कूल-वालक को भ्रष्ट कर लाने को कहा। यह बात अंगीकार कर

कपट से श्राविका वेष पहन कर मागधिका नदीकिनारे खड़े हुए उस मुनि के पास पहुँची। मुनि को वंदना कर वह बोलि कि " हे मुनिराज ! स्थान स्थान पर चैत्यों तथा मुनियों को वन्दना कर मेरे भोजन करने का नियम है। आज आपका यहां होना सुन कर मैं यहा वन्दना करने के लिये आई हूँ, अतः हे मुनिराज ! निर्दोष अन्न-जल ग्रहण कर मुझे कृतार्थ कीजिये।" ऐसा कह कर उसने नेपाला के चूर्ण से मिश्रित सुन्दर मोदक उसको बहोराया, जिसके खाने से उसको शीघ्र ही अतिसार की व्याधिने आघेरा। इससे उसने अन्य छोटी छोटी बालगणिकाओं के द्वारा उसकी वैयावच्च कराई कि जिससे वह मुनि अल्प समय में ही चारित्र से भ्रष्ट होकर उसके आधीन हो गया। फिर वह गणिका उसको लेकर कूणिक के पास आई। कूणिक ने कूल-वालक से कहा कि-इस विशालानगरी को जीतने का उपाय करो। कूणिक का वचन स्वीकार कर वह विशालानगरी में गया। वहां सर्वत्र भ्रमण करते हुए एक स्थान पर उसने मुनिसुव्रतस्वामी का स्तूप देख कर विचार कियाकि इस स्तूप के प्रभाव से इस पुरी को कोई नहीं जीत सकता है, इस लिये सर्वप्रथम इसके भंग करने का कोई उपाय ढूंढ़ना चाहिये। ऐसा विचार कर ग्राम में इधरउधर फिरने लगा। उसको देख कर पुरवासियोंने उससे पूछा कि-हे मुनि ! इस नगरी का उपद्रव कब शान्त होगा ? इस पर उसने उत्तर दिया

कि–जब तुम इस स्तूप को उखाड़ कर फैंक दोगे तब तुम्हारा उपद्रव दूर हो जायगा। उसकी बात पर विश्वास कर पुरवासी उस स्तूप को उखेड़ने लगे और उनके भी विश्वास को और भी अधिक दृढ़ करने के लिये उस दुष्ट साधुने कूणिक को कह कर उसकी सैन्य को दो कोश दूर हटा दिया। यह देख कर लोगों को मुनि के वाक्य पर विश्वास हो गया इस लिये उन्होंने कूर्मशिला पर्यंत सब खोद डाला और कूणिक के घेरा डाले जानेके समय के बाद आज पुरवासियोंने बारह वर्ष के पश्चात् फिर से नगर के दरवाजे खोल दिये क्यों कि कूणिक तो कपट से दूर चला गया था।

दरवाजों के खोले जाने की सूचना पाकर कूणिक राजाने आकर नगरी पर धावा किया और नागरिकों को नष्टभ्रष्ट कर दिया। उस समय भी महान् युद्ध हुआ। कूणिक और चेड़ा राजा के युद्ध के समान युद्ध इस अवसर्पिणी में तो दूसरा कोई नहीं हुआ। इस लडाई में एक करौड़ और अस्सी लाख सुभट खेत रहे। उनमें से दस हजार सुभट मर कर एक ही मछली के उदर में उत्पन्न हुए, एक देवलोक में गया, एक ऊंच कुल में उत्पन्न हुआ और अन्य सब नरकगति तथा तिर्यग्गति में उत्पन्न हुए।

फिर चेटकराजा नगरी बाहर निकला उस समय कूणिक ने उससे कहा कि–पूज्य मातामह ! मुझे आज्ञा दीजिये, मैं आपका पुत्र हूं, मैं क्या करूँ ? चेटकने उत्तर दिया कि

" हे दौहित्र(लडकी का लड़का) ! एक क्षण भर खड़ा रह, मैं अभी इस बाव में स्नान कर आता हूं।" ऐसा कह कर चेटकराजाने बाव में जा, लोहे की मूर्ति को गर्दन में बांध कर समाधि में तत्पर होकर बाव में कूद पड़े। उसी समय धरणेन्द्रने उसको उठा लिया और अपने भुवन(पाताल) में ले गया। वहां चेटकराजाने अनशनद्वारा कालधर्म प्राप्त कर सहस्रार देवलोक में इन्द्र के सामानिक देवता हुए।

फिर चेटकराजा का दौहित्र सुज्येष्ठा का पुत्र सत्यकि जो विद्याधर था वहां आकर समग्र नगरी के लोगों को नीलवंत पर्वत पर ले गया। फिर कूणिक राजा भी अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कर उसकी राजधानी को लौट गया।

कूलवालक भी देवगुरु की आशातना करने से और मागधिका गणिका के संग से अनेक पापकर्म कर दुर्गति में गया।

हे भव्य प्राणियो ! यदि तुमको मोक्षसुख प्राप्ति की अभिलाषा हो तो कूलवालक साधु का अति दुरन्त चरित्र पढ़ कर महाविषम विष समान गुरुमहाराज की आशातना का त्याग करना।

इत्यब्दिनपरिमितोपदेशप्रासादवृत्तौ प्रथमस्तंभे
चतुर्दशं व्याख्यानम् ॥ १४ ॥

व्याख्यान १५ वां

चोथा तीन शुद्धि नामक द्वार के विषय में

मनोवाक्कायसंशुद्धिः, सम्यक्त्वशोधनी भवेत् ।
तत्रादौ मनसः शुद्धिः, सत्यं जिनमतं मुणेत् ॥१॥

भावार्थः—मन, वचन और काया की शुद्धि सम्यक्त्व का शोधन (शुद्ध) करनेवाली होती है। उसमें से पहिल मन की शुद्धि करना अर्थात् जिनमत को सत्य मानना चाहिये।

" जिनमत " अर्थात् जिनेश्वर प्ररूपेल समग्र पदार्थों के भाव को प्रगट करनेवाला द्वादशांगीरूप शास्त्र उसको सत्य मानना और अन्य सर्व लौकिक परतीर्थी शास्त्र-दर्शन असार है ऐसा समझना इसको मनःशुद्धि कहते हैं।

मनःशुद्धि पर जयसेना का दृष्टान्त

उज्जयिनी नगरी में संग्रामशूर नामक राजा राज्य करता था। उस नगरी में वृषभ नामक एक श्रेष्ठि रहता था जिसके जयसेना नामक स्त्री थी। वह समकितवंत तथा पतिव्रता थी। उसकी काफी आयु होने पर भी उसके कोई सन्तान नही हुई तो एक बार उसने उसके पति से कहा कि-हे स्वामिन्! संतति के लिये तुम एक और विवाह

करो क्यों कि पुत्र रहित अपना कुल शोभायमान नहीं होता। कहा भी है कि—

यत्र नो स्वजनसंगतिरुच्चै-
र्यत्र नो लघुलघूनि शिशूनि ।
यत्र नास्ति गुणगौरवचिन्ता,
हन्त तान्यपि गृहाण्यगृहाणि ॥ १ ॥

भावार्थः—जिस के घर पर स्वजन एकत्रित हो कर नहीं बैठते अर्थात् स्वजनों की संगति नहीं, जिस घर में छोटे छोटे बालक क्रीड़ा नहीं करते और जिस घर में गुण के गौरवपन का चिन्तवन नहीं होता वे घर घर की गिनती में नहीं हैं।

यह सुन कर श्रेष्ठीने कहा कि-हे प्रिया! तेरा कहना सत्य है परन्तु मेरे चित्त में विषयसुख की बिलकुल अभिलाषा नहीं है। इसे उसने कहा कि-हे स्वामी! विषयसुख के लिये विवाह नहीं करना तो ठीक है परन्तु सन्तान के लिये फिर से विवाह करना कोई बुरी बात नहीं है। यह सुन कर श्रेष्ठी मौन रहा। इस लिये जयसेनाने स्वयं खोज कर किसी श्रेष्ठी की गुणसुन्दरी नामक कन्या की याचना की। याचना कर उसके साथ उसके पति का विवाह करा दिया। फिर शनैः २ जयसेनाने घर का सर्व कार्यभार

गुणसुन्दरी को सौप कर वह धर्म आराधनामें तत्पर हो गई। कुछ समय बाद गुणसुन्दरीने एक पुत्र का प्रसव किया।

एक बार गुणसुन्दरी की माता बंधुश्रीने पुत्री से पूछा कि "हे पुत्री! तेरे पति के घर में तू सुखी तो हैं?" गुणसुन्दरीने उत्तर दिया "हे माता! मुझे शोक पर विवाह कर फिर मेरे सुख की क्या बात पूछती हो? प्रथम सिर मुंडा कर फिर नक्षत्र का क्या पूछना? और पानी पी लेने के पश्चात् घर का क्या पूछना है? मुझे तो पति के घर पर एक क्षणमात्र का भी सुख नहीं है। मेरा पति तो मेरी शोक पर ही आसक्त है।" बंधुश्रीने कहा कि-"हे पुत्री! जो वह तेरी शोक राग से तथा कला से ऐसे वृद्ध पति को भी सहन करती है, खुश करती है तो फिर दूसरों की तो बात ही क्या करना? जहां साठ साठ वर्ष के बड़े हाथियों को वायु उछाल दे, वहां गायों की तो गिनती ही क्या? और मच्छर आदि की तो बात ही करना? तिस पर भी हे पुत्री! तू शान्ति रख। तेरी शोक के विनाश का मैं कुछ न कुछ उपाय अवश्य करूंगी। तू अभी तो घर चली जा।"

एक वार साक्षात् रुद्र(शिव) की मूर्ति के समान किसी कापालिक को देख कर बंधुश्रीने अपने कार्य साधना के इरादे से उसको अनेक रस संयुक्त भोजन कराया। कहा भी है कि:—

कार्यार्थी भजते लोको, न कश्चित् कस्यचित् प्रियः।
वत्सः क्षीरक्षयं दृष्ट्वा, परित्यजति मातरम् ॥१॥

भावार्थः—लोग किसी न किसी स्वार्थ से ही दूसरे को चाहते हैं परन्तु स्वभाव से कोई किसी को प्रिय नहीं होता। बाछड़ा भी दूध नहीं रहने पर अपनी माता गाय को त्याग देता है।

फिर वह योगी भी सदैव भिक्षा के लिये वहां आने लगा और बंधुश्री भी सदैव उनको नई नई भिक्षा देने लगी। एक बार प्रत्युपकार करने के लिये योगीने उसको कहा कि "है माता! तेरे को कोई काम हो तो मुझ से कहे कि मैं खुशीपूर्वक करुँ।" यह सुन कर बंधुश्रीने गद् गद् कंठ से उसकी पुत्री का दुःख उससे कहा। इस पर योगीने उत्तर दिया कि "हे माता! यदि मैं जयसेना का विनाश कर मेरी बहिन गुणसुन्दरी को सुखी न करुँ तो मैं अग्नि में प्रवेश कर अपने आप को जला दूंगा।" ऐसी प्रतिज्ञा कर वह उसके आश्रम को चला गया।

कृष्णचतुर्दशी की रात्री को उस योगीने स्मशान में एक मुर्दा लाकर उसकी पूजा की और वैताली विद्या का जाप कर उस मुर्दे में वैताली को प्रत्यक्ष कराया अर्थात् प्रवेश कराया। इस पर उस वैतालीने कहा कि "हे योगी!

जो काम हो सो कहो।" योगीने उत्तर दिया कि "हे महाविद्या! जयसेना को मार डाल।" यह सुन कर वह वैताली योगी का वचन स्वीकार कर जयसेना के पास पहुंची तो उसने वहां जयसेना को सम्यक् प्रकार से निश्चल चित्त से कायोत्सर्ग में स्थित पाया। इसलिये वह वैताली धर्म की महिमा से द्वेषरहित होकर जयसेना की प्रदक्षिणा कर पीछी स्मशान को लौट गई। उसको विकराल स्वरूप में आती देख कर वह योगी भय के मारे भग गया। दूसरे दिन फिर योगीने उसी प्रकार वैताली विद्या को भेजा। उस समय भी वह विद्या जयसेना का कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकी और अट्टहास्य करती हुई वापस लौट गई। इस प्रकार योगीने उसको तीन बार भेजा लेकिन तीन ही बार असफल होकर वापस लौट आई। चोथी बार खुद के मरण के भय से ही योगीने कहा कि "हे देवी! दोनों में से जो दुष्ट हो उसीको मार डालो।" यह सुन कर देवी जयसेना के पास पहुंची परन्तु उसको देवगुरु की भक्ति में तत्पर देख कर यहां से वापस लौट गई। लौटते समय घर के बाहर कायचिंता के लिये निकली हुई प्रमादी गुणसुन्दरी को उसने देखा इस लिये उसको खड्ग द्वारा मार कर देवी स्मशान को लौटी और योगी की आज्ञा ले कर स्वस्थान को चली गई। थोड़ी देर बाद जयसेना कायोत्सर्ग पार कर बाहर निकली तो वहां गुण-सुन्दरी को मरी हुई देख कर वह विचारने लगी कि-अहो!

पूर्व के किसी अशुभ कर्म के उदय से मेरे सिर पर यह कलंक आवेगा" ऐसा विचार कर उस उपद्रव की शान्ति के लिये उसने फिर कायोत्सर्ग किया। प्रातःकाल गुणसुन्दरी की माता बंधुश्री यह जानने की उत्सुक हो कर कि रात्रि को क्या हुआ सती गुणसुन्दरी के घर पर आई। वहां गुणसुन्दरी को ही मरी हुई देख कर उसने चिल्ला कर राजासे पुकार किया कि "हे राजा! मेरी पुत्री को उसकी शोक्य जयसेनाने शोक्यपन के द्वेष से मार डाला है।" यह सुन कर राजाने क्रोधित हो कर जयसेना को अपने पास बुला कर पूछा लेकिन जयसेनाने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। इसी बीच में शासनदेवी की प्रेरणा से वह योगी ही नगर में पुकारता पुकारता अकस्मात् राजसभा में आया और अपना भयंकर रूप प्रकट कर बोला कि "निर्दोष जयसेना को छोड़ कर दुष्ट गुणसुन्दरी को मैंने ही महाविद्याद्वारा मरवाया है।" ऐसा कह कर उसके विषय में सब वृत्तान्त राजा से निवेदित किया। उस समय शासनदेवताने भी जयसेना पर पुष्पवृष्टि की। राजाने बंधुश्री का ही दुष्ट होना निश्चय कर उसको निर्वासित कर दिया।

तत्पश्चात् राजाने जयसेना से पूछा कि "हे गुणशाली बहिन! संसार में कौनसा धर्म सर्वश्रेष्ठ है?" जयसेनाने उत्तर दिया कि "स्याद्वादयुक्त जैन धर्म के अतिरिक्त अन्य

सर्व धर्म एकान्तवादी तथा अनेकों दोषयुक्त होने से आराधना करने योग्य नही हैं।" फिर राजाने कहा कि "हे शीलवंती! गंगा, प्रयाग आदि तीर्थों में कौनसा तीर्थ संसारतारक हैं?" जयसेनाने उत्तर दिया कि "हे राजा! लोक में अड़सठ तीर्थ कहलाते जाते हैं किन्तु वे सब आत्म धर्म की पुष्टि करनेवाले नहीं हैं। तीर्थ तो एक मात्र सिद्धाचल ही है क्यों कि उस गिरि पर कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को श्री ऋषभदेव के पुत्र द्राविड़ और वालिखील मुनिने दस करोड़ साधुओं सहित मुक्ति को प्राप्त की है। फाल्गुन शुक्ला दशमी के दिन नमि और विनमि नामक मुनिने दो करोड़ साधुओं सहित सिद्धपद को प्राप्त किया है। फाल्गुन शुक्ला अष्टमी के दिन श्री ऋषभदेवस्वामी नवाणु पूर्व वखत उस गिरि पर आये हैं। श्री शांतिनाथस्वामीने भी उस पर चातुर्मास किया था। उस समय मुनिवेष तथा श्रावकवेष को मिला कर सित्तर करोड़ मनुष्योंने सिद्धि प्राप्त की थी। दूसरे तीर्थंकर श्रीअजितनाथस्वामी के हाथ से दीक्षित पंचाणु हजार साधुओंने उस पर्वत पर चातुर्मास किया था। उनमें से कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा के दिन दस हजार साधुओंने केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त किया था। आसोज शुक्ला पूर्णिमा को पांच पांडव वीस करोड़ साधुओं सहित सिद्ध हुए थे। फाल्गुन शुक्ला तेरस के दिन शांब और प्रद्युम्न कुमारने साढ़े तीन करोड़ साधुओं सहित मुक्तिपद को प्राप्त किया है।

श्रीकालस(कालिक)मुनिने एक हजार साधुओं सहित, श्रीसुभद्र-मुनिने सातसो मुनियों सहित, श्रीरामचन्द्रने पांच करोड़ मुनियों सहित, श्रीराम के भ्राता भरतने तीन करोड़ मुनियों सहित, तथा श्रीवसुदेव की बहतर हजार स्त्रियों में से पेतीस हजार स्त्रियोंने उसी सिद्धगिरि पर सिद्धपद को प्राप्त किया है और अन्य सेंतीस हजार स्त्रियोंने अन्य स्थान पर सिद्धपद को प्राप्त किया है। अपितु देवकी और रोहिणी नामक वसुदेव की स्त्रियें तो आगामी काल में तीर्थंकर होनेवाली है। सुकोमल मुनि सिंहनी के किये उपसर्ग से कालधर्म को प्राप्त कर पंगुल-गिरि(सिद्धाचल का एक हिस्सा) पर सिद्ध हुए हैं आदि अनन्त साधुगणोंने उस गिरि पर सिद्धपद को प्राप्त किया है और करेंगे।

चैत्र शुक्ला पूर्णिमा के दिन उस गिरि पर श्रीपुंडरीक गणधर पांच करोड़ मुनियों सहित सिद्ध हुए है, अतः हे राजा! एक बार श्रीशत्रुंजय के देखने से (यात्रा करने से) सर्व तीर्थों की यात्रा का फल प्राप्त होता है।" इस प्रकार सब हाल सुन कर राजा आदि सर्व लोगोंने श्री जैनधर्म को तथा श्रीसिद्धाचल तीर्थ को स्वीकार किया–उसीको मानने लगे।

फिर राजाने जयसेना को बड़े उत्सवपूर्वक उसके घर भेजा। कुछ समय बाद जयसेनाने प्रव्रज्या ग्रहण कर अनुक्रम से तपस्या कर सिद्धपद को प्राप्त किया।

" स्याद्वाद धर्म के विचार में ही चित्त रखनेवाली तथा मिथ्यादर्शन पर लेशमात्र भी राग नहीं रखनेवाली जयसेनाने मन की शुद्धि से अनुक्रम से अनन्त सुखवाले मोक्षपद को प्राप्त किया। इसी प्रकार हे भव्य प्राणी ! तुम भी मनःशुद्धि को दृढ़ करो कि जिससे तुमको भी कल्याणपरम्परा प्राप्त हो। "

इत्यब्दिनपरिमितोपदेशप्रासादग्रंथस्य वृत्तौ प्रथमस्थंभे पंचदशं व्याख्यानम् ॥ १५ ॥

॥ प्रथमः स्तंभः समाप्तः ॥

दूसरा स्तंभ.

व्याख्यान १६ वां

मनःशुद्धि के विषय में

मनःशुद्धिमबिभ्राणा, ये तपस्यन्ति मुक्तये ।
हित्वा नावं भुजाभ्यां ते, तितीर्षन्ति महार्णवम् ॥१॥

तदवश्यं मनःशुद्धिः, कर्तव्या सिद्धिमिच्छता ।
बह्वारंभेऽपि शुद्धेन, मनसा मोक्षमाप्नुते ॥२॥

भावार्थः—मनःशुद्धि रहित जो मनुष्य मुक्ति के लिये तपस्या करते हैं वें मानों बहाण का त्याग कर दोनों हाथों द्वारा तैर कर महासमुद्र को पार करने की चेष्टा करते हैं अर्थात् जैसे समुद्र को पार करने के लिये नौका की ही आवश्यकता है इसी प्रकार इस स्थान पर मनःशुद्धि की आवश्यकता होती हैं, अतः मोक्षार्थी मनुष्य को अवश्य मनःशुद्धि करना चाहिये क्यों कि अत्यन्त आरंभी होने पर

भी यदि मन की शुद्धि रक्खी हो तो वह अवश्य मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है।

इस प्रसंग पर निम्न लिखित आनन्द श्रावक का अधिकार उपलब्ध है:—

आनन्द श्रावक का दृष्टान्त

राजगृह नगरी में आनन्द नामक एक कुटंबी रहता था। वह एक बार गुणशील नामक चैत्य में श्री वीरप्रभु का आगमन सुन कर अपने कुटुम्ब सहित पैरों चल कर केवली के ईश भगवान के पास पहुंचा। प्रभु को वन्दना कर अनेकांत मत का स्थापन करनेवाली बाणी को सुनने से उसको प्रतिबोध प्राप्त हुआ, इससे उसने समकित सहित देशविरति ग्रहण की। उसमें प्रथम द्विविध, त्रिविध कर स्थूल जीवहिंसादिक पांच अणुव्रत ग्रहण किये। उसके चोथे व्रत में उसकी स्त्री के अतिरिक्त अन्य सर्व स्त्रीयों का त्याग किया। पांचवें व्रत में अपनी इच्छानुसार द्रव्य का (परिग्रह का) प्रमाण किया कि—नकद धन में चार करोड़ सोनामहोर निधान में, चार करोड़ व्याज कमाने में और चार करोड़ व्यौपार में रखना, इससे अधिक नहीं रखना। दस हजार गायों का गोकुल कहलाता है ऐसे चार गोकुल, एक हजार गाड़ियें, कृषि के लिये पांचसो हल, और स्वारी के लिये चार बाहन रक्खे। इससे अधिक का त्याग किया। छट्ठे दिग्व्रत

का वर्णन आगे के व्रत के अधिकार में कहा जायगा। सातवे व्रत में अनन्तकाय, अभक्ष्य और पन्द्रह कर्मादान का त्याग किया। दातुन में जेठीमध के काष्ठ के अतिरिक्त अन्य का त्याग कर किया। मर्दन के लिये शतपाक और सहस्रपाक तेल के अतिरिक्त अन्य तेल का त्याग किया। उद्वर्तन(पीट्ठी) के लिये गेहूँ और उपलेट के पिष्ट के अतिरिक्त अन्य का त्याग किया। स्नान के लिये उष्ण जल के आठ मिट्टी के घड़ो से अधिक जल का त्याग किया। पहिनने के लिये ऊपर और नीचे के दो वस्त्रों के अतिरिक्त अन्य का त्याग किया। विलेपन में चन्दन, अगर, कर्पूर और कुंकुम आदि के अतिरिक्त अन्य का त्याग किया। पुष्पों में पुंडरीक कमल, तथा मालती के पुष्पों के अतिरिक्त अन्य का त्याग किया। अलंकार में नामांकित मुद्रा(अंगुठी) तथा कान के दो कुण्डलों के अतिरिक्त अन्य का त्याग किया। धूप में अगर और तुरुष्क (लोबान) के अतिरिक्त अन्य का त्याग किया। पेय (पीने योग्य) आहार में मग, चना आदि तल कर किये हुए अथवा घी में तले हुए शुद्धता से बनाये हुए प्रवाही पदार्थ के अतिरिक्त अन्य का त्याग किया। पक्वान में घेवर और शक्कर के खाजे, भात में कलमशाली के चोखे, दाल में मुंग, उड़द और चने, घी में शरदऋतु में निकाला हुआ गाय का घी, शाक में मीठी डोडी और पलवल, मधुर पदार्थ में पल्यंक, अन्न में बड़ा, फल में

क्षीरामलक(मीठा आंबला), जल में आकाश से पड़ा हुआ पानी, मुखवास में जायफल, लवंग, इलायची, कक्कोल और कपूर इन पांच वस्तुओं से मिश्रित तंबोल–इतनी चिजों को उपयोग में लाना और इनके अतिरिक्त अन्य सब चिजों का त्याग करना निश्चय किया।

इस प्रकार उसने जिनेश्वर के बारह व्रत ग्रहण किये। (अन्य व्रतों का स्वरूप आगे बतलाया जायगा) फिर नवतत्त्व का स्वरूप जानकर वह आनन्द श्रावक अपने घर आकर उसकी शिवानन्दा नामक स्त्री से कहने लगे कि " हे प्रिया ! मैने आज जैनधर्म अंगीकार किया है। तू भी प्रभु के पास जाकर उस उत्तम धर्म को स्वीकार कर। " यह सुनकर शिवानन्दा शीघ्र ही उसकी सखीयों सहित प्रभु के पास गई। जिनेन्द्र को वन्दना कर देशना श्रवण कर उसने भी श्रद्धापूर्वक श्रावकधर्म अंगीकार किया।

इस प्रकार देशविरति धर्म के पालन करनेमें तत्पर उन दम्पतीने चौदह वर्ष व्यतीत किये। एक बार मध्यरात्रि में जागृत हुआ आनन्द श्रावक धर्मचिन्तवन करने लगा कि "अहो! मेरी आयु रागद्वेष में–प्रमाद में बहुत व्यतीत हो गई है। कहा भी है कि—

लोकः पृच्छति मे वार्तां, शरीरे कुशलं तव।
कुतः कुशलमस्माकमायुर्याति दिने दिने ॥१॥

" लोग मुझे पूछते हैं कि तुम्हारा शरीर कुशल है ? परन्तु शरीर कुशल कैसे हो सकता है ? क्योंकि दिनप्रति-दिन आयुष्य तो कम होती ही जाती है । "

अतः अब मैं प्रमाद का त्याग कर श्रावक प्रतिमा को अंगीकार कर यथाशक्ति उसका पालन करुं । " ऐसा विचार कर प्रातःकाल स्वकुटुम्ब तथा ज्ञातिवर्ग को बुलाकर उनको भोजन, वस्त्र आदि से संतुष्टकर अपने ज्येष्टपुत्र को घर का भार सौंप स्वयं प्रतिमा वहन करने को तत्पर हुआ ।

उसने प्रथम छ आगार रहित तथा शंका, कांक्षादि पांच अतिचार रहित सम्यक्त्व नामक पहली प्रतिमा को एक मास तक धारण किया । फिर पूर्व की (प्रथम प्रतिमा) क्रियासहित बारह व्रत के पालनस्वरूप दुसरी प्रतिमा को दो महिने तक धारण किया । फिर पूर्व की क्रिया सहित सामायिक नामक तीसरी प्रतिमा को तीन महिने तक वहन किया । फिर पूर्व की क्रिया सहित चार महिने तक चार पर्वणीएं[1] पौषध करते हुए पौषध नामकी चोथी प्रतिमा को बहन किया । फिर पांच महिने तक उन चारों पर्वणी के पौषध में रात्रि के चारों पहर में कायोत्सर्ग कर कायोत्सर्ग नामक पांचवी प्रतिमा को धारण किया । फिर छ मास तक

---

१ अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या—ये चार पर्वणी इनमें से अष्टमी, चतुर्दशी दो दो होनेसे कुछ छ दिन गिनना ।

अतिचार दोषरहित ब्रह्मचर्य का पालन कर छट्ठी प्रतिमा वहन किया। फिर सात महिने तक सातवी सचित्त के वर्जन करनेरूप प्रतिमा धारण की। फिर आठ महिने तक स्वयं समग्र आरंभ नहीं करनेरूप आठवीं आरम्भत्याग नामक प्रतिमा को धारण किया। फिर सेवक द्वारा भी कोई आरम्भ नहीं करनेरूप नवमी प्रतिमा को नो मास तक वहन किया। फिर खुद के निमित्त बनाया हुआ भोजन नहीं करनेरूप दशवीं प्रतिमा का दस महिने तक वहन किया। फिर अन्त में अग्यारवीं प्रतिमा को ग्रहण किया जिसका स्वरूप निम्न प्रकार से है :—

खुरमुंडो लोएण वा, रयहरणं उवग्गहं च घेत्तूणं।
समणभूयो विहरइ, धम्मं काएण फासंतो ॥१॥

" उस्त्रा (Razor) से मुंडन कराकर अथवा लोचकर रजोहरण तथा पात्रादिक ग्रहण कर कायाद्वारा धर्म का पालन करता हुआ साधु के समान विचरण करे और कुटुम्ब में " प्रतिमाप्रपन्नस्य श्रावकस्य भिक्षां देहि " इस प्रकार पुकार कर भिक्षा मांगे। "

इस प्रकार ग्यारहवीं प्रतिमा को ग्यारह महिने तक वहन किया। इस ग्यारहवीं प्रतिमा में पिछली पिछली सर्व प्रतिमाओं को एकत्रित समझकर उन सब अतिचारोंरहित ही इसका पालन करना चाहिये। अग्यारे प्रतिमाओं को

वहन करते हुए पांच वर्ष और पांच महिने[1] व्यतीत हुए। जिससे आनन्द श्रावक का बाह्य से शरीर और अन्तर से मन अति कृश हो गया। यह देखकर उसने चार शरणपूर्वक अनशन ग्रहण किया। उस प्रकार उसकी मनशुद्धि विशेष होनेसे उसको अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया।

उसी अवसर पर उस ग्राम के बाहर उद्यान में श्री वीरस्वामी का पदार्पण हुआ। श्रीवीरप्रभु को वन्दना कर उनकी आज्ञा लेकर गौतम गणधर गोचरी के लिये ग्राम में गये। वहां से आहार लेकर वापस लौटते समय अनेकों पुरुषों के मुंह से आनन्द श्रावक के अनशन का वृत्तान्त सुनकर गौतमस्वामी उसके पास शाता पूछने को गये। अपने समीप गणधर महाराज को आये हुए देखकर भक्ति-भावद्वारा आनन्द श्रावकने उनके चरणकमल में प्रणामकर प्रश्न किया कि "हे पूज्य! क्या श्रावक को भी अवधि-ज्ञान हो सकता है?" गौतमस्वामीने उत्तर दिया कि "उत्तम श्रावक को हो सकता है" यह सुनकर आनन्द श्रावकने कहा कि "हे भगवन्! मुझे ऐसा ज्ञान प्राप्त हुआ है इससे मैं ऊपर सौधर्म देवलोक तक, नीचे लोलुक नरक-वास तक, तिरछा लवणसमुद्र में तीन दिशाओं में (पूर्व, पश्चिम और दक्षिण दिशाओं में) पांचसो योजन और उत्तर

---

१ ग्यारह प्रतिमाओं के काल का योग लगाने से पांच वर्ष और छ महिने होता है।

दिशा में क्षुद्रहिमाचल तक सर्व वस्तुओं को देखता हूं।" यह सुनकर गणधरने कहा कि "इतना अवधिज्ञान होना गृहस्थी के लिये असम्भव है इस लिये तू मिथ्या दुष्कृत का त्याग कर।" आनन्दने कहा कि "हे भगवन्! असत्य बोलनेवाले को मिथ्या दुष्कृत त्यागना चाहिये, अतः आप को त्याग करना चाहिये।" यह सुनकर गौतम गणधर को शंका उत्पन्न हुई इस लिये उन्होंने प्रभु के पास जाकर उसका स्वरूप पूछा। प्रभुने उसी प्रकार बतलाया, इस पर गौतम गणधरने आनन्द के समीप जाकर मिथ्या दुष्कृत का त्याग किया।

तत्पश्चात् आयुष्य के पूर्ण होने पर आनन्द श्रावक पंच नमस्कार का स्मरण करता हुआ मृत्यु प्राप्त कर सौधर्म कल्प में अरुणाभ नामक विमान में चार पल्योपम के आयुष्यवाला देव हुआ और वहां से चव कर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर मोक्ष को प्राप्त करेगा।

यह चरित्र का उपासक दशांग तथा आनन्दसुन्दर (वर्धमान देशना) में सविस्तर वर्णन किया गया है।

"हे श्रावक! यह आनन्द श्रावक का चरित्र सुनकर आनन्द में तत्पर होकर मनःशुद्धि में निरन्तर आदरवाले बनो"

इत्यब्ददिनपरिमितोपदेशप्रासादवृत्तौ द्वितीयस्तंभे षोडशं व्याख्यानम् ॥ १६ ॥

व्याख्यान १७ वां

वचनशुद्धि विषे

जीवाजीवादितत्त्वानां, प्ररूपकं सदागमम् ।
तद्विपरीतं वदेन्नाथ, सा शुद्धिर्मध्यगा भवेत् ॥१॥

भावार्थः—जीव, अजीव आदि तत्त्वों की प्ररूपणा करनेवाले आगम में जो उनका स्वरूप कहा गया हो उसी प्रकार समझना चाहिये। उससे विपरीत नहीं करना, उसका नाम वचनशुद्धि हैं।

सद्दानेन गृहारंभो, विवेकेन गुणव्रजः ।
दर्शनं मोक्षसौख्यांगं, वचःशुद्ध्यैव लक्ष्यते ॥१॥

भावार्थः—गृहस्थाश्रम सद्दानद्वारा, गुणसमूह विवेकद्वारा और मोक्षसुख के अंगभूत दर्शन (समकित) वचन की शुद्धिद्वारा दिखाई देता है अर्थात् दान, विवेक और वचनशुद्धिद्वारा ही गृहस्थपन, गुणसमूह और समकित के होने का निश्चय होता है।

इस प्रसंग पर संप्रदायागत कालिकसूरि का प्रबन्ध प्रशंसनीय हैः—

कालिकाचार्य का दृष्टान्त

दत्तराजा के मामा कालिकसूरि के समान महापुरुष

संकट में भी असत्य भाषण नहीं करते हैं। चन्दन की बू शीला पर घिसने से ही जानी सकती है और इक्षुका (Sugarcane) का मधुर रस उसके पीले जाने पर ही निकलती है।

तुरमणि नामक नगर में कालिक नामक एक ब्राह्मण रहता था, जिसकी बहिन का नाम भद्रा था। उसके दत्त नामक एक पुत्र था। कालिकद्विजने कुछ समय तक गुरु के पास धर्मोपदेश सुन कर वैराग्य प्राप्त होने से चारित्र ग्रहण किया। इससे दत्त किसी का अंकुश नहीं रहने से उद्धत हो गया और सातों व्यसनों का शिकार हो गया। कुछ समय बाद वह दत्त उस नगर के जितशत्रु नामक राजा का सेवक हुआ। उसकी सेवा से प्रसन्न होकर राजाने उसको अनुक्रम से अपना प्रधान बनाया। फिर धीरे धीरे सम्पूर्ण राजवर्ग को अपने पक्ष में लेकर दत्तने राजा को पदभ्रष्ट कर स्वयं राजा बन बैठा। वह परलोक के भय से किञ्चित् मात्र भी भय न रख कर आश्रव के कार्यों में द्रव्य को व्यय करने लगा, बड़े बड़े यज्ञ कर अनेकों जीवों की हिंसा करने लगा और उसमें बलिदान होनेवाले मूक पशुओं को देखकर अत्यन्त हर्षित होने लगा।

इधर कालिक मुनि के बहुश्रुत होनेसे गुरुने उसे सूरि-पद प्रदान किया। एक वार बिहार करते हुए कालिकाचार्य तुरमणिनगर के उद्यान में आया। उसका आगमन सुनकर

दुष्ट दत्त राजा उसकी माता के आग्रह से उसको वंदना करने को गया। मामा को बन्दना कर दत्त उसके सन्मुख आसन पर बैठ गया। फिर उसने सूरि से प्रश्न किया कि "हे मामा! यज्ञ करने से क्या फल मिलता है?" उसके उत्तर में गुरुने जीवदयारूप धर्म का उपदेश किया। तब दत्तने फिर कहा कि " हे पूज्य! मैं धर्म के विषय में प्रश्न नहीं करता हूँ, मैं तो यज्ञ के फल के विषे पूछता हूँ।" इस प्रकार दत्त के वारंवार पूछने पर गुरुने उत्तर दिया कि "हे दत्त! क्या तू नहीं जानता है कि यज्ञ का फल नरकगमन ही है और उस लिये तुझे भी नरक ही में जाना पड़ेगा क्यों कि लौकिक शास्त्र में भी कहा है कि—

अस्थिन वसति रुद्रश्च, मांसे चास्ति जनार्दनः।
शुक्रे वसति ब्रह्मा च, तस्मान्मांसं न भक्षयेत् ॥१॥

तिलसर्षपमात्रं तु, मांसं यो भक्षयेन्नरः।
स नरो वर्तते नरके, यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥२॥

भावार्थः—प्राणियों की हड्डियों में महादेव, मांस में जनार्दन(विष्णु) और वीर्य में ब्रह्मा निवास करते हैं अतः मांसभक्षण नहीं करना चाहिये। जो मनुष्य तिल्ल और सरसों के दाने जितना भी मांस खाता है वह जब तक आकाश में सूर्यचन्द्र स्थित है तब तक नरक में रहता है।

अपितु हे दत्त राजा ! तू आज के सातवें दिन कुंभिपाक की वेदना भोग कर नरकगामी होगा।" यह सुन कर क्रोधित हुए दत्तने पूछा कि-"इस पर विश्वास क्यों कर हो ?" सूरिने कहा कि-"तेरी मृत्यु के समय से पूर्व तेरे मुंह में मनुष्य की विष्टा गिरेगी।" दत्तने क्रोध से भर कर पूछा कि-"हे मामा ! तब तुम्हारी क्या गति होगी ?" गुरुने कहा कि-"मैं तो स्वर्ग में जाउंगा।" यह सुन कर दत्त राजा गुरु का खड्ग से प्राणान्त करने की इच्छा करता हुआ विचारने लगा कि-"यदि मैं सात दिन से अधिक जीवित रहा तो फिर अवश्य इसको मारडालूंगा। यह विचार कर सूरि को सात दिन तक नहीं जाने देने को पहरे में रख कर स्वयं अपने महल में चला गया, किन्तु उसने सूरि के वचन को अन्यथा करने के लिये एक करोड़ सुभटों को उसके चारों ओर पहरा लगाने को नियुक्त कर दिये और राजमहल तथा राजमार्ग को पूर्णतया साफ कराकर किसी भी स्थान पर किञ्चिन्मात्र अशुचि न रहें इसका पूरा बन्दोबस्त कर दिया। इस प्रकार उसने छ दिन महलों में रह कर ही निर्गमन किये। सातवें दिन उसको भ्रान्ति होने से उससे सात दिन समाप्त हो गये है ऐसा जाना। और उसको आठवां दिन जान कर अश्वारूढ़ हो हर्षपूर्वक वह राजमार्ग से निकला। उस समय एक माली पुष्पों से भरा टोकरा लेकर राजमार्ग में जा रहा था। उसको भेरी वगेरा के शब्दों के

सुनने से अकस्मात् शौच जाने की प्रेरणा हो गई। मनुष्यों की अधिक भीड़ होने से कही अन्यत्र न जासका इस लिये राजमार्ग में ही उसने यत्नपूर्वक मलोत्सर्ग कर लिया और उस पर पुष्पों का ढ़ेर लगा कर वह आगे चला गया। उसी समय दत्त राजा उस ओर निकला जिसके घोड़े का पैर उस पुष्प के ढ़ेर पर गिरा इससे उसमें से विष्टा उछल कर उसका छिंटा राजा के मुह में गिरा। इससे आचार्य के कहे वचनों पर विश्वास होने से उसने उसके सेवकों से पूछा कि आज कौनसा दिन हुआ ? उस पर उन्होंने उत्तर दिया कि आज सातवां दिन है। यह सुन कर राजा लज्जित होकर वापिस लौटा।

दत्त राजा जब सूरि पर क्रोधित होकर राजमहल में आकर छ दिन तक एकान्त में ही रहा उस समय सर्व राजवर्ग दत्त से विरुद्ध होकर जितशत्रु को राज्यगादी पर बिठाने की कोई युक्ति ढूंढ़ रहे थे इससे सातवें दिन ज्योहि दत्त बाहर निकला कि शीघ्र ही उन्होंने जितशत्रु राजा को बन्धनमुक्त कर महलों में प्रवेश कराया। फिर जब दत्त मुंह में विष्टा गिर जाने से वापीस लौट कर राजमहल के समीप पहुंचा तो उस राजवर्गने दत्त को एकाएक बांध कर जितशत्रु को स्वाधीन किया। उसको देख कर हर्षित हुए जितशत्रुने उसको कुंभीपाक में डाल कर भून दिया। उसकी महापीड़ा का अनुभव कर दत्त मृत्यु प्राप्त कर नरक का

अतिथि बना। कालिकसूरि आयुष्य का क्षय हो जाने पर कालधर्म को प्राप्त कर स्वर्ग के अलंकारभूत हुए।

इस कालिकाचार्य के दृष्टान्त को सुन कर सर्व प्राणियों को मृत्यु के भय को भी छोड़ कर सत्य भाषण करना चाहिये, क्यों कि वचनशुद्धि से इस लोक में राजादिक से सन्मान मिलता है और परलोक में स्वर्ग का सुख मिलता है।

इत्यब्ददिनपरिमितोपदेशप्रासादवृत्तौ द्वितीयस्तंभे सप्तदशं व्याख्यानम् ॥ १७ ॥

व्याख्यान १८ वां

तीसरी कायशुद्धि

खड्गादिभिर्भिद्यमानः, पीड्यमानाऽपि बन्धनैः।
जिनं विनान्यदेवेभ्यो, न नमेत्तस्य सा भवेत्॥१॥

भावार्थः—खड्गादिक से छेदे जाने और बंधनों से बांधे जाने पर भी जो मनुष्य श्रीजिनेश्वर के अतिरिक्त अन्य देव के आगे सिर न झुकावे उसे कायशुद्धि कहते हैं।

खड्ग आदि हथियारों से छेदे जाने और रज्जु, बेड़ी आदि बन्धनों से बांधे जाने तथा महान् संकट के उपस्थित होने पर भी जो पुरुष श्री जिनेन्द्र अतिरिक्त बुद्ध, शंकर, स्कंद आदि अन्य देवताओं को नमस्कार नहीं करता है उस

सम्यग्दृष्टि प्राणी को तीसरी कायशुद्धि हो जाना जानना चाहिये। इस प्रसंग पर निम्नस्थ वज्रकर्ण का दृष्टान्त है:—

वज्रकर्ण का दृष्टान्त

अयोध्यानगर में इक्ष्वाकुवंशीय दशरथ राजा राज्य करता था। उसने एक बार प्रसन्न होकर उसकी रानी कैकयी को एक वरदान दिया था। वह उसने योग्य समय पर मांगने के लिये रख छोड़ा था। रामचन्द्र को राजगद्दी देने वक्त उसने वह वरदान मांग कर रामचन्द्र को बारह वर्ष वनवास दिलाया जिसके फलस्वरूप राम, लक्ष्मण और सीता वनमें गये। वे फिरते फिरते अनुक्रम से पंचवटी में कुछ समय तक ठहर कर आगे बढ़ने पर अवन्ती प्रदेश में आये। वहां वे क्या देखते हैं कि दुकाने सर्व जात की चिजों से भरपूर खुली पड़ी थी, घर धन और स्वर्ण आदि से परिपूर्ण होने पर भी खुले पड़े थे, क्षेत्रो में, खलाओ में धान्य के ढ़ेर लगे हुए थे तथा अश्व, बैल आदि पशुगण बिना रक्षक के स्वेच्छा से इधर उधर फिर रहे थे! परन्तु किसी भी स्थान पर कोई पुरुष दृष्टिगोचर नहीं होता था। यह देख कर रामने लक्ष्मण से पूछा कि—हे वत्स! ये सब जनशून्य क्यों कर प्रतित होता है? इस पर लक्ष्मण एक ऊँचे वृक्ष पर चढ़ कर चारों ओर देखने लगा तो उसको एक पुरुष दिखाई पड़ा। उसको बुलाने पर वह लक्ष्मण के पास आया और उसको प्रणाम किया। लक्ष्मण राम के पास पहुंचा।

रामने उस पुरुष से उसका वृत्तान्त पूछा। इस पर उसने उत्तर दिया कि–हे स्वामी ! सुनिये।

दशपुर नामक नगर में वज्रकर्ण नामक महापराक्रमी राजा हैं, वह सर्व गुणसम्पन्न होते हुवे भी चन्द्र के मृगया (शिकार) के व्यसन से दूषित है। एक बार वह कई शिकारियों (पाराधीयों) को साथ लेकर वन में गया और एक सगर्भा हरिणी को शरद्वारा बेंध दिया जिससे उसके उदर से गर्भ निकल कर पृथ्वी पर आगिरा। उस गर्भ को छिपकली की काटी हुई पूंछ की तरह तड़पते हुए देखकर उस वज्रकर्ण का हृदय दया से द्रवित हो आया और वह उसकी आत्मा की निन्दा करने लगा कि–अहो ! मैंने नरक जाने योग्य पापकर्म उपार्जन किया है। इत्यादि। अपनी आत्मा की निन्दा करता हुआ वह राजा निर्दयपन का त्याग कर उस वन में इधर उधर भटक रहा था कि उसने शिला पर बैठे हुए शान्त एवं दान्त मुनि को देखा। उनको प्रणाम कर राजाने पूछा कि–हे महात्मा! इस अरण्य में आप क्या करते हैं ? मुनिने उत्तर दिया कि–मैं आत्म-हित करता हूँ। यह सुनकर राजाने कहा–हे स्वामी! मुझे भी आत्महित का मार्ग बतलाइये। इस पर मुनिने कहा कि–हे राजा ! सम्यग्दर्शनपूर्वक हिंसादिक का त्याग करना ही आत्महित है। उसमें सम्यक्त्व का स्वरूप इस प्रकार है।

देवो जिणंदो गयरागदोसो,
गुरु वि चारित्तरहस्स कोसो।
जीवाइ तत्ताण य सद्दहाणं,
सम्मत्तमेवं भणियं पहाणं ॥ १ ॥
जस्सारिहंते मुणिसत्तमेसु,
मोत्तु न नामेइ सिरो परस्स।
निव्वाणसुक्खाण निहाणठाणं,
तस्सेव सम्मत्तमिणं विसुद्धं ॥ २ ॥

भावार्थः—रागद्वेषवर्जित श्रीजिनेश्वर को देव, चारित्र-रहस्य के निधि समान साधुओं को गुरु और जीवादिक नव तत्त्वों के शुद्ध स्वरूप को धर्म जान कर—उनकी सद्दहणा रखना सब से मुख्य समकित कहलाता है। अरिहंत और उत्तम साधुओं को छोड़ कर अन्य किसी को जो मनुष्य मस्तक नहीं झुकाता है उसीको निर्वाण सुख के निधानस्थानरूप यह विशुद्ध समकित प्राप्त हो गया है ऐसा समझना चाहिये।

इत्यादि धर्मोपदेश सुनने से राजा वज्रकर्ण को प्रतिबोध प्राप्त हो गया जिससे उसने गुरु के पास समकित के मूल बारह व्रतों को अंगीकार किया जिसमें विशेषतया जिनेश्वर तथा मुनिराज के अतिरिक्त अन्य किसी को भी नहीं नमने का नियम ग्रहण किया। फिर वह अपने नगर में गया।

घर आने पर उसको विचार हुआ कि–मैं अवन्ति के सिंहरथ राजा का सेवक हूँ इस लिये मुझको उसे अवश्य प्रणाम करना पडेगा और ऐसा करने पर मेरा नियमभंग होगा। ऐसा विचार कर उसने अपने हाथ में पहनने को एक अंगुठी बनाई और उसमें मुनिसुव्रतस्वामी की एक प्रतिमा बनवाई। फिर जब सिंहरथ के पास जाता तब उस अंगुठी को सन्मुख रख कर प्रणाम करता अर्थात् वह मनद्वारा तो जिनेश्वर को ही प्रणाम करता था और बाहर से (देखने में) सिंहरथ राजा को प्रणाम करता हुआ दिखाई पड़ता था।

एक बार किसी दुष्टने यह सब वृत्तान्त सिंहराजा से निवेदित किया जिसको सुन कर राजाने विचार किया कि- अहो ! वज्रकर्ण कैसा कृतघ्नी है ? वह मेरा राज्य भोगता है फिर भी मुझे प्रणाम मात्र नहीं करता, इस लिये उस दुष्ट को दंड देना ही न्याय है। ऐसा विचार कर उसने संग्राम के लिये रणमेरी बजवाई।

उस समय किसी पुरुषने वज्रकर्ण को जा कर कहा कि- हे साधर्मी वज्रकर्ण राजा ! तुमको जैसा अच्छा लगे वैसा करो। सिंहरथ राजा तेरे पर चढाई कर आ रहा है। वज्र-कर्णने पूछा कि–तू कौन है ? और कहां रहता है ? उसने उत्तर दिया कि–हे देव ! मैं कुन्डनपुर का रहनेवाला वृश्चिक नामक श्रावक हूँ। एक बार मैं बहुतसा सामान ले कर उज्जैनी[1] नगरीमें गया था। वहां एक दिन वसन्तोत्सव में

१ अवन्ति और उज्जैनी दोनों का एक ही अर्थ है।

अनंगलता नामक गणिका को देख कर मैं उन पर मोहित हो गया इस लिये मैंने अपना सारा धन उसको दे दिया और मैं उसके साथ विषयसुख भोगने लगा। एक बार उस गणिकाने सिंहरथ राजा की रानी के आभूषणों देख कर अपने आभूषणों की निन्दा करते हुए रोते रोते मुझसे कहा कि–यदि तू सचमुच मेरा प्रियतम हो तो रानी के आभूषणों को लाकर मुझे दे। यह सुन कर उसके वचनो स्वीकार कर मैं रात्री के समय चोरी करने के लिये राजमहल में घुसा। उस समय राजा और रानी बातें कर रहे थे। रानीने राजा से पूछा कि–हे स्वामी ! आज आप के चहरे पर चिन्ता के चिह्न नजर आते हैं सो क्या चिन्ता है ? राजाने उत्तर दिया कि–हे प्रिया ! प्रातःकाल वज्रकर्ण मेरी खड्ग से मारा जायगा तब ही मेरी चिन्ता दूर होगी। उसकी बातों से तुम्हारी जैन धर्म में दृढ़ता देख कर चोरी को तथा उस वेश्या को छोड़ कर मैं तुरन्त ही इस बात की सूचना देने के लिये तुम्हारे पास आया हूँ, इस लिये हे वज्रकर्ण राजा! अब तुमको जैसा अच्छा लगे वैसा करो। यह सुन कर उस वज्रकर्ण राजाने उस श्रावक का अच्छा सत्कार कर उसको विदा किया और खुदने किल्ले के बाहर के पुलों को तोड़ कर सब को किल्लों में लेकर द्वार बंद कर बैठ रहा। प्रातःकाल होने पर सिंहरथ राजाने आकर उस किल्ले को घेर लिया और वज्रकर्ण के पास एक दूत भेजा। उस दूतने आकर

वज्रकर्ण से कहा कि–हे वज्रकर्ण ! तू बिना अंगुठी पहने हुए हमारे स्वामी के पास आकर उसको प्रणाम कर सुखसे राज्य भोग वरना तेरा नाश होगा। यह सुन कर वज्रकर्णने उत्तर दिया कि–हे दूत ! तेरे राजा को कह कि–मुझे राज्य से कोई प्रयोजन नहीं है परन्तु मुझे एक मात्र धर्मद्वार दें कि जिससे मैं दूसरे स्थान पर जाकर मेरे नियम का पालन कर सकूँ। यह सुन कर दूतने जा कर सिंहरथ से कहा, इससे सिंहरथ क्रोधयुक्त होकर उस पुर को घेरे पड़ा रहा। अतः हे रामचन्द्र ! इस देशके उजड़ होनेका यह कारण है।

यह सब वृत्तान्त सुन कर रामचन्द्रने लक्ष्मण से कहा कि–हे वत्स ! हम को भी वहां जाकर आश्चर्ययुत बात देखनी चाहिये और वज्रकर्ण का साधर्मिवात्सल्य करना चाहिये (उसकी सहायता करनी चाहिये) ऐसा कह कर रामचन्द्र, लक्ष्मण तथा सीताने दशपुर की ओर चल दिये। वहां राम और सीता को नगर के बाहर छोड़ कर लक्ष्मण अकेला ग्राम में गया। वज्रकर्णने लक्ष्मण को भोजन करने के लिये निमन्त्रण दिया। इस पर लक्ष्मणने उत्तर दिया कि–मेरे ज्येष्ठ भ्राता राम उनकी स्त्री सहित ग्राम के बाहर देवकुल में ठहरे हुए हैं। यह सुन कर वज्रकर्णने उनको भी बुलवा कर उन तीनों को आदर सहित भोजन कराया। फिर राम के कहने से लक्ष्मणने सिंहरथ राजा को जाकर कहा कि–हे राजा ! मुझे रामचन्द्रने तुम्हारे पास भेजा है।

उसने तुमको कहलाया है कि–तुम वज्रकर्ण के साथ युद्ध मत करो। सिंहरथने उत्तर दिया कि–मैं भरत राजा की आज्ञा सिरोधार्य करता हूँ परन्तु राम की आज्ञा का पालन नहीं कर सकता। इस पर लक्ष्मणने कहा कि–यदि ऐसा है तो युद्ध के लिये तैयार हो जा। यह सुन कर क्रोधित हुआ सिंहरथ हाथी पर आरूढ़ होकर संग्राम करने को तैयार हो गया। उसको एक क्षणमात्र में जीत कर लक्ष्मणने पृथ्वी पर गिरा कर बांध लिया। तब उसने कहा कि–मैंने अज्ञान-वश आपका अपमान किया है। आप मेरे स्वामी हैं, अतः आपकी जैसी इच्छा हो वैसा कीजिये। यह सुन कर लक्ष्मण ने वज्रकर्ण को उज्जैनी का राजा बना कर सिंहरथ को उसका सेवक बना के मुक्त किया। फिर सब अपने अपने स्थान को लौट गये। वज्रकर्ण अपने लिये हुए नियम का यथास्थित पालन कर सर्व जीवों को खमा कर स्वर्ग में गया। वहां से चव कर मोक्षपद प्राप्त करेगा।

हे भव्य जीवों! इस वज्रकर्ण राजा का चरित्र सुन कर कायशुद्धि के इच्छुक को जिनेन्द्र के अतिरिक्त अन्य किसी के भी नमन नहीं करना चाहिये जिससे तुमको शीघ्र ही मुक्तिरूपी स्त्री का आलिंगन होगा।

इत्यब्दिदिनपरिमितोपदेशप्रासादद्वितीयस्थंभस्य
अष्टादशं व्याख्यानम् ॥ १८ ॥

व्याख्यान १९ वां

समकित के पांच दूषण

शंका कांक्षा विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टिप्रशंसनम् ।
तत्संस्तवश्च पञ्चापि, सम्यक्त्वं दूष्यन्त्यमी ॥१॥

भावार्थः—शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा और उसका संस्तव (परिचय आदि)—ये पांच समकित के दूषित करनेवाले (अतिचार) हैं ।

श्रीअरिहंत के प्ररूपित धर्म के विषय में सन्देह बुद्धि रखना, शंका कहलाती है । वह देश से और सर्व से दो प्रकार की है । देश शंका अर्थात् जिनेश्वरप्ररूपित सर्व पदार्थों में श्रद्धा रक्खे किन्तु अमुक एक या दो स्थान पर शंका करे । जैसे कि—जीव है यह बात सो सच्च है परन्तु वह सर्व-गत होगा या असर्वगत ? सप्रदेशी होगा या अप्रदेशी ? आदि एक आद्यअंश में शंका करना यह देश से शंका होना कहलाता हैं और सर्व से शंका अर्थात् तीर्थंकरभाषित सर्व पदार्थों में शंका करना ये दोनों प्रकार की शंका सम्यक्त्व के लिये दूषणरूप है ।

शंका पर दो बालकों का दृष्टान्त

किसी ग्राम में किसी स्त्री के दो पुत्र थे । जिनमें से एक

उसके शोक्य का था और दूसरा उसका खुद का था। वे दोनों लड़के एक दिन पाठशाला से घर पर आये। उनको उस स्त्रीने माषपेया (उड़द की राबड़ी) खाने को दी। उसको खाते खाते उसमें काले छिलके देख कर शोक्य का पुत्र विचार करने लगा कि इस राबड़ीमें मक्खियें हैं, मेरी माता की शोक होने से इसने मुझे मक्खिये डाल कर यह राबड़ी देना जान पड़ता है। इस प्रकार शंका रखने से उनको वमन हो गया। उसी प्रकार सदैव शंका होने से हमेशा वमन होते होते उसे ऊर्ध्ववात की महाव्याधि हो गई जिससे अन्त में वह मृत्यु को प्राप्त हुआ। और दूसरे पुत्रने तो ऐसा विचार किया कि मेरी माता मुझे मक्षिका-वाला भोजन नहीं दे सकती। इस प्रकार निःशंकारूप खाने से वह स्वस्थ रहा। इस दृष्टान्त से किसी बात में शंका न कर शंका का त्याग कर देना उचित है। इस विषय पर दूसरा दृष्टान्त कहा जाता है।

तिष्यगुप्त निह्नव का दृष्टान्त

श्रीमहावीरस्वामी को केवलज्ञान प्राप्त होने बाद सोलह वर्ष में दूसरा तिष्यगुप्त नामक निह्नव हुआ। उसका वृत्तान्त इस प्रकार है।

राजगृही नगरी के गुणशील नामक चैत्य में एक बार चौदह पूर्वधारी वसु नामक आचार्य पधारे। उनके तिष्यगुप्त

नामक एक शिष्य था। एक बार आत्मप्रवाद नामक पूर्व का अभ्यास करते हुए उसके पढ़ने में इस प्रकार सूत्रालापक आया कि "एगे भंते जीवप्पएसे जीवे त्ति वत्तव्वं सिया ? नो इणट्ठे समट्ठे, एवं दो तिन्नि संखिज्जा असंखिज्जा वा एगप्पएसुणं वि जीवे ? नो जीवे त्ति वत्तव्वं। कहं ? जम्हा कसिणे पडिपुणलोगागासपएसतुल्ले जीवे जीवे त्ति वत्तव्वं सिया इत्यादि–हे भगवन्। जीव के एक प्रदेश में, तीन वक्तव्यता हो सकता है ? प्रभुने कहा नहीं, यह अर्थ समर्थ–योग्य नहीं है। इस प्रकार दो प्रदेश में, तीन प्रदेश में, संख्याता प्रदेश में, असंख्याता प्रदेश में, अन्त में एक प्रदेश में ऊणा ऐसे सर्व प्रदेश में जीव कहला सकते है या नहीं ? प्रभुने कहा–नहीं। यह अर्थ भी समर्थ नहीं अर्थात् वह जीव नहीं कहला सकता है। तो जीव कब कहलाता है ? प्रभुने कहा कि–परिपूर्ण लोकाकाश के प्रदेश जितना-प्रदेश एकेक जीव का है, उस समग्र प्रदेश को "जीव" कहते हैं-आदि, इस प्रकार पढ़ते हुए तिष्यगुप्त को ऐसी शंका हुई कि–जीव के एक अन्तिम प्रदेश में ही जीव संज्ञा का होना जान पडता है। शेष सर्व प्रदेश में जीव संज्ञा नहीं है ऐसा यह सूत्र स्पष्ट बतलाता है। ऐसे अपने मत को वह दूसरों के पास भी पुष्टि करने लगा। यह जान कर गुरुने मित्ररूप हो कर उससे कहा कि–हे शिष्य ! जो तू जीव के एक दो आदि प्रदेशों में जीवपन मानता है तो अन्तिम प्रदेश में भी जीवपन सिद्ध नहीं

होगा। क्यों कि सबका प्रदेशपन तो एकसा ही है। इस लिये जैसे रेती के हजारों कण में तैल नहीं होता तो फिर वह तैल आखिरी कण में किस प्रकार हो सकता है ? अतः तेरे मानने के द्वारा तो जीव का अभाव ही सिद्ध होगा। वह अभाव तो तू नहीं मानता है इस लिये वह अर्थ तेरे लिये भी इष्ट नहीं है। शिष्यने प्रश्न किया कि–हे गुरु ! आपने जो यह युक्ति बतलाई है इससे तो आगम में बाधा आती है। क्यों कि अभीके आये हुए सूत्र में एक दो प्रदेश में जीव का निषेध कर अन्तिम प्रदेश में ही जीवपन कहा गया है तो फिर आप जगद्बन्धु जिनेश्वरद्वारा कहे हुए सूत्र का क्यों कर निषेध करते हैं ? गुरुने उत्तर दिया कि– हे शिष्य ! यदि तू सूत्र को प्रमाण मानता हो तो सुन, उसी में कहा है कि " परिपूर्ण लोकाकाश प्रदेशतुल्य जीव में जीव संज्ञा है " इस लिये सूत्र को प्रमाण माननेवाले को तो इसमें नवीन कुयुक्तियें करना ही नहीं चाहिये। सर्व समुदायरूप जीव के प्रदेश जीव है। तंतु के समुदाय को ही वस्त्र कहते हैं। परन्तु एक दो तंतु में समस्त यह नहीं होता। इस लिये तेरी शंका का स्थान नहीं रहता। इस प्रकार गुरु के समझाने पर भी वह तिष्यगुप्त नहीं समझा तो गुरुने उसे गच्छ बाहर कर दिया।

फिर वह तिष्यगुप्त विहार करता हुआ एक बार आमलाकल्पा नामक नगरी में गया और वहां ग्राम के बाहर

एक उद्यान में ठहरा। वहां मित्रश्री नामक रहता था। उसने उसको निह्नव जानकर प्रतिबोध करने के हेतु से उसके पास जाकर निमंत्रण दिया कि आज आहार लेने के लिये तुम्हें खुद मेरे घर आना चाहिये। यह बात अंगीकार कर तिष्यगुप्त मित्रश्री के घर गया। मित्रश्रीने उसको बहुमान-पूर्वक आसन पर बिठा कर उसके सन्मुख अत्यन्त उत्साह और आडम्बर से उत्तम प्रकार के अनेक भक्ष, भोज्य, अन्न, पान, व्यंजन, वस्त्र आदि का समूह रक्खा फिर उसने सर्व में से अन्तिम एक एक अवयव लेकर उसके पात्र में रक्खा अर्थात् पक्कान, शाक आदिका एक एक कण कण रक्खा, दाल, कढी, जल आदि का एक एक बिन्दु रक्खा, और वस्त्रों में से एक एक अन्तिम तंतु निकाल कर रक्खा। फिर उस श्रावकने नमस्कार किया और अपने सर्व बंधुजनों को कहा कि-तुम इस साधु को वन्दना करो। मैंने आज इनको परिपूर्ण प्रतिलाभ्या है। मैं आज मेरी आत्मा को धन्य और पुण्यवान् मानता हूं क्यों कि गुरु स्वयं ही मेरे घर पर पधारे हैं। यह सुन कर तिष्यगुप्त बोला कि-हे श्रावक! ऐसा एक एक कण देकर हँसी की है यह तुझे योग्य नहीं है। श्रावकने उत्तर दिया कि-हे पूज्य! तुम्हारा ही यह मत है। वह यदि सत्य हो तो इन लडु तथा भात आदिके अन्तिम अवयव से आपकी तृप्ति होना चाहिये और यह एक अन्तिम वस्त्र तंतु शीत का रक्षण करनेवाला होना

चाहिये। यदि ऐसा न हो तो आपका कहा हुआ सब झुठ सिद्ध होगा। यह सुन कर प्रतिबोध को प्राप्त हुआ तिष्यगुप्त बोला कि–हे श्रावक! तूने मुझे सच्चा बोध कराया है। श्री वीर भगवान के वाक्य में पडी हुई शंका अभी दूर हो गई है। फिर उस श्रावकने भक्तिपूर्वक उत्तम प्रकार से उसे पडिलाभ्या। तिष्यगुप्त गुरु के पास जाकर आलोयणा, प्रतिक्रमण कर श्रीजिनेश्वर की आज्ञानुसार विचरने लगा। गुरु के चरणों में वर्तते सम्यग मार्ग को प्राप्त कर उसका प्रतिपालन कर वह स्वर्ग में गया।

हे भव्य प्राणियों! इस तिष्यगुप्त के चरित्र को सुन कर जिनेश्वर के वचनों में किंचित्मात्र भी शंका नहीं करना चाहिये क्यों कि शंका सद्बुद्धि को मलिन करनेवाली है।

यहां निह्नव का प्रसंग आने से निह्नव कब कब हुए यह बलताया जाता है।

निह्नवों की सूचि

१ श्री महावीरस्वामी के केवलज्ञान होने के पश्चात् चउदवें वर्ष में जमालि नामक निह्नव हुआ। २ सोलहवें वर्ष में तिष्यगुप्त हुआ। ३ दोसो चउदह वर्ष में अव्यक्त निह्नव हुआ। ४ दोसो वीसवें वर्ष में शून्यवादी हुआ। ५ दोसो आठाइसवें वर्ष में एक समय में दो उपयोग कहनेवाला गंगदत्त हुआ। ६ पांचसो चवालिसवें वर्ष में नव-

जीवन का स्थापन करनेवाला छल्लूरोह हुआ । ७ पांचसो चोराशीवें वर्ष में गोष्ठामाहिल हुआ । ८ छसो ननावें वर्ष में सहस्रमल्ल नामक दिगंबर मत को स्थापन करनेवाला सर्व-विसंवादी हुआ । ९ अन्त में प्रतिमा का खंडन करनेवाला लुंकामति उत्पन्न हुआ ।*

इस प्रकार एक एक वाक्य के उत्थापनार भी निह्नव गिनाये हुए होने से जिनेश्वर भगवन्तद्वारा बतलाये सूक्ष्म बादर स्वरूप में किंचित्मात्र भी शंका नहीं करना चाहिये । क्यों कि एक अर्थ में संदिग्धपन होने से वह कथक सर्वज्ञ-पन के प्रत्यय के योग्य नहीं रहतें इस लिये इस प्रकार की मिथ्या कल्पना करनेवाले को मिथ्यादर्शन प्राप्त होता है जो भवभ्रमण के हेतुभूत है । अपितु

यत्रापि मतिदौर्बल्यादिभिर्मोहवशात् क्वचित् ।
संशयो भवति तत्राप्रतिहतेयमर्गला ॥ १ ॥

भावार्थः—तीर्थंकर के वचन के विषय में जो मति की दुर्बलतादि किसी भी हेतु से अथवा किसी स्थान पर मोह के वश से संशय होता है वह समकित द्वार की अप्रतिहत अर्गलारूप है । इस विषय पर सिद्धान्त में कहा है कि—

---

* इस संख्या आदि में प्रति की अशुद्धि के कारण भूल होना संभव है अतः अन्यत्र यथार्थ हो उस प्रकार गिनना चाहिये ।

कत्थय मइदुब्बलेण,तथाविहायरिय विरहओ वावि।
नेयगहणत्तणेण य, नाणावरणोदयेणं च ॥ १ ॥
हेऊदाहरणसंभवे य, सइ सुट्ठु जं न बुज्झिज्झा ।
सव्वण्णुमयमवितहं, तहावि तं चिंतए मइयं ॥२॥

भावार्थः—किसी स्थान पर मति की दुर्बलता है (मंदता से), तथाविध आचार्य के अभाव से, ज्ञेय का ग्रहणपन यथार्थ नहीं होने से और ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से हेतु, उदाहरण आदि का संभव होते हुए भी सूत्र का यथार्थ ग्रहण न हो सके–बराबर समझने में न आवे तिस पर भी मतिमान् पुरुष को ऐसा ही विचार करना चाहिये कि–सर्वज्ञ का वचन अवितथ–निर्दोष ही है ।

कितने पदार्थ मात्र आगमगम्य ही होते हैं इस लिये वे पदार्थ हमारे जैसे प्राकृत जनों के प्रमाण की परीक्षा के लिये अगोचर हैं परन्तु वे पदार्थ आप्तपुरुषों द्वारा कहे हुए होने से सन्देह करने योग्य नही हैं। इति शंकादूषणोऽधिकारः।

इत्यब्दिनपरिमितोपदेशप्रासादे द्वितीयस्तंभे एकोनविंशति-तमम् व्याख्यानम् ॥ १९ ॥

व्याख्यान २० वां

अब आकांक्षा दोष को स्पष्ट किया जाता है—

देशतः सर्वतो वाप्यभिलाषः परदर्शने ।
स आकांक्षाभिधो दोषः,सम्यक्त्वे गदितो जिनैः ॥१

भावार्थः—देश से अथवा सर्व से अन्य दर्शनों में अभिलाषा होने को जिनेश्वरने समकित में आकांक्षा नामक दोष होना बतलाया है ।

किसी दर्शन में कोई जीवदया आदि का उत्तम विषय देख कर उस दर्शन की अभिलाषा हो जाता वह आकांक्षा कहलाती है । उस में देश से आकांक्षा अर्थात् किसी एक ही दर्शन की अभिलाषा होना और सर्व से आकांक्षा अर्थात् सर्व पाखंडी धर्मों की अभिलाषा होना । जैसे बौद्ध धर्म अच्छा है क्योंकि उस में किसी को भी कष्ट पहुंचाना मना है, इसी प्रकार कपिल और द्विजादिक के धर्म में यहां विषयसुख का भोगनेवाला परभव में भी सुख को प्राप्त करता है ऐसा कहा गया है इसलिये वह धर्म भी उत्तम है । इस प्रकार के विचारों से एकान्त सुख प्राप्त करानेवाले जैन दर्शन को दूषित करते हैं । इस का भावार्थ जितशत्रु राजा और उस के मंत्री के दृष्टान्त से स्पष्ट है—

जितशत्रु राजा और उसके मंत्री की कथा

सर्व प्रकार के कल्याण का स्थानभूत वसंतपुर नगर है, जहां जितशत्रु नामक राजा राज्य करता है। उसके मतिसागर नामक मंत्री है। एक बार राजाने चन्द्रमा के किरण के सदृश श्वेत रंग के दो अश्वों को देख कर प्रसन्न हो उन के मालिक को उसका मूल्य चुका कर उनको खरीद किये। बाद में उनकी परीक्षा करने के लिये मंत्री सहित दोनों पर स्वार होकर मंडलिभ्रमादि गति कराने लगे। उस समय बन में रहनेवाले लोगोंद्वारा त्रासित किये जाने से, वे अश्व कुशिष्य के समान विपरीत शिक्षा पाये हुए होने से, पवन गति के समान दौड कर उनको किसी बड़े भयंकर जंगल में ले गये। वहां श्रम और क्षुधा से पीडित राजा और मंत्रीने बन के फल खा कर कई दिन निर्गमन किये। कई दिन गुजरने पर उनका सैन्य जो उनको ढूंढते ढूंढते उनके पीछे आता था उन से मिला, जिस के साथ राजा तथा मंत्री अपने नगर में गये। राजा स्वयं मूर्ख होने से उसने अपने रसोइयें को कहा कि–मेरे लिये सर्व प्रकार पकवान तथा शाक आदि तैयार कर, क्योंकि मैं बहुत दिनों का भूखा हूँ। रसोइये ने राजा की आज्ञानुसार भिन्न भिन्न सर्व प्रकार के पकवान बनाकर राजा के सामने रक्खे। राजा भी क्षुधापीडित था इसलिये जैसे वड़वानल समुद्र का पान करने पर भी तृप्त नहीं होता उसी प्रकार राक्षस के समान सर्व आहार करने पर भी राजा को तृप्ति नही हुई। अन्त में

अधिक आहार करने से उसके पेट में शूल उत्पन्न हुआ और उसकी व्यथा से उसी रात्री को उसका प्राणान्त हो गया। उस मंत्रीने तो घर जाकर थोड़ा थोड़ा पथ्य भोजन करने लगा और साथ ही साथ वमन तथा विरेचन भी लेने लगा अर्थात् भोजन पर अति आकांक्षा रखने के अतिरिक्त पथ्य भोजन करने से वह सुखी हुआ।

इस दृष्टान्त का यह सार है कि–राजा और मंत्री के स्थान पर जीव हैं जिन में कई राजा जैसे जीव कुछ तपस्या आदि बाह्य गुण देख कर भिन्न भिन्न दर्शनों की आकांक्षा करते हैं वे राजा के समान बिना तृप्ति पाये ही मृत्यु को प्राप्त हो कर दुर्गति के भाजन होते हैं और जो स्याद्वाद–अनेकांत धर्म में निश्चल रहते हैं वे मंत्री के समान सुखी होते हैं।

इस प्रसंग पर निम्न लिखित एक और दूसरा दृष्टान्त है–

सर्व देव की भक्ति करनेवाला श्रीधर श्रावक का दृष्टान्त

गुणदोषापरिज्ञानात्, सर्वदेवेषु भक्तिमान्।
यः स्यात् श्रीधरवत्पूर्वं, स तु नैवाश्नुते सुखम् ॥१॥

भावार्थः—विना गुण दोष के जाने हुए जो पुरुष देवों में प्रथमावस्था में श्रीधर समान भक्तिमान् होता है, वह परिणाम में सुख नहीं पा सकता।

गजपुर में श्रीधर नामक एक वणिक रहता था। वह स्वभाव से ही भद्रिक था। उसने एक वार एक मुनि द्वारा जैन धर्म को श्रवण किया। तभी से वह सदैव श्री जिनेश्वर की त्रिकाल पूजा करने लगा। एक वार उसने श्री प्रभु को धूप कर अभिग्रह किया कि–यह धूप जब तक जलती रहेगी तब तक मैं बिना हिलेडुले निश्चल बैठा रहूँगा। देवयोग से वहां एक सर्प निकला तिस पर भी श्रीधर निश्चल हो बैठा रहा। सर्प उसके पास काटने को जाता है कि श्रीधर के सत्त्व से तुष्टमान हुई देवीने उस दुष्ट सर्प को हटा कर उसके मस्तक की मणि लेकर श्रीधर को दे दी, जिस मणि के प्रभाव से श्रीधर के घर में वृष्टि से उत्पन्न हुई लता के समान लक्ष्मी की वृद्धि होने लगी।

एक बार उसके कुटुम्ब में किसी प्रकार की व्याधि आने से किसीने उससे कहा कि–गोत्रदेवी की पूजा करने से गोत्र में कुशलता रहती है। यह सुन कर भद्रिक श्रीधर ने गोत्रदेवी की पूजा की और देवयोग से व्याधि की निवृत्ति हो गई। फिर एक बार उसके खुद के एक व्याधि उत्पन्न हुई तो किसीके कहने से उसने यक्ष की पूजा की। इसी प्रकार लोगों के कहने से शान्ति के लाभ लिये तथा भावि रोग की निवृत्ति के लिये वह सदैव अन्य अन्य देवों की पूजा करने लगा। भावुक जन सत्संग से गुण और असत्संग से दोष को प्राप्त करते हैं। कहा भी है कि:—

एके केचिद्यतिकरगतास्तुंबिकाः पात्रलीलां ।
गायन्त्यन्ते सरसमधुरं शुद्धवंशे विलग्नाः ॥
अन्ये केचिद्ग्रथितसुगुणा दुस्तरं तारयन्ते ।
तेषां मध्ये ज्वलितहृदया रक्तमन्ये पिबन्ति ॥१॥

भावार्थः—तुम्बे तो सब ही एक ही प्रकार के होते हैं परन्तु उन में से कुछ तुम्बे तो मुनि के हाथ में जाकर पात्र की शोभा को प्राप्त करते हैं, कुछ (गवैया के हाथ में जाकर) शुद्ध बांस के साथ जोड़े जाकर सरस और मधुर गायन करते हैं, कुछ उत्तम डोरी से गुंथे जाकर दुस्तर समुद्र से मनुष्य को तारते हैं और उन्हीं में कुछ तुम्बे (कापाली के हाथ में जाकर) ज्वलित (दुष्ट) हृदय- (मध्य भाग)वाला होकर लोहू का पान करता है अर्थात् वैसे कार्य में काम आता है ।

एक बार उस श्रीधर के घर में चोरोंने प्रवेश कर उसका सर्व धन चोरलिया इस से श्रीधर को अत्यन्त खेद हुआ । अन्त में उसकी ऐसी स्थिति हो गई कि उसके घर में कोई वस्तु न बची और भोजन की भी मुश्किल गुजरने लगी । अन्त में अत्यन्त दुखी होने से उसने अट्ठम कर सर्व देवताओं की आराधना की । तीसरे दिन देवताओंने कहा कि–अरे ! तूने हमारा स्मरण किस लिये किया है ? श्रीधरने उत्तर

दिया कि–मुझे समृद्धि प्राप्त कराओं। इस पर उन्होने जवाब दिया कि–तेरी कुलदेवी के पास जा, वह तुझे समृद्धि प्रदान करावेगी। अतः श्रीधर कुलदेवी के पास जाकर अट्ठम कर बैठ रहा। तीसरे दिन वह भी समृद्धि मांगने पर बोली कि– हे दुष्ट! मेरे पास से शिघ्रतया भाग जा, तू तेरे घर के बाहर जिन जिन देवताओं की पूजा करता है उनके पास जा, वे तुझे समृद्धि देगें। यह सुन कर श्रीधरने गृहदेवी की आराधना की इस पर मन ही मन हँस कर वे आपसमें कहने लगे। गणपतिने चन्डिका देवी से कहा कि-हे चन्डिका! तेरे भक्त को मनवांछित फल प्रदान कर। इस पर उसने उत्तर दिया कि–इसको तो बस वह यक्ष मनोवांछित फल प्राप्त करायेगा क्योंकि देखिये यह उसको उच्चासन बैठाता है और सदैव यह मेरे पहिले उसीकी पूजा करता है। इस पर यक्षने कहा कि–इसको मनवांछित फल की प्राप्ति शासनदेवता करायेगें। इस प्रकार सर्व देवताओंने उसकी हँसी उड़ा कर उपेक्षा की तब वह शासनदेवी की आराधना करने लगा। शासनदेवीने उत्तर दिया कि–हे मूर्ख! तूने यह क्या किया? बड़ी भारी भूल की। अब भी विकथा और हास्य में तत्पर ऐसे कुदेवों को छोड़ कर देवताओ के देव, आठों कर्मों के क्षीण करनेवाले और कृपा के अवतार त्रिकाल ज्ञानी सर्वज्ञ की अर्चा कर कि जिससे दोनों भवमें सुखसम्पत्ति प्राप्त हो। यह सुन कर श्रीधरने वैसा ही किया। तब उसको आकांक्षा

रहित दृढ़ निश्चयवाला जान कर शासनदेवीने उसको फिर से मणि प्रदान की जिससे वह फिर समृद्धिवान हो गया और परभव में आसन्नसिद्ध हुआ अर्थात् थोड़े ही समय में सिद्धि पद को प्राप्त हुआ।

हे भव्य जीवों! शास्त्रनिंद्य ऐसे आकांक्षा दोष का सेवन करनेवाला मनुष्य श्रीधर के समान हास्य का पात्र बनता है, अतः जिनशासन को जाननेवाले को इस दोष से दूर रहना चाहिये।

इत्यब्दिनपरिमितोपदेशप्रासादवृत्तौ द्वितीयस्तंभे विंशतितमं व्याख्यानम् ॥ २० ॥

व्याख्यान २१ वां

तीसरा विचिकित्सा दोष

देशतः सर्वतो वापि, कृतक्रियाफलं प्रति।
क्रियते हृदि सन्देहो, विचिकित्साभिधः सकः ॥१॥

भावार्थः—की हुई धर्मक्रिया के फल के विषय में देश से अथवा सर्व से मन में सन्देह करना विचिकित्सा नामक दोष कहलाता है।

की हुई खेती आदि लौकिक क्रिया के फल के समान सामायिक आदि धर्मक्रिया करने का फल मुझे प्राप्त होगा या नहीं? इस प्रकार की शंका करना विचिकित्सा कहलाती है।

यहां पर यदि किसी को यह शंका हो कि "शंका नामक जो पहला दोष बतलाया गया था उसमें और इस विचिकित्सा में क्या फर्क है ?" तो कहना है कि शंका तो द्रव्यगुणपर्याय सर्व पदार्थों में होती है अर्थात् धर्मास्तिकायादि द्रव्यों में, उनके गुणों में और पर्याय में अनेक प्रकार की उत्पन्न होती है किन्तु यह विचिकित्सा तो केवल मात्र की हुई क्रिया में ही उत्पन्न होती है, अतः शंका और विचिकित्सा के विषय एक दूसरे से भिन्न हैं। अथवा अन्य शब्दों में विचिकित्सा अर्थात् मुनि का मान आदि से मलिन शरीर देख कर उसकी जुगुप्सा–निन्दा करना। जिस प्रकार कि ये मुनिजन प्रासुक जल से शरीर का प्रक्षालन(स्नान) करें तो इसमें क्या दोष है ? ऐसा विचार कर उनकी जुगुप्सा करना भी विचिकित्सा कहलाती है। यह विचिकित्सा श्रीजिनेश्वरप्ररूपित धर्म पर अनास्ता(अश्रद्धा)रूप होने से समकित को दूषित करनेवाली हैं। इस विषय दुर्गंधा रानी का दृष्टान्त कहा जाता है:—

दुर्गंधा राणी का दृष्टांत

राजगृह का राजा श्रेणिक एक वार उद्यान में समवसरित श्री वीर प्रभु को वन्दना करने निमित्त उसकी सैन्य सहित जा रहा था कि मार्ग में दुर्गंध के सहन नहीं होने से वस्त्र के छोर से नासिका को बंध कर चलते हुए सैनिकों को देख कर उसने अपने किसी सेवक से इसका कारण पूछा।

उसने उत्तर दिया कि " हे स्वामी ! यहां मार्ग में तुरन्त की जन्मी हुई एक बालिका पड़ी हुई है जिस के शरीर से अत्यन्त दुर्गंध प्रसारित हो रही है।" यह सुन कर राजा ने कहा कि–यह तो पुद्गल का परिणाम हैं। फिर उस बालिका को देख कर समवसरण में गया। श्री वीर प्रभु को प्रणाम कर देशना सुन कर अवसर मिलने पर उसने प्रभु से उस दुर्गंधवाली बालिका के पूर्वभव के वृत्तान्त को सुनाने की प्रार्थना की। प्रभुने कहा कि–यहां समीपवर्त्ती शालि नामक ग्राम में धनमित्र नामक श्रेष्ठी रहता था। उसके धनश्री नामक एक पुत्री थी। एक वार ग्रीष्मऋतु में श्रेष्ठीने उसके विवाह का प्रारंभ किया उस समय कोई मुनि गोचरी के लिये उसके घर पर आया जिसको बहराने के लिये श्रेष्ठीने अपनी पुत्री को आज्ञा दी। इस से वह मुनि को वहराने के लिये गई परन्तु कभी भी स्नान, विलेपनादिक द्वारा शरीर की सुश्रूषा नही करनेवाले उन महात्माओं के वस्त्रों से और शरीर में से स्वेद तथा मल आदि की दुर्गंध आने से उस धनश्रीने अपने मुख को फिरा लिया। विवाह का उत्सव होने से सर्व अंगों पर अलंकारों से शृंगारित, मनोहर सुगंधित अंगराग से विलेपित तथा युवावस्था के उदय से मत्त हुई उस धनश्रीने विचार किया कि " अहो। निर्दोष जैनधर्म में स्थित यह साधुओ कदाच प्रासुक जल से स्नान करते हों तो उसमें क्या दोष है ? इस प्रकार उसने जुगु-

प्सा की। तत्पश्चात् कुछ समय बाद वह जुगुप्सारूप पाप कर्म की आलोचना किये बिना ही मृत्यु को प्राप्त हो गई। वह यहां राजगृह नगरी में ही एक गणिका के उदर में पुत्री-रूप से उत्पन्न हुई है। वह उसके दुष्कर्म के कारण गर्भ में रहने पर भी माता को अत्यन्त असुख उत्पन्न करने लगी इस से उस गर्भ से उद्वेग पाकर उस गणिकाने गर्भपात की अनेकों औषधियें की परन्तु उसका आयुष्य दृढ़ होने से गर्भपात नहीं हुआ और अन्त में समय के पूर्ण होने पर ही उस गणिका से पुत्री प्रसव हुआ। जन्म से ही उसकी दुर्गंध दुःसह होने से उसको उस गणिकाने विष्टा के समान त्याग दिया, जिसको तुमने मार्ग में पड़ी हुई देखी है।

इस प्रकार का उसका पूर्व जन्म का वृत्तान्त सुन कर राजा श्रेणिकने प्रभु से पूछा कि–अब उसकी क्या गति होगी। भगवानने उत्तर दिया कि–हे राजा! उस दुर्गंधाने पूर्वकृत मुनि के जुगुप्सारूप अशुभ कर्म का समग्र फल भोग लिया है, अब वह मुनि को दिये हुए दान के भोगरूप फल को भोगनेवाली है, उसका शरीर कस्तूरी और कर्पूर से भी अधिक सुगन्धित हो गया है। हे राजा! जब वह आठ वर्ष की आयु की होगी तब तेरी पट्टराणी होगी। इसकी यह निशानी है कि तुम दोनों पाशे का खेल खेलोगे जिस में यह शर्त होगी कि जो जीतेगा वह हारनेवाले के पृष्ठ पर चढेगा! उस खेल में तेरी हार होगी और वह दुर्गंधा तेरी पृष्ठ पर

चढाई करेगी। यह सर्व वृत्तान्त सुन कर श्रेणिक राजा आश्चर्यचकित होकर प्रभु को वन्दना कर अपने स्थान को लोट गया।

इस ओर दुर्गंधा को देख कर श्रेणिक राजा समवसरण की ओर गया उसके पश्चात् उसका शरीर सुगन्धमय हो गया था। उस समय एक ग्वालिन उस ओर होकर निकली उसमें उस सुन्दर बालिका को मार्ग में पडी हुई देखकर उठा लिया और स्वयं संतति रहित होने से उसे अपने घर ले जाकर पुत्री तुल्य उसका पालन-पोषण कर बड़ा किया।

एक वार कौमुदी उत्सव के आने से नगर के सर्व लोग नगर से बहार उद्यान में क्रीड़ा करने निमित्त गये। श्रेणिक राजा भी स्त्रियों की क्रीड़ा देखने के लिये अभय-कुमार को साथ ले कर उस अवसर पर वहां गये। दुर्गंधा भी उसकी मां के साथ उत्सव देखने को गई। उस समय की उसकी सुन्दरता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि-

श्यामा यौवनशालिनी
सुवचना सौभाग्यभाग्योदया।
कर्णान्तायतलोचना
कृशकटी प्रागल्भ्यगर्वान्विता॥

रम्या बालमराल–
मन्थरगतिर्मत्तेभकुंभस्तनी ।
बिंबोष्टी परिपूर्ण–
चन्द्रवदना भृंगालिनीलालका ॥ १ ॥

भावार्थः—वह सुन्दर स्त्री युवावस्था से सुशोभित, अति मिष्ट वचनवाली, सौभाग्यरूप भाग्य की उदयवाली, कर्ण पर्यंत दीर्घ नेत्रवाली, सिंह सदृश कृश कटिप्रदेशवाली, प्रगल्भपन के गर्व से युक्त, बाल राजहंस के सदृश मंद एवं मनोहर सुन्दर चालवाली, मदोन्मत्त हाथी के कुंभस्थल जैसे पुष्ट स्तनवाली, पके हुए बिंबफल के सदृश रक्त ओष्टवाली, पूर्णिमा के चन्द्र सदृश कान्तिमान मुखवाली और भ्रमरश्रेणि के सदृश श्याम वर्ण के केशवाली थी ।

इस प्रकार उस मनोहर एवं रूपवान गोपपुत्री को देख श्रेणिक राजा उस पर अत्यन्त मोहित होकर कामातुर हो गया और अभयकुमार से गुप्त रह कर राजाने उसके वस्त्र के छोर पर अपनी मुद्रिका बांध दी । कुछ समय पश्चात् राजाने अपने हाथ की ओर दृष्टि फैंक कर अभयकुमार से कहा कि–मेरी मुद्रिका यहां खो गई है इस लिये जिसने उसे उठाई हो उस चोर की खोज कर उसको मेरे पास ला । यह सुन कर अभयकुमारने अपने पिता का वचन स्वीकार कर उद्यान के सर्व दरवाजे बंध करा कर केवल एक ही दरवाजे से सर्व

मनुष्यों को एक एक अरतलाशी ले कर निकालना शरू किया। सर्व स्त्रीयों के हाथ तथा वस्त्र के छोर ढूंढते ढूंढते उक्त गोपपुत्री के ओढ़नी के छोर से वह मुद्रिका ढूंढ निकाली। उस मुद्रिका को ले कर अभयकुमारने उससे पूछा कि–तूने यह राजा की मुद्रिका किस प्रकार चुराई ? इस पर उसने कानों पर हाथ धर कर कहा कि–मैं इसके विषय में बिलकुल अनभिज्ञ हुँ। उसके उत्तर तथा उसकी आकृति से अभयकुमारने उसको निर्दोष जान कर विचार किया कि–यह गोपपुत्री चौर नहीं है परन्तु सब कार्य इस आसक्त हुए पिता का ही जान पड़ता हैं। इस लिये अभयकुमारने उसको राजा के पास ले जा कर कहा कि–हे राजा ! इसने मुद्रिका नहीं चोरी है किन्तु आपके चित्त को ही चुराया है अतः मुद्रिका की बातचीत करना व्यर्थ हैं। राजाने अपना दोष स्वीकार कर उसके मातपिता को बुला कर उसके साथ विवाह कर उसे अपनी पट्टरानी बनाया।

एक बार राजा तथा दुर्गंधा पासे का खेल खेलने लगे जिसमें यह शर्त ठहरी की जीतनेवाला हारनेवाले के पृष्ठ पर स्वार हो। उसमें दुर्गंधा की विजय हुई इससे वह राजा के पृष्ठ पर शंका रहित आरूढ़ हुई। कहा भी है कि:–

कुलं स्वकृत्यैरकुलप्रसूतः,
सन्मानितोऽपि प्रकटीकरोति।

श्रीश्रेणिकांसे निदधे यदंघ्रि-
र्दुर्गंधया पण्यवधूद्भवत्वात् ॥ १ ॥

भावार्थः—नीच कुल में उत्पन्न हुआ पुरुष राजादिक द्वारा सम्मानित होने पर भी अपने कृत्योंद्वारा अपने नीच कुल को प्रकट करता है। देखिये वेश्या की पुत्री होने से दुर्गंधाने श्रेणिक राजा के स्कन्ध पर पैर रखा है।

उस समय राजा को श्रीवीरप्रभु के वचनों का स्मरण आनेसे हँसी आगई। इस पर दुर्गंधा राणी तत्काल पृष्ठ से नीचे उतर कर उस अकस्मात् आनेवाली हंसी का कारण पूछा। इस पर राजाने उसको भगवान के कहे अनुसार उसके पूर्व जन्म से लगा कर हँसी आने के समय तक का सब वृत्तान्त सुनाया। जिसके सुनने से उसे वैराग्य उत्पन्न हो गया और उसने राजा से आज्ञा ले कर श्रीवीरप्रभु के पास जा दीक्षा ग्रहण की।

इस प्रकार श्रेणिक राजा की रानी दुर्गंधा का चरित्र सुन कर पुन्यशाली जीवों को कदापि मुनिजुगुप्सा नहीं करना चाहिये।

इत्यब्ददिनपरिमितोपदेशप्रासादवृत्तौ द्वितीयस्तंभे
एकविंशतितमं व्याख्यानम्॥ २१ ॥

व्याख्यान २२ वां

मिथ्यात्व की प्रशंसा नामक चोथे दूषण के विषय में।

अतीतानागता ये च, सन्ति वा येऽन्यलिंगिनः।
तेषां प्रशंसनं शंसाभिधो दोषश्चतुर्थकः ॥ १ ॥

भावार्थः—जो अन्यलिंगी हो गये हैं, होनेवाले हैं और वर्तमानकाल में मोजुद हैं उनकी प्रशंसा करना मिथ्यात्व की प्रशंसा नामक चोथा समकित का दूषण कहलाता है।

इस दोष के सर्व से और देश से दो भाग हैं। इनमें सर्व दर्शन सत्य है ऐसा मान कर सब की प्रशंसा करना सर्व से प्रशंसा दोष कहलाता है और बुद्ध का अमुक वचन अथवा सांख्य का अमुक वचन अधिक श्रेष्ठ हैं ऐसा कह कर एकाद मत की प्रशंसा करना देश से प्रशंसा दोष कहलाता है। इन दोनों प्रकार के सम्यक्त्व के दोषों का त्याग करना चाहिये। इस विषय के पुष्टि में महानिशीथ सूत्र में सुमति और नागिल का दृष्टान्त दिया गया हैं जो इस प्रकार है—

सुमति नागिल का दृष्टान्त

मगध देश में कुशस्थल नामक नगर में जीवाजीवादिक तत्त्वों को जाननेवाले सुमति और नागिल नामक दो धनाढ्य भाई रहते थे। कुछ समय के बाद किसी पापकर्म के उदय

से जब वे निर्धन हो गये तो दोनोंने परस्पर विचार किया कि–हम द्रव्य रहित हो गये हैं इस लिये धनोपार्जन के लिये परदेश जाना चाहिये। ऐसा विचार कर उन्होंने शुभ दिवस को प्रयाण किया। मार्ग में जाते हुए उन्होने एक श्रावक के साथ पांच साधुओं को जाते हुए देखा। उनको उत्तम साथ जान कर वे भी उनके साथ हो गये। कुछ दिन तक उनके साथ रहने से उनकी चेष्टा तथा वाणी से उन साधुओं को कुशीलवान जान कर नागिलने सुमति से कहा कि–"हमारा इन साधुओं के साथ रहना अनुचित है। क्यों कि मैंने श्रीनेमिनाथ के मुंह से एक बार ऐसा सुना था कि " एवंविहे अणगाररूवे भवंति ते कुसीले, ते दिट्ठिए वि निरिक्खओ न कप्पंति–"इस प्रकार के साधु वेषधारी होते हैं, उनको कुशील समझना चाहिये, उनको देखना भी पाप है। अतः हे भाई! हमको इन कुदृष्टि(मिथ्यादृष्टि) को छोड़ कर आगे चलना चाहिये।" यह सुन कर सुमतिने कहा कि–" हे नागिल! तू वक्रदृष्टि से दोष देखनेवाला जान पड़ता हैं, अतः इन साधुओं के साथ बातें करना तथा गमन आदि करना मुझे योग्य प्रतीत होता हैं।" नागिलने उत्तर दिया कि–"हे भाई! मैं तो मन से भी साधु के दोष को ग्रहण नहीं करता परन्तु मैंने भगवान् तीर्थंकर के पास कुशील साधु को नहीं देखने का निश्चय किया हैं।" सुमतिने कहा कि–" जैसा तू बुद्धिहीन

है वैसा ही वह तीर्थंकर भी होगा कि जिसने तुझे ऐसा निषेध किया है।" इस प्रकार कहते हुए सुमति के मुंह को नागिलने अपने हाथ से बंध करं दिया और कहा कि–"बन्धु ! अनन्त सागर के कारणरूप ऐसे वाक्य तू न बोल। तीर्थंकर की आशातना न कर। इन साधुओं में बालतपस्वीपन जान पड़ता है क्यों कि ये अनेक गुप्त विषयादि दोषों से दूषित है अतः मैं तो इनका संग छोड़ कर जाता हूँ।" सुमतिने कहा कि–"मैं तो प्राणान्त होने पर भी इनका संग नहीं छोडूंगा।" ऐसा कह कर नागिल अकेला उनसे जुदा हो गया और सुमतिने उन साधुओं के पास दीक्षा ग्रहण की। उन पांच साधुओंमें से चार साधु तो अनेक भव में परिभ्रमण कर अन्त में मोक्षपद को प्राप्त करेंगे परन्तु पांचवां अभव्य होने से अनन्त सागर में भटकेगा।

श्रीगौतम गणधरने जिनेश्वर से पूछा कि–हे भगवान ! सुमति भव्य है या अभव्य ? भगवानने कहा कि–हे गौतम ! सुमति का जीव भव्य है। गौतमने पूछा कि–वह इस समय किस गति में हैं ? भगवानने कहा कि–हे गौतम ! कुशील की प्रशंसा तथा जिनेश्वर की आशातना करने से वह परमाधार्मिक देवरूप से उत्पन्न हुआ है। गौतमने पूछा कि–हे भगवन् ! अब उसका क्या होगा ? प्रभुने उत्तर दिया कि–हे गौतम ! उसने अनन्त संसार उपार्जन किया हैं इस लिये अनन्तकाल तक भटकेगा, फिर भी मैं संक्षेप से कहताहूँ उसको

सुनों—लवणसमुद्र में जहां गंगा और सिन्धु ये दो बड़ी नदिये प्रवेश करती हैं उस स्थान के दक्षिण दिशा में जम्बूद्वीप की जगती की वेदिका से पचावन योजन दूर साढ़े बारह योजन का विस्तारवाला और साड़े छ योजन उँचा हस्ति के कुंभ-स्थल के आकार का एक द्वीप हैं। उस द्वीप में काजल (मेस), केश, मेघ और भ्रमर की कान्ति को तिरस्कार करनेवाली कान्ती की, भगंदर की व्याधि के आकार की सेंतालिस गुफाऐं हैं। उन गुफाओं में जलचारी मनुष्य रहते हैं। वे प्रथम संहननवाले, मद्यपान करनेवाले, मांसाहारी, मसी के कुचे सदृश कान्तिवाले और अत्यन्त दुर्गंधित शरीरवाले होते हैं। वे अन्डगोलिक के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके अंड की गोली को चमरी गाय के पूछ के केश से गुन्थ कर कान पर बांध कर व्यौपारी समुद्र में प्रवेश करते हैं। उसके प्रभाव से उनको कोई भी जलजन्तु उपद्रव नहीं कर सकते और समुद्र में से रत्नादिक ले कर वे व्यौपारी कुशल क्षेम से बाहर आ जाते हैं। यह सुन कर गौतमस्वामीने पूछा कि—हे भगवान! वे व्यौपारी किस उपाय से उन अंडालियों को लेते हैं? प्रभुने जवाब दिया कि—हे गौतम! लवणसमुद्र में रत्न नामक द्वीप हैं जिसमें रत्न के व्यौपारी रहते हैं। वे समुद्र के समीप जिस स्थान पर घंटी के आकार के वज्रशिला के संपुट (दो पड़) होते हैं वहां आकर उन संपुटों को उघाड कर उनमें चार महाविकृतियें (मध, मांस, मद्य और मक्खन)

भर देते हैं। फिर जिस स्थान पर वे अंडगोलियें रहते हैं उस स्थान पर वे मद्य, मांस आदि लेकर आते हैं। उनको दूर से आते हुए देख कर वे अंडगोलियें उनको मारने को दौड़ते हैं, इस लिये वे व्यौपारी कदम कदम पर उनके खाने के लिये मद्य, मांसादिक से भरे हुए पात्र रखते हुए भगते जाते हैं। वे अंडगोलियें भी उनके पीछे पीछे मार्ग में पड़े हुए मद्य, मांस के पात्रों में से मांसादिक खाते खाते दौड़ते हैं। अन्त में वज्रशिला के संपुटों के समीप आकर उनमें रक्खे हुए मद्य, मांसादिक को खाने के लिये वे उनके अन्दर प्रवेश करते हैं और वे व्यौपारी अपने अपने स्थान को चले जाते हैं। उनके अन्दर मद्य, मांस खाते हुए वे पांच, छ, सात, आठ या दस दिन व्यतीत करते हैं इस बीच में वे व्यौपारी बखतर पहिन कर, खड्ग, भाला आदि शस्त्र धारण कर उस वज्रशिला के संपुटों के पास आकर सात आठ मंडल का संपुटों को घेर लेते हैं और बाद में उन्हों ने जिन संपुटों को प्रथम उघाड़ा था उसको ढ़क देते हैं। उनमें से कदाच एक भी अंडगोलिया निकल जाय तो वह इतना बलवान होता है कि उन सब को मार डाले। फिर वे व्यौपारी यंत्र द्वारा वज्र की चक्की में उनको पीसते हैं परन्तु वे अत्यन्त बलवाले होने से एक वर्ष में महावेदना पा कर मृत्यु को प्राप्त होते हैं। उनको पीसने पर उनके शरीर के अवयव चूर्ण के समान बाहर निकलते जाते हैं। उनमें से वे व्यौपारी

उनके अंड की गोलियें खोज लेते हैं। फिर उन गोलियों का उपरोक्तानुसार उपयोग कर वे समुद्र में से रत्न ग्रहण करते हैं। गौतम ! उस सुमति का जीव परमाधार्मिक के भव से चव कर वह अंडगोलिक मनुष्य होगा। इस प्रकार सात भव कर के अनुक्रम से व्यन्तर, वृक्ष, पक्षी, स्त्री, छट्ठी नरक में नारकी और कुष्ठी मनुष्य ऐसे भवों में अनन्त काल तक परिभ्रमण कर अन्त में कर्मों का क्षय कर चक्रवर्ती पद प्राप्त कर प्रव्रज्या ग्रहण कर मोक्ष को प्राप्त करेगा। उस नागिलने तो उसी भव में बाईसवें तीर्थंकर के पास दीक्षा ग्रहण कर मुक्तिपद प्राप्त किया है। (यह प्रबन्ध महा-निशीथ के चोथे अध्ययन में विस्तारपूर्वक वर्णित है।)

इस सुमति के वृत्तान्त को पढ़ कर भव्य प्राणियों को कुशील की प्रशंसा का निरन्तर त्याग करना चाहिये, क्यों कि ऐसा करने से ही वह दुर्गति को प्राप्त हुआ है और शुद्ध समकित से सुशोभित नागिलने उसी भव में उत्तम संगति से मोक्ष पद को प्राप्त किया है।

इत्यब्दिनपरिमितोपदेशप्रासादवृत्तौ द्वितीयस्तंभे द्वाविंशतितमं व्याख्यानम् ॥ २२ ॥

व्याख्यान २३ वां

पांचवे मिथ्यादृष्टिसंस्तव नामक दूषण के विषय में।

मिथ्यात्विभिः सहालापो, गोष्ठी परिचयस्तथा ।
दोषोऽयं संस्तवो नाम, सम्यक्त्वं दूषयत्यसौ ॥१॥

भावार्थः—मिथ्यात्वीयों के साथ वातचीत, गोष्ठी तथा परिचय करना संस्तव नामक दोष कहलाता हैं। यह दोष समकित को दूषित करनेवाला है ।

मिथ्यात्वियों के साथ परिचय करने से समकित को दोष लगता है। उनकी क्रियाओं को सुनने से तथा देखने से स्याद्वाद मत को नहीं जाननेवाले मंद बुद्धिवाले पुरुष का समकित से भ्रष्ट होना सम्भव है परन्तु स्याद्वाद के सम्पूर्ण स्वरूप के ज्ञाता को यह दोष नहीं लगता क्यों कि कई समकितवान् मिथ्यात्वीयों से परिचय होने पर भी गुण को ही ग्रहण करते हैं और अपने समकित को विशेषतया स्फूटतर-अति निर्मल करते हैं। इस पर धनपाल कवि का दृष्टान्त प्रसिद्ध है :—

धनपाल कवि का दृष्टान्त.

धारानगरी में लक्ष्मीधर नामक एक ब्राह्मण था जिस के धनपाल और शोभन नामक दो पुत्र थे। उस ब्राह्मण के

घर में किसी एक स्थान पर धन गड़ा हुआ था। उसकी आवश्यकता होने से उसकी कई स्थान पर खोज की गई किन्तु नहीं मिला। समस्त घर को चारों तरफ खोद डाला लेकिन वह धन कहीं भी न मिला इससे लक्ष्मीधर अत्यन्त चिन्तातुर हो गया। एक बार स्वपरशास्त्र के पारंगत श्री जिनेश्वरसूरि का धारानगरी में पधारना हुआ। लक्ष्मीधरने उनसे धन के विषय में प्रश्न किया। इस पर सूरिने उत्तर दिया कि–यदि तू तेरे दो पुत्रो में से एक हम को दे देवे तो तुझे धन बतला दूँ। उसने सूरि के वचन को स्वीकार कर लिआ, इस लिये आचार्य महाराजने अहिबलय चक्र के अनुसार से देख कर कहा कि–अमुक स्थान पर धन हैं। उस जगह पर खोदने से लक्ष्मीधर को धन की प्राप्ति हुई परन्तु उसने अपने वचनानुसार पुत्र को नहीं दीया। कुछ समय पश्चात् जब उसका मृत्युकाल समीप आया तो उसके सूरि के साथ की हुई प्रतिज्ञा का स्मरण होने से खेदित हो कर दोनों पुत्रों से उस प्रतिज्ञा का हाल सुनाया। यह सुन कर छोटे पुत्र शोभनने कहा कि–हे पिता! मैं तुम को ऋणमुक्त करुंगा। इस पर लक्ष्मीधरने संतुष्ट हो कर शरीर छोड़ा और शोभनने बिना अपने स्वजनों को पूछे ही गुरु के समीप जा दीक्षा ग्रहण की।

धारानगरी में धनपाल का बहुमान होने से गुरुने उससे भयभीत हो कर मालव देश में विहार करना छोड़

दिया और अन्य साधुओं को वहां जाने का निषेध किया। गुरु के संसर्ग से शोभन मुनि भी बड़े विद्वान हो गये। एक वार शोभन मुनि गोचरी के लिये गये तो उनका चित्त श्री जिनेश्वर की स्तुति रचने में व्यग्र होने से किसी श्रावक के घर से आहार ले कर भरे हुए पात्र झोली में रखने के बदले पास में रक्खे हुए पाषाण पात्र को झोली में रख कर गुरु के पास पहुँचे। आहार के समय में झोली में पाषाण पात्र को देख कर शोभन मुनि की स्पर्धा करनेवाले अन्य मुनि उनकी हँसी उड़ाते हुए बोले कि–अहो! आज शोभन को तो बड़े लाभ का उदय हुआ है। गुरुने शोभन को इसके विषय में पूछा तो उसने सब बात सत्य सत्य बतला कर अपने बनाये हुए जिनस्तुति के काव्य कह सुनाये, जिन को सुन कर गुरु अत्यन्त प्रसन्न हुए।

एक बार गुरुने शोभन को कहा कि–हे वत्स! तू धारा-नगरी जा कर जैन धर्म के द्वेषी तेरे भाई धनपाल को प्रति-बोध कर। गुरुआज्ञा शिरोधार्य कर शोभन मुनि अवंती प्रदेश को गये। नगर में प्रवेश करते ही धनपाल सामने मिला। उसने मुनि को देख कर हँसी उड़ाते हुए कहा कि– "गर्दभदन्त भदन्त नमस्ते–हे गधे के सदृश दान्तवाले भगवंत! तुमको नमस्कार हैं।" यह सुन कर मुनिने कहा कि– "मर्कटकास्यवयस्य सुखं ते–बन्दर से मुंहवाले हे भाई! तुम सुखी तो हो?" इस प्रकार मुनि के वचन की चतुराई

से मेरी पराजय हुई इस प्रकार विचार करता हुआ धनपाल बोला कि " कस्य गृहे वसति तव साधो–हे साधु ! तुम किस के घर पर ठहरेगें ?" मुनिने उत्तर दिया कि–" यस्य रुचिर्वसति मम तत्र–जिसको हमे ठहराने की इच्छा होगी उसीके घर पर हम ठहरेगें । " यह सुन कर मुनि को विद्वान जान कर धनपाल अपने घर ले गया । वहां धनपाल भोजन करने बैठता ही था कि मुनि का स्मरण हो आने से उसने मुनि को बहोरने के लिये बुलाया । उसी दिन धनपाल को मारने के लिये उसके शत्रुने उसके भोजन मोदक में विष मिला दिया था । उन मोदक को धनपाल मुनि को बहराने लगा । यह देख कर मुनिनें कहा कि–ये मोदक हमारे लिये अकल्पनीय है । धनपालने कहा–क्यों ? क्या ये विषमिश्रित है ? मुनिने कहा कि–हाँ, इनमें विष मिला हुआ है । यह सुन कर धनपालने पता चलाया तो सचमुच उनमें किसी शत्रु का विष मिला देना पाया गया । इससे आश्चर्यचकित हो कर अपने बचानेवाले मुनि को उसने पूछा कि–हे मुनि ! इन मोदक विषमिश्रित होने का पता तुमको किस प्रकार चला ? मुनिने उत्तर दिया कि–हे धनपाल !

दृष्ट्वान्नं सविषं चकोरविहगो धत्ते विरागं दृशो–
र्हंसः कूजति सारिका च वमति क्रोशत्यजस्रं शुकः ।
विष्ठां मुञ्चति मर्कटः परभृतः प्राप्नोति मृत्युं क्षणात्
क्रौञ्चौ माद्यति हर्षवांश्च नकुलः प्रीतिं च धत्ते द्विकः ॥

भावार्थः—विषयुक्त भोजन देख कर चकोर पक्षी नेत्र में विराग धारण करता है (नेत्र बन्द करता है), हँस शब्द करते हैं, सारिका वमन करती है, पोपट बारम्बार आक्रोश करता है, बन्दर विष्टा करता है, कोयल क्षणभर में मृत्यु प्राप्त करती है, क्रौंच पक्षी खुश होकर नृत्य करता है, नोलिया हर्षित होता है और कौआ प्रसन्न होता है।

ऐसे चिह्न मौजुद होने से मैंने इस पिंजरे में बन्द पोपट के आक्रोश से यह जाना है कि–यह मोदक विषमिश्रित हैं। यह सुन कर विस्मित हो धनपालने मुनि को दही लाकर बहराना चाहा, इस पर मुनिने उत्तर दिया कि–यह दही भी तीन दिन का होनेसे हमारे लिये अकल्पनीय है। धनपालने पूछा कि–क्या इस दही में जीवों की उत्पत्ति हो गई है ? मुनिने हाँ कह कर उसको विश्वास दिलाने के लिये उसमें अलता रस डाल कर उसको जीव बतलाये। फिर धनपालने मुनि को निर्दोष आहार भेट किया। मुनि के जाने पश्चात् धनपाल भोजन करने बैठा। भोजन समाप्त कर वह मुनि के पास गया। बातें करते हुए धनपालने कहा कि–हे मुनि ! तुमको देख कर मुझे मेरे भाई का बारंबार स्मरण हो आता है। मुनिने कहा कि–हे वयस्य ! तेरे सामने (यह मैं) तेरा भाई ही बैठा हुआ हूँ। ऐसा कह कर इसकी प्रतीति के लिये पूर्वावस्था की निशानियें कह बतलाई। यह सुन कर विश्वास हो जाने से धनपाल अति आनन्दित हुआ। शोभन मुनि कुछ

समय ओर वहां ठहर धनपाल को निश्चल श्रावक बना कर अन्यत्र चले गये।

धनपाल पंडित भोजराजा की सभा में पांचसो पंडितों में मुख्य पंडित हुआ। एक बार भोज राजा पांचसो पंडितों को साथ लेकर मृगया के लिये बन में गये। वहां राजाने एक बाण से एक हरिन का शिकार किया इससे अन्य सर्व पशु चारों ओर भगने लगे, जिनको देख कर राजाने कवि से पूछा कि—

किं कारणं तु कविराज ! मृगाश्च एते,
व्योम्न्युत्पतन्ति विलिखंति भुवं वराहाः ॥

हे कविराज ! इन मृगों के आकाश में कूदने व वराहों के भूमि को खोदने का क्या कारण है ?

एक कविने उत्तर दिया कि—

देव ! त्वदस्त्रचकिताः श्रयितुं प्रयान्ति,
एके मृगांकमृगमादिवराहमन्ये ॥ १ ॥

हे स्वामी ! आपके शस्त्र से भयभीत होकर वे मृग चन्द्र में स्थित मृग का आश्रय लेने के लिये ऊपर की ओर कूदते हैं और ये वराह आदिवराह का आश्रय लेने के लिये पाताल में जाने की अभिलाषा करते हैं।

तत्पश्चात् राजाने धनपाल पंडित से कहा कि-तू मेरी मृगया का वर्णन कर। इस पर धनपाल बोला कि—

रसातलं यातु यदत्र पौरुषं,
कुनीतिरेषाऽशरणो ह्यदोषवान्।
निहन्यते यद्बलिनातिदुर्बलो,
हा हा महाकष्टमराजकं जगत् ॥ १ ॥

भावार्थः—यह वराह ऐसा कहता है कि-हे राजा! तेरा पुरुषार्थ रसातल में जावे। यह प्रत्यक्ष अनीति है, क्यों कि शरण रहित और निर्दोष दुर्बल प्राणियों की बलवान द्वारा हत्या होती है। अहो महादुःख की बात हैं कि यह जगत् राजा रहित है।

पदे पदे सन्ति भटा रणोत्कटा,
न तेषु हिंसारस एष पूर्यते।
धिगीदृशं ते नृपते! कुविक्रमं,
कृपाश्रये यः कृपणे मृगे मयि ॥ २ ॥

भावार्थः—और यह मृग कहता हैं कि-हे राजा! संग्रामशूरवीर योद्धा इस दुनिया में कई स्थान पर हैं परन्तु फिर भी एसा उनके विषय में तेरा हिंसारस पूरा नहीं

होता ? कि जिस से तू दया के स्थानरूप हमारे पर निर्दय होता है। अतः तेरे ऐसे निंद्य पराक्रम को धिक्कार है।

इस प्रकार धनपाल द्वारा किया हुआ वर्णन सुन कर राजाने उससे कहा कि–अरे धनपाल ! यह तू क्या कहता है? इस पर धनपालने फिर कहा कि–हे स्वामी !

वैरिणोऽपि हि मुच्यन्ते, प्राणान्ते तृणभक्षणात्।
तृणाहाराः सदैवैते, हन्यन्त पशवः कथम् ॥१॥

भावार्थः—प्राणनाश के उपस्थित होने पर यदि शत्रु भी तृण का भक्षण करे–मुँह में तृण ले ले तो उसको शत्रु होने पर भी क्षमा कर देते हैं तो फिर इन निरपराधी पशुओं जो निरन्तर तृण का ही आहार करते हैं किस प्रकार मारा जाता है ?।

यह सुन कर राजा के हृदय में दया का संचार हुआ और उसने अपने धनुष तथा बाण को तोड़ कर आगे के लिये शिकार नहीं खेलने की प्रतिज्ञा की। वन से लौट कर नगर की ओर जाते हुए राजा का बनाया हुआ सरोवर मार्ग में आया जिसको देख कर राजा के कहने से एक कविने सरोवर का वर्णन किया कि—

हंसैर्युक्तः प्रशस्तैस्तरलितकमलैः प्रासरंगैस्तरंगै–
र्नीरैरन्तर्गभीरैश्चटुलबककुलग्रासलीनैश्च मीनैः।

पालीरूढ़द्रुमालीतलसुतशायितस्त्रीप्रणीतैश्च गीतै-
र्भाति प्रक्रीडनाभिः क्षितिप ! तव चलच्चक्रवा-
कस्तटाकः ॥

भावार्थः—प्रशस्त हँसोद्वारा, चपल कमलोंद्वारा, रंग को प्राप्त हुए तरंगोद्वारा, गंभीर जलद्वारा, चंचल बगुले के समूह के कवलरूप मत्स्योंद्वारा, पाल पर खडे वृक्षों पर झूला डाल कर बालकों को झुलाते समय गाये जानेवाले स्त्रियों के मनोहर गानद्वारा तथा अन्य अनेक क्रीडाओं युक्त और चक्रवाक पक्षियों का मिथुन जिसमें स्थित हैं ऐसा यह सरोवर अत्यन्त शोभायमान है।

तत्पश्चात् राजा की आज्ञा से धनपाल बोला कि–हे राजा!

एषा तटाकमिषतो वरदानशाला,
मत्स्यादयो रसवतीप्रगुणा बभूव।
पात्राणि यत्र बकसारसचक्रवाकाः,
पुण्यं क्रियद्भवति तत्र वयं न विद्मः ॥ १ ॥

भावार्थः—यह सरोवर मीष से श्रेष्ठ दानशाला है जिसमें मत्स्य आदि जल–जन्तुओंरूपी अटुट भोजन तैयार है, इसमें पात्ररूप से (खानेवाले) बगुला, सारस और चक्रवाक आदि पक्षी हैं फिर इससे कैसा पुण्य होता होगा यह तो हम नहीं जान सकते।

यह सुन कर राजाने क्रोधयुक्त दृष्टि से धनपाल की ओर देखा। फिर सरोवर से नगर की ओर जाते हुए मार्ग में राजा का यज्ञमंडप आया। उस मंडप में एक स्थंभ से कई पशु बंधे हुए थे। उन पशुओं की पुकार सुन कर राजाने कवियों से पूछा कि-ये पशु क्या कहते हैं ? तब किसी एक कविने कहा कि-हे राजा। ये पशु कहते हैं कि-

अस्मान् घ्नन्तु पदे पदे,
बलिकृते दग्धाश्च जग्धैस्तृणै-
रस्मत्कुक्षिररक्ष,
दक्षमनुजैर्नामोच्यते पश्विति।

जानीमो न कलत्रभेदविकलाः सत्क्षुत्पिपासा वयं,
तेनास्मान्नय देव देवसदनं प्रार्थ्यामहे त्वामिति ॥१॥

भावार्थः—हमको पग पग पर बलिदान के लिये मारो क्यों कि हम तृण भक्षण से घबरा रहे हैं, हमारी कुक्षि नहीं भरती, हमको समझदार पुरुष भी पशु कर पुकारते हैं, हम क्षुधा तृषा से आकुल होकर स्त्री, माता आदि का भी भेद नहीं समझते इस लिये हे स्वामी ! हमको में ले जाओ, यह हमारी आप से प्रार्थना है।

फिर राजा की आज्ञा से धनपाल बोला कि—

नाहं स्वर्गफलोपभोगतृषितो नाभ्यर्थितस्त्वं मया संतुष्टस्तृणभक्षणेन सततं साधो न युक्तं तव । स्वर्गं यान्ति यदि त्वया विनिहता यज्ञे ध्रुवं प्राणिनो यज्ञं किं न करोषि मातृपितृभिः पुत्रैस्तथा बान्धवैः ॥

भावार्थः—ये पशु कहते हैं कि हे राजा ! हमको स्वर्ग के भोग भोगने की तृष्णा नहीं है, न हमने उसके लिये तुम को प्रार्थना ही हैं। हम तो निरन्तर तृण के भक्षण से ही संतुष्ट हैं अतः तुमको हमें हनन करना अयोग्य है। यदि तुम्हारे द्वारा यज्ञ के लिये मारे हुए प्राणी अवश्य स्वर्ग में जाते हो तो तुम तुम्हारे माता, पिता, पुत्र और बन्धु आदि द्वारा यज्ञ क्यों नहीं करते ?

यह सुन कर राजाने क्रोधित होकर धनपाल से कहा कि–अरे यह तू क्या कहता है ? इस पर धनपालने फिर से निःसंकोच कहा कि–हे स्वामी ! मैं सत्य कहता हूँ क्यों कि–

यूपं कृत्वा पशून् हत्वा, कृत्वा रुधिरकर्दमम् । यद्येवं गम्यते स्वर्गे, नरके केन गम्यते ? ॥ २ ॥

भावार्थः—हे राजा ! यज्ञस्तंभ रोप कर, पशुओं का वध कर तथा रुधिर का किचड़ कर यदि स्वर्ग में जाया जा सकता हो तो फिर नर्क में कोन जायगा ?

हे राजा ! मांस में लुब्ध हुए ये राक्षस सदृश ब्राह्मण तुम को ऐसे यज्ञ की प्रशंसा कर कुमार्गानुगामी बनाते हैं। इस प्रकार पशुवध में कभी भी धर्म नहीं हो सकता; केवल महापाप ही होता है। शास्त्र में भी सच्चे यज्ञ का स्वरूप तो यह ही बतलाया है कि—

सत्यं यूपं तपो ह्यग्निः, कर्माणि समिधो मम ।
अहिंसामाहुतिं दद्यादेव यज्ञः सतां मतः ॥३॥

भावार्थः—सत्यरूपी यज्ञस्तंभ खड़ाकर, तपरूपी अग्नि जलाकर, उसमें कर्मरूपी समिध (लकड़ी) डालकर अहिंसा-रूपी आहुति देना यह सच्चा यज्ञ होगा एसा सत्पुरुषोंद्वारा माना गया है।

स्वर्गः कर्तृक्रियाद्रव्यविनाशे यदि याज्विनाम् ।
तदा दावाग्निदग्धानां, फलं स्याद् भूरि भूरुहाम् ॥

भावार्थः—यदि कदाच यज्ञकर्त्ता की क्रिया और द्रव्य के विनाश से यज्ञाचार्य को स्वर्गप्राप्ति हो सकती हो तो दावानल से जले हुए वृक्ष को बहुत फल मिलना चाहिये।

निहतस्य पशोर्यज्ञे, स्वर्गप्राप्तिर्यदीष्यते ।
स्वपिता यजमानेन, किं तु तस्मान्न हन्यते ? ॥५॥

भावार्थः--यदि इस इच्छा से पशु मारे जाते हो कि यज्ञ के लिये मारे हुए पशुओं को स्वर्गप्राप्ति होती है तो यज्ञ में यजमान अपने पिता को ही क्यों नहीं मार डालता ?

इस प्रकार यज्ञ की निन्दा सुनकर राजाने धनपाल की ओर वक्रदृष्टि से देख कर उसके समस्त कुटुम्ब के निग्रह करने का विचार किया। धनपालने इस अभिप्राय को जानते हुए भी अपने सत्य बोलने के नियम को नहीं छोडा।

आगे बढ़ने पर राजा किसी शिवालय में गया, जहां पर धनपाल के अतिरिक्त सबों ने महादेव को नमस्कार किया। इस पर राजा ने धनपाल से पूछा कि–हे धनपाल! तू इन महादेव को नमस्कार क्यों नहीं करता ? इस पर उसने निःशंकपन से कहा कि--

जिनेन्द्रचन्द्रप्रणिपातलालसं,
मया शिरोऽन्यस्य न नाम नाम्यते ।
गजेन्द्रगल्लस्थलदानलालसं,
शुनीमुखे नालिकुलं निलीयते ॥ १ ॥

भावार्थः--हे राजा! जिनेन्द्ररूपी चन्द्र को नमस्कार करने का लालायित मेरा सिर मैं अन्य किसी के सामने नहीं झुकाता, क्यों कि मदोन्मत्त हस्ती के गंडस्थल में से

झरते हुए मद का लालायित भ्रमरसमूह कभी भी कुत्ते के मुँह में से निकलती हुई लार पर लीन नहीं होता।

यह सुन कर राजा उन पर विशेष क्रोधित हुआ। आगे बढ़ने पर पुरद्वार के समिप राजाने एक सम्पूर्ण शरीर से कम्पायमान वृद्ध स्त्री को एक बालिका के हस्त का अवलम्बन कर सन्मुख आते देख कर पंडितों से प्रश्न किया कि यह वृद्धा हाथ और पैर क्यों कंपाती है? इस पर एक पंडित ने उत्तर दिया कि--

कर कंपावइ सीर धुणे, बुढ्ढी काहु कहेई।
हंकारंता यमभडां, नंनंकार करेई ॥ १ ॥

भावार्थः--हे राजा! आप का जो यह प्रश्न है कि यह वृद्धा हाथ और सिर कंपाती है इसका क्या कारण है? इसका यह उत्तर है कि-वह उसको पुकार नेवाले यमदूतों से कह रही है कि नहीं, नहीं, मैं नहीं आती हूं। उसी समय किसी अन्य पंडितने कहा कि--

जरायष्टिप्रहारेण, कुब्जीभूता हि वामना।
गततारुण्यमाणिक्यं, निरीक्षते पदे पदे ॥१ ॥

भावार्थः--वृद्धावस्थारूपी लकड़ी के प्रहार से झुकी

हुई यह बामन स्त्री पग पग पर अपने खोये हुए युवावस्था-रूपी माणिक्य की खोज कर रही है।

यह सुन कर राजाने धनपाल से कहा कि हे-वक्रमति धनपाल! यह वृद्धा स्त्री इस बालिका को क्या पूछती है? इस पर राजा के क्रोध शान्त करने के लिये धनपालने उत्तर दिया कि-हे स्वामी! इस बालिका को यह वृद्धा उसके प्रश्नों का उत्तर दे रही है।

किं नन्दी किं मुरारिः किमु रतिरमणः
किं नलः किं कुबेरः ?
किं वा विद्याधरोऽसौ किमुत सुरपतिः
किं विधुः किं विधाता ?
नायं नायं न चायं न खलु न हि न वा
नापि नासौ न वैष,
क्रीडां कर्तुं प्रवृत्तः स्वयमिह हि हले
भूपतिर्भोजदेवः ॥ १ ॥

भावार्थः--वृद्धा को बालिका पूछती है कि हे माता! क्या यह महादेव है? क्या विष्णु है? क्या कामदेव है? क्या राजा नल है? क्या कुबेर है? क्या विद्याधर है? क्या इन्द्र है? क्या चन्द्र है? या क्या ब्रह्मा है? वृद्धा उत्तर

देती है कि–यह नहीं, यह नही, यह नहीं, नहीं, नहीं, ना, ना, ना, ना, इन में से तो यह कोई नहीं है (क्यो कि वे तो सब कलंकी हैं[1]) परन्तु यह तो क्रीडा करने को प्रवृत्त हुआ भूपति भोज देव है ।

यह काव्य सुनकर भौज राजा बहुत प्रसन्न हुआ और धनपाल से कहा कि–हे पंडित ! मैं इस से बहुत प्रसन्न हुआ हुं इसलिये वरदान मांग । यह सुनकर धनपालने कहा कि–हे स्वामी ! यदि आप प्रसन्न हुआ हैं तो मेरी ली हुई वस्तु मुझे वापस लोटाइयें । राजाने कहा कि–मैने तो तेरा कुछ भी नहीं लिया । धनपालने कहा कि–हे नाथ ! तुमने

---

१ नम्दी शब्द से यह नन्दराजा है ? नहीं वह तो महा-लोभी था यह तो उदारहृदय है । मुरारी या कृष्ण है ? नहीं वह तो काला था यह तो उज्वल है । रति का स्वामी कामदेव है ? नहीं वह तो अंग रहित है जब कि यह तो शुभ देहवाला है । नल राजा है ? नहीं वह तो जुगारी था यह तो व्यसन रहित है । कुबेर हैं ? नहीं वह तो पराधीन है यह तो स्वा-धीन है । विद्याधर है ? नहीं वह तो आकाश में भ्रमण करता है, यह तो जमीन पर विचरण करता है । सूरपति है या इन्द्र है ? नहीं वह तो श्रापित है, यह तो श्राप रहित है । विधु या चन्द्र है ? नहीं वह तो कलंकी है, यह निष्कलंक है । ब्रह्मा है ? नहीं वह तो वृद्ध है जब कि यह तो युवा है ।

शिकार में हरिणी का वध किया तब मेरा काव्य सुनकर क्रोधित हो मेरी एक आंख निकाल लेने का तुमने विचार किया था और सरोवर के वर्णन के समय दूसरी आँख भी निकाल लेने का निश्चय किया था। इस के पश्चात् भी सर्व कुटुम्ब का निग्रह करने का विचार किया था अतः भाव से ग्रहण किये मेरे दोनों नेत्र मुझे वापस दीजिये। यह सुन कर राजाने प्रसन्न हो धनपाल को क्रोड़ द्रव्य दिया और कहा कि–तू श्रावक होने से सर्वज्ञपुत्र हुआ यह न्याययुक्त है।

एक बार धनपाल का चित्त व्यग्र देख कर भोजराजाने इस का कारण पूछा। इस पर उसने उत्तर दिया कि–मैं अभी युगादीश का चरित्र बना रहा हुँ इस लिये मन में व्यग्रता रहती है। फिर उस चरित्र के पूर्ण होने पर राजाने उसको सुनना आरम्भ किया। उसका अद्भुत रस सुन कर राजाने विचारा कि–इस का अर्थरूपी रस भूमि पर पड़ जाय इस लिये पुस्तक के नीचे एक बड़ा स्वर्णथाल रखादिया। इस प्रकार उस चरित्र के रसपान करते हुए राजा को कई रात दिन व्यतीत हो गये। अन्त में उस चरित्र के पूर्ण होने पर राजाने धनपाल से कहा कि–हे पंडित! यदि तू इस ग्रन्थ में विनीता नगरी के स्थान पर अवन्ती नगरी, भरत चक्री के स्थान पर मेरा नाम और आदीश्वर के स्थान पर महादेव का नाम स्थापन कर दे तो यह ग्रन्थं स्वर्ण और सुगन्धी समान अति

श्रेष्ठ बन जाय और ऐसा करने के उपहारस्वरूप मैं तुझे एक करोड़ स्वर्णमुद्रा भेट करूं। यह सुन कर धनपालने कहा कि--

मेरुसर्षपयोर्हंसकाकयोः खरताक्ष्यर्ययोः ।
अस्त्यन्तरमवन्त्यादेरयोध्यादेश्च भूपते ॥ १ ॥

भावार्थः--हे राजा ! मेरुपर्वत और सरसों के कण में, हँस और कोए में तथा गधे और गरुड़ में जितना अन्तर है, उतना ही अन्तर (अनुक्रम से) अवंति, तुझ और महादेव तथा अयोध्या, भरत और आदीश्वर में है।

यह सुन कर अति क्रोधित हो राजाने कहा कि-अरे धनपाल ! ऐसे वचन बोलते हुए तेरी जिह्वा के सहस्र टुकडें क्यों नहीं हो जाते ? यह सुन कर धनपाल ने निःशंकपन से कहा कि--

हे दोमुहय निरक्खर,
लोहमइय नाराय किं तुमं भणिमो ।
गुंजा हि समं कणयं,
तुल्लं न गओसि पायालं ॥ १ ॥

भावार्थः--दो मुँहवाले[1] निरक्षर[2], और लोहमतिवाले[3] हे नाराय (तराजु) मैं तुझे कितना समझाउँ ? चरमुं के साथ स्वर्ण को तोलने के बनिस्बत तो पाताल में क्यों नहीं गया ?

इस प्रकार अपनी निन्दा सुन अति क्रोधित हो राजा ने उस ग्रन्थ को जला दिया।

धनपाल राजा के भय से और ग्रंथ के नाश से उद्वेग पाकर शोकातुर घर पहुंचा। वहां तिलकमंजरी नामक उसकी पुत्री ने पूछा कि-हे पिता ! आज तुम शोकातुर क्यों हो ? इस पर पंडित ने उसको सर्व वृत्तान्त कह सुनाया। पुत्री ने कहा कि-हे पिता ! चिन्ता न कीजिये। मैंने उस समस्त ग्रन्थ को कंठाग्र कर रखा है। आप चाहें तो लिखलें। यह सुन कर अति प्रसन्न हो पंडितने उस ग्रन्थ को फिर से लिखा लिया और पुत्री के नाम के स्मरणार्थ उस ग्रन्थ का नाम भी तिलकमंजरी रखा। फिर राजा के भय से धनपाल अपने कुटुम्ब सहित अन्य ग्राम में जाकर रहेने लगा।

एक बार भोज राजा की सभा में किसी पंडित ने आकर

---

१ तराजू के दो पलड़े, राजा का बोलना कुछ और करना कुछ इस प्रकार दो मुँह। २ तराजू और राजा दोनों निरक्षर अर्थात् मूर्ख। ३ तराजू के लोह अर्थात् लोहे की मति-डांडी, राजा के लोह-लोभ की मति-बुद्धि। कीर्ति का अत्यन्त लोभ।

सर्व विद्वानों को पराजय कर दिया इस से खेदित हो राजा स्वयं धनपाल के पास जा उसे खुश कर आदरसत्कार-पूर्वक वापस अपनी नगरी में ले आया। धनपाल का आगमन सुनकर वह विदेशी पंडित भयभीत हो रात्री के समय गुप्त रूप से भग गया। लोक मे जैनधर्म की अत्यन्त प्रशंसा हुई। धनपाल राजा के पास सुख से रहा और धर्म का आराधन कर अन्त में स्वर्ग सिधारा।

जिस प्रकार द्रव्य से मिथ्यात्वियों के साथ परिचय होने पर भी भाव से पापसंग के नाश की स्पृहावाले धनपाल ने सर्व दोष रहित समकित का दृढ़ता से पालन किया उसी प्रकार सर्व जीवों को भी करना चाहिये।

इत्युपदेशप्रासादे द्वितीयस्तंभे त्रयोविंशतितमं व्याख्यानम् ॥ २३ ॥

व्याख्यान २४ वां

छट्ठा प्रभावक सम्बन्धी अधिकार

(पहला प्रवचन प्रभावक विषय में)

कालोचितं विजानाति, यो जिनोदितमागमम्।
स प्रावचनिको ज्ञेयस्तीर्थं शुभे प्रवर्तकः ॥१॥

भावार्थः--जो मुनि जिनप्ररूपित आगम की समयानुसार प्ररूपणा कर सकते हैं तथा तीर्थ को शुभ मार्गानुगामी बना सकते हैं, उनको प्रवचनप्रभावक कहते हैं ।

काल अर्थात् सुखमादुखमादिक[1] समय के विषय में यथायोग्य जिनप्रणीत सिद्धान्त को गौतमादिक के सदृश जो सूरि जानते हो तथा तीर्थ अर्थात् चतुर्विध संघ को शुभ मार्ग में (धर्ममार्ग में) प्रवृत्त कर सक सकते हो उनको प्रवचनप्रभावक समझना चाहिये । इसका भावार्थ निम्न लिखित वज्रस्वामी के चरित्र से जाना जा सकता है ।

वज्रस्वामी का दृष्टान्त

यः पालनस्थः श्रुतमध्यगीष्ट,
षाण्मासिको यश्चरिताभिलाषी ।
त्रिवार्षिकः संघममानयद्यः,
श्रीवज्रनेता न कथं नमस्यः ॥ १ ॥

भावार्थः--जिसने झूले में सोते सोते श्रुत का अभ्यास किया, जो छ महिने की आयु में ही चारित्र ग्रहण करने के अभिलाषी हुए और जिन्होंने तीन वर्ष की आयु में ही संघ

---

१ चोथा आरा आदि ।

को मान दिया, उन वज्रस्वामी को क्यों न नमस्कार किया जाय ?

तुम्बवन के रईस धनगिरि नामक श्रेष्ठिने अपनी सुनन्दा नामक गर्भवती स्त्री को छोड़ कर दीक्षा ग्रहण की। उचित समय पर सुनन्दा को गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। प्रसव समय ही माता के समीपवृत्ति स्त्रियों के मुंह से पिता की दीक्षा की बात सुन कर नवजात शिशु को जातिस्मरण हुआ इसलिये माता को उद्वेग उपजाने के लिये वह निरन्तर रोने-चिल्लाने लगा। उसके रोने-चिल्लाने से अत्यन्त खेदित हो कर सुनन्दाने कायर हो कर विचार किया कि-यदि इसका पिता यहां आजाय तो इस बालक को उसे भेट कर मैं सुखपूर्वक रहूँ। उसी समय धनगिरि सहित सिंहगुरु का उस ग्राम में आना हुआ। मध्याह्न समय धनगिरिने आहार लेने जाने की गुरु से आज्ञा मांगी तो गुरुने कहा कि-आज जो तुझे सचित्त या अचित्त मिल जाय उसे तू बिना बिचारे ही ग्रहण करलेना। धनगिरि ग्राम में जाकर गोचरी के लिये फिरते फिरते अनुक्रम से सुनन्दा के घर जा पहुँचें। वह अपने पति को देख कर बोली कि-हे पूज्य ! इस तुम्हारे पुत्र को तुम ले जाओ। ऐसा कह कर उसने उस बालक को साधु के पात्र में रख दिया और उसे धर्मलाभ देकर धनगिरि उस बालक को गुरु के पास ले गये। दूर से वज्र के

सदृश भारवालीं झोली लेकर आते हुए देख कर गुरुने उस झोली में से बालक को निकाल कर अपने उत्संग में ले उसका नाम वज्रकुमार रक्खा। फिर गुरुने उस बालक को साध्वी के उपाश्रय में रक्खा। वहां झूला डालकर श्राविका उसका पालन पोषण करने लगी। वह बालक झुले में सोता हुआ साध्वीयें जो श्रुत का अभ्यास किया करती थी उनको श्रवण करने मात्र से अगीयारह अंग सीख गया। अनुक्रम से तीन वर्ष की आयु होने पर उसका पिता तथा गुरु विहार के क्रम से फिर वहां आगये। उस समय वज्रकुमार की माता सुनन्दाने आकर मुनि से अपना पुत्र मांगा परन्तु उन्होंने वापस नहीं दिया। इसलिये सुनन्दाने राजा से पुकार की। इस पर राजाने यह निश्चय किया कि-उस बालक की माता तथा पिता दोनों को सभा के समक्ष उपस्थित किया जाय और उन दोनों की उपस्थिति में वह बालक जीसके पास चला जावे उसको उसीको सौप दीया जाय। वज्रकुमार को सभा में बुलाया गया। उसकी एक ओर थोड़ी सी दूरी पर उसके पिता को और दूसरी ओर उसकी माता को बिठाई गई। सुनन्दा अपने हाथ में द्राक्ष, मिश्री, विलोने आदि लेकर अपने पुत्र को दिखाती हुई बोली कि-हे पुत्र! यहां आ, यहां आ, ये ले। यह सुन कर लुभाती हुई माता की ओर देख कर वज्रकुमारने विचार किया कि "माता तीर्थरूप है" परन्तु यह केवल इस भव में ही सुख देसकती है जब कि

गुरु तो प्रत्येक भव में सुख देनेवाले है। ऐसा विचार कर वह उसके पास नहीं गया। फिर जब पिताने अपना ओघा (रजोहरण) बतला कर कहा कि–ये ले तो वह दौड़कर उसके पास चला गया और पिता का ओघा ले लिया। इससे वह बालक उसको दे देना निश्चय हुआ अतः सुनन्दाने भी वैराग्य प्राप्त होजाने से दीक्षा ग्रहण की। वज्रकुमारने भी तीन वर्ष की आयु में ही चारित्र ग्रहण किया।

एक बार विहार करते हुए मार्ग में सर्व साधुओं में से वज्रकुमार की परीक्षा करने के लिये उनके पूर्व भव के मित्रने जो कि देवता हो गया था जल की वृष्टि की। निरन्तर वर्षा होने से सर्व साधु वृक्ष के नीचे खड़े होकर स्वाध्याय ध्यान करने लगे। तत्पश्चात् उस देवने एक बड़ा सार्थ बना कर वहां आकर पड़ाव डाला और आहार के लिये मुनि को विनंति करने गया। इस पर गुरुने उत्तर दिया कि इस समय अन्य किसी को आहार की इच्छा नहीं है परन्तु यह वज्र-मुनि बालक है अतः इसको लेजाओ। गुरु की आज्ञानुसार वज्रमुनि उस सार्थवाह के साथ आहार लेने गया। वह देव घेवर बना कर मुनि को भेट करने लगा परन्तु जब मुनिने उसकी ओर देखा तो उसकी अनिमेष दृष्टि को देख कर उसे देवता जाना, आहार लेने से मना किया। यह देखकर प्रसन्न हो देवने कहा कि–हे मुनि! मैं तुम्हारा परभव का मित्र देवता

हूँ। मैं यहां तुम्हारे चारित्र की परीक्षा करने को आया हूँ परन्तु तुम्हारा चारित्र चलित करने में मैं अशक्त हूँ अतः मैं तुम्हारे पर प्रसन्न हूँ सो तुम मुझ से कोई भी वरदान मांगो। यह सुन कर वज्रमुनिने कहा कि–मुझे कुछ भी नहीं चाहिये। यह सुन कर अधिक प्रसन्न हो उस देवने उनको वैक्रिय लब्धि दी और फिर से दुबारा परीक्षा कर आकाश-गामिनी विद्या प्रदान की। इस प्रकार वज्रमुनिने अनेक लब्धियें प्राप्त की।

अनुक्रम से जब वज्रमुनि आठ वर्ष के हुए तब एक समय गुरु बहिर्भूमि गये और अन्य मुनिगण गोचरी के लिये गये थे उस समय वज्रमुनि सर्व साधुओं की उपधी के पास जाकर वे जो जो सूत्र पढ़ते थे उसको उसको उद्देश कर पढ़ने लगे। बहिर्भूमि से आते हुए गुरुने वह सुनकर उन्हें महाविद्वान् जान उनको समग्र शास्त्रों का अभ्यास कराया और उनको योग्य जान सूरिपद प्रदान किया। उन वज्र-स्वामी की वाणी से प्रतिबोध पाकर पांचसो मुनि उनके परि-वार में सम्मिलित हुए और अन्य भी अनेक भव्य प्राणियोंने व्रत ग्रहण किये।

पाटलीपुर में धनश्रेष्ठि के रुक्मिणी नामक एक पुत्री थी जिसने अनेको साध्वियों के मुंह से वज्रस्वामी के गुणों की प्रशंसा सुनकर यह प्रतिज्ञा की कि–मैं इस भव में वज्र-

कुमार के अतिरिक्त अन्य किसी को भी पतिरूप से ग्रहण नहीं करुंगी। एक समय वज्रस्वामी पाटलीपुर पधारे जिनके आने की खबर सुन कर धनश्रेष्ठि एक करोड़ द्रव्य सहित रुक्मिणी को साथ लेकर गुरु के पास गये और उनको वन्दना कर बोला कि–हे सूरि! इस करोड़ द्रव्य सहित आप मेरी पुत्री को ग्रहण करें (विवाह करें) अन्यथा यह आत्म-हत्या करेगी। वज्रस्वामीने उत्तर दिया कि–हम साधु मल-मलिन गात्रवाली स्त्रियों की इच्छा भी नहीं करते इत्यादि वचनोंद्वारा रुक्मिणी को धर्मोपदेश दिया जिस से उसको वैराग्य उत्पन्न होने से उसने शीघ्र ही उनके पास दीक्षा ग्रहण की।

एक बार बारह वर्षियदुष्काल पड़ने से समग्र संघ अत्यन्त व्याकुल हो गया। यह देखकर वज्रस्वामीने सर्व संघ को एक कपडे पर बिठाकर आकाशगामिनी विद्या के बल से सुभिक्षापुरी (सुकालवाली नगरी) को ले गये। वहां रहते रहते दिवस निर्गमन होने पर पर्युषण पर्व आया। उस समय उस नगरी के राजाने बौद्ध होने से उनको जिनालय के लिये पुष्प देने का निषेध कर दिया। यह बात संघने वज्रस्वामी से निवेदन की, अतः सूरि आकाशगामिनी विद्या-द्वारा माहेश्वरीपुरी गये। वहां पर उनके पिता का मित्र एक माली रहता था जिसको पर्यूषण के उत्सव की बात कह कर

पुष्प मांगें। उसने इकवीश करोड़ पुष्प एकत्रित कर भेट किये जिनको लेकर सूरि हिमवान पर्वत पर पहुँचे। वहां लक्ष्मी देवीने बड़ा कमल प्रदान किया जिसको लेकर वहां से हुताशन यक्ष के वन में आते हुए उसने अनेकों पुष्प भेट किये। उन सर्व पुष्पों को लेकर पूर्व भव के मित्र जृंभक देवद्वारा रचित विमान में बैठ कर सूरि आकाशमार्ग से वापस सुभिक्षापूरी में आगये और उन पुष्पों से महा उत्सव किया। जिनधर्म की प्रभावना हुई, जिसको देख कर आश्चर्य से भरा हुआ बौद्ध राजा भी श्रावक बना।

एक बार वज्रस्वामी के शरीर में कफ की व्याधि उत्पन्न हुई इसलिये भोजन के पश्चात् खाने के लिये उन्होने एक सूंठ का टुकड़ा उनके कान पर रक्खा परन्तु भोजन करने के बाद वे उसको खाना भूल गये। वह टुकड़ा प्रतिक्रमण के समय कान से पृथ्वी पर गिरपड़ा। उसे देखकर "ऐसा असंभवित प्रमाद होने से अब मृत्युकाल समीप है" ऐसा निश्चय कर सूरिने अपने शिष्य वज्रसेन को सूरिपद देकर स्वयं रथावर्त-गिरि पर चले गये जहां अनशन ग्रहण कर स्वर्ग सिधारे।

श्री वज्रसेनसूरि विहार करते करते सोपारकपुर गये। वहाँ जिनदत्त नामक एक श्रावक रहता था। वहां दुष्काल के कारण धान्य इतना महंगा था कि दो चार मनुष्यों के लिये भी एक लक्ष द्रव्य का भोजन खर्च होता था। उस

श्रेष्ठीने जीवन से उबका कर एक लक्ष द्रव्य की हांडी चढ़ा उस में विष डाल खाकर मरने का निश्चय किया था कि उसी समय सूरि उसीके घर गोचरी के लिये गये। गुरु को वन्दना कर श्रेष्ठीने कहा कि–हे गुरु! आज एक लक्ष द्रव्य का इतना धान्य मिला है इसलिये इसको पका कर इस में विष मिला कर इस अन्न का भक्षण कर कुटुम्ब सहित मरजाने का विचार किया है क्यों कि ऐसे दुष्काल में जीने के बनिस्बत मरजाना ही अधिक उत्तम है। यह सुनकर गुरुने कहा कि–हे श्रेष्ठी! कल इस नगरी में बहुतसा धान्य आयगा और दुष्काल का नाश हो जायगा इसलिये तू मरने का विचार त्याग दे। गुरु के कहेनुसार दूसरे दिन ही चारों ओर से बहुतसा धान्य आया जिस से सर्वत्र सुकाल हो गया। यह देख कर श्रेष्ठीने वैराग्य होजाने से दीक्षा ग्रहण की। वज्रसेनसूरि भी चार गण का स्थापन कर जिनशासन के प्रभावक हुए। (यह चरित्र आवश्यक निर्युक्ति की बड़ी टीका में अधिक विस्तार से वर्णित है जहां से पढ़ा जासकता है)

श्री वज्रस्वामी के इस मनोहर चरित्र को हृदयरूपी कमल में भ्रमर के समान धारण कर समग्र सगुणों के सारभूत सिद्धान्त के पाठ के विषय में भव्य प्राणियों को निरन्तर प्रयास करना चाहिये।

इत्युपदेशप्रासादे द्वितीयस्तंभे चतुर्विंशतितमं व्याख्यानम् ॥ २४ ॥

व्याख्यान २५ वां

दूसरे धर्मकथक नामक प्रभावक के विषय में

व्याख्यानावसरे लब्धिं, यः प्रयुज्योपदेशकः ।
स धर्मकथको नामा, द्वितीयोऽपि प्रभावकः ॥

भावार्थः—व्याख्यान के समय जो मुनि लब्धि का उपयोग कर उपदेश करते हैं वे धर्मकथक नामक दूसरे प्रभावक कहलाते हैं ।

व्याख्यान में लब्धि अर्थात् अनुयोग के समय अपनी शक्ति प्रगट कर हेतु, युक्ति और दृष्टान्तोंद्वारा दूसरों को जो प्रतिबोध करें वे ही सूरि धर्मकथा कहने योग्य होते हैं, परन्तु जो सूरि घड़े में स्थित दिपक के सदृश मात्र खुद को ही प्रकाश करते हैं वे धर्मकथक नहीं कहला सकते । इस प्रसंग पर सर्वज्ञ सूरि का दृष्टान्त प्रशंसनीय है —

सर्वज्ञ सूरि का दृष्टान्त

श्रीपुर में श्रीपति नामक एक श्रेष्ठी रहता था वह समकित को धारण करनेवाला था । उसके कमल नामक एक पुत्र था । वह धर्म से पराङ्मुख और सातों व्यसनों में तत्पर था । वह देव गुरु का दर्शन भी नहीं करता था उसको एक बार उसके पिताने उपदेश दिया कि—

बोहत्तरीकलापंडिया वि पुरिसा अपंडिया चेव ।
सव्वकलाण वि पवरं जे धम्मकलं न याणंति ॥१॥

भावार्थः—जो पुरुष सर्व कलाओं में प्रधान धर्म कला को नहीं जानते वे बहतर कलाओं के पंडित होते हुए भी अपंडित (मूर्ख) ही है।

यह सुन कर कमलने कहा कि-हे पिता ! जीव कहां है? स्वर्ग कहां है ? और मोक्ष भी कहां है ? ये सब आकाश को आलिंगन करने और घोड़े के शींग के सदृश केवल असत्य ही है। तप, संयम आदि क्रियाओं की तुम प्रशंसा करते हो परन्तु वे तो केवल अज्ञानी मनुष्यों को डराने के लिये ही कही गई है, आदि कह कर कमल ग्राम में घूमने को चल पड़ा।

एक बार उस नगर में शंकर नामक सूरि आये जिनके पास श्रेष्ठी कमल को लेकर गया। श्रेष्ठीने गुरु को वन्दना कर कमल को बोध देने की प्रार्थना की। इस पर गुरुने कमल से कहा कि-हम जो धर्मोपदेश करें उस में तू बीच में मत बोलना, इधर उधर मत देखना, केवल मात्र हमारे सन्मुख देख कर स्थिर चित्त से श्रवण करना। ऐसा कह कर गुरुने धर्मकथा कहना आरंभ किया। अन्त में कमल को पूछा कि-हे वत्स ! तू क्या समझा ? तूने कुच्छ जाना या नहीं ? उसने उत्तर दिया-हे पूज्य ! मैंने कुछ समझा और

कुछ नहीं भी समझा क्यों कि आप जब बोलते थे तब आप के कंठ-घंटडी ऊँची नीची होती रहती थी। उसको मैंने एक सो आठ वार तो गिना परन्तु कितने ही गड़बड़वाले शब्द तुम शीघ्रता से बोले उस समय वह घंटड़ी कितनी बार ऊँची नीची हुई उसकी संख्या मैं न गिन सका। यह सुन कर सर्व सभाजन हँसने लगे। अहो! यह बहुत अच्छा श्रोता है। गुरुने भी उसको अयोग्य जान उसकी उपेक्षा की।

फिर किसी दिन दूसरे सूरि वहां पर आये। उनको भी श्रेष्ठीने कमल का सर्व वृत्तान्त सुनाकर उसको किसी भी प्रकार धर्म पढ़ाने की विनति की। तब सूरिने कमल को बुला कर कहा कि-हे वत्स! तू नीचे दृष्टि रख कर हमारा उपदेश एक चित्त से सुनना। ऐसा कह कर उन्होनें व्याख्यान देना आरंभ किया। अन्त में कमल से पूछा कि-तू क्या समझा? इस पर उसने उत्तर दिया कि-हे पूज्य! इस छिद्र में से चिंटियें जातीआती थी जिनकी संख्या मैंने एक सो आठ गिनी। इस प्रकार हास्यजनक उत्तर सुनकर अन्य श्रावकोंने उसको वहां से निकाल दिया।

फिर किसी दिन उपदेश की लब्धिवाले सर्वज्ञ नामक सूरि वहां पधारें। उन से भी श्रेष्ठीने कमल का वृत्तान्त सुना कर उसको प्रतिबोध करने की विनति की। यह सुन कर सूरिने कमल को बुलाया। इस पर वह आकार सूरि के समीप

बैठ गया। गुरुने विचार किया कि–इसको मधुर वचन से बोध करना चाहिये। ऐसा विचार कर गुरुने उस से पूछा कि–हे वत्स ! क्या तू कामशास्त्र जानता है ? कमलने कहा कि–हे गुरु ! मैं क्या जानूँ ? आप उसका सार बतलाईये। गुरुने कहा कि–हे कमल ! सुन, स्त्रियां चार प्रकार की होती है। पद्मिनी, हस्तिनी, चित्रणी और शंखनी। इन में से पद्मिनी सब से उत्तम कहलाती है और फिर दूसरी उससे नीची श्रेणी की, तीसरे उससे भी नीची श्रेणी की व चोथी सर्व से कनिष्ट कहलाती है। उनमें से पद्मिनी स्त्री का लक्षण निम्नस्थ है —

व्रजति मृदु सलीलं राजहंसीव तन्वी,
त्रिवलीवलितमध्या हंसवाणी सुवेषा।
मृदु शुचि लघु भुंक्ते मानिनी गाढ़लज्जा,
धवलकुसुमवासो वल्लभा पद्मिनी स्यात् ॥१॥

भावार्थः—पद्मिणी स्त्री राजहंस के सदृश मंद मंद लीला सहित गमन करती है, उसके कृश उदर पर त्रिवली पड़ी हुई होती है, उसकी वाणी हंस के सदृश मधुर होती है, उसका वेष सुन्दर होता है, वह शुद्ध एवं कोमल अन्न का अल्प आहार करती है, मानवाली और अति लज्जावाली होती है, तथा उसको श्वेत पुष्प के समान वस्त्र अधिक प्रिय होते हैं।

इस प्रकार गुरु के मुंह से सुन कर कमल यह विचारता हुआ घर गया कि–यह सूरि तो बड़ा भारी पंडित जान पड़ता है। फिर दूसरे दिन वह स्वयं ही गुरु के पास आकर बैठ गया तो गुरुने चित्रणी का लक्षण बतलाया कि– हे कमल! चित्रणी स्त्री का काममंदिर (गुह्य भाग) गोलाकार होता है अपितु वह द्वार कोमल और अन्दर जल से आर्द्र होता है, तथा उस पर रोम बहुत होते हैं। उसकी दृष्टि चपल होती है, वह बाह्य संभोग (हास्य, क्रीड़ादि करने) में अधिक आसक्त होती है, वह मधुर वचनोंद्वारा पति को आनन्द देनेवाली होती है, तथा उसको नई नई वस्तुऐं अधिक प्रिय होती है। इस प्रकार सुन कर कमल घर लौट गया। तीसरे दिन फिर आने पर गुरुने शंखनी का स्वरूप बतलाया। चोथे दिन हस्तिनी के स्वरूप का वर्णन किया। फिर पांचवें दिन गुरुने कहा कि–हे कमल! स्त्रियों के किस किस अंग में कौन कौन से दिन काम रहता है वह सुनों—

अंगुष्ठे पदगुल्फजानुजघने नाभौ च वक्षस्थले,
कक्षाकंठकपोलदंतवसने नेत्रेऽलके मूर्धनि।
शुक्लाशुक्लविभागतो मृगदृशामंगेष्वनंगास्थिति–
मूर्ध्वाधोगमनेन वामपदगाः पक्षद्वये लक्षयेत् ॥१॥

भावार्थः—पैर का अंगुठा, फण, घुंटी, जानु, जंघा,

नाभि, वक्षस्थल (स्तन), कक्षा (कांख), कंठ, गाल, दांत, ओष्ठ, नेत्र, कपाल और मस्तक इन पन्द्रह अंगों में स्त्रियों के अनुक्रम से पन्द्रह तिथियों में काम रहता है। इन में से शुक्ल पक्ष की एकम को पैर के अंगुठे काम रहता है, जहां से चढ़ता हुआ पूर्णमासी को मस्तक तक पहुंचता है और कृष्ण पक्ष की एकम को मस्तक में रहता है जहां से उतरता हुआ अमावास्या को अंगुठे पर आजाता है।

इस प्रकार जान कर यदि स्त्री के कामवाले स्थान को मर्दन किया जाय तो वह स्त्री तत्काल वश में हो जाती है। वश में होनेवाली स्त्री के लक्षण इस प्रकार जाने जा सकते हैं। वश में होने की इच्छावाली स्त्री नेत्रों को नमाती है, पुरुष के हृदय पर पड़ती है, तथा भृकुटी को वक्र करती हुई शोभा उत्पन्न करती है और संयोग होने से लज्जा का त्याग करती है। इस प्रकार बातों में रस आने से कमल सदैव सूरि के पास आने लगा और किसी वक्त शृंगार का, किसी वक्त इन्द्रजाल का और किसी समय दूसरा वर्णन सुनकर गुरु पर रागी हो गया। इस प्रकार मासकल्प पूर्ण हो गया तो विहार करते समय सूरिने उससे कहा कि—हे कमल! अब हम विहार करेंगे इसलिये हमारे समागम के स्मरण के लिये तू कोई नियम ग्रहण कर। यह सुन कर हास्यप्रिय कमल हँसता हुआ बोला कि—हे पूज्य! मेरे कई नियम हैं सो आप सुनिये। मैं अपनी इच्छा से कभी नहीं मरुंगा,

पकवान में नलिये, ईंट आदि नहीं खाउंगा, दूध में थोर का दूध नहीं पीउंगा, पूरा नारियल मुंह में नहीं डालुंगा, पराया धन लेकर वापस नहीं दूंगा, स्वयंभूरमण समुद्र के दूसरे किनारे नहीं जाउंगा, तथा चान्डाल की स्त्री के साथ विषय-सेवन नहीं करुंगा आदि मेरे कई एक नियम हैं। यह सुन कर गुरुने कहा कि–अरे कमल! हमारे साथ ऐसी हँसी करने से अनेक भव उपार्जन होते है। जिस प्रकार स्वर्णकार सोने को तोड़ कर कुंडल आदि भिन्न आकार के आभूषण बनाता है इसी प्रकार गुरु की आशातना भी जीव को तिर्यंचपन, नारकीपन, अप्कायपन, पृथ्वीकायपन आदि अनेक दुःखदायक स्थान प्रदान करती है, इसलिये यह समय हास्य का नहीं है सो कोई भी नियम ग्रहण कर। यह सुन कर कमलने कुछ लज्जित होकर कहा कि–हे पूज्य! मुझे यह नियम कर दिये कि–मेरे पड़ोस में जो एक वृद्ध कुम्हार रहता है उसके माथे की टार देख कर मैं सदैव भोजन करुंगा, उसके बिना देखे भोजन कभी भी नहीं करुंगा। गुरुने उस नियम से भी उसको भावी लाभ होता जानकर उसको उसका नियम कराया। फिर उसको बराबर पालन करने के लिये उसको कह कर गुरुने विहार किया। कमल भी लोकलज्जा के भय से किये हुए नियम का पालन करने लगा।

एक बार कमल राजद्वारे गया तो वहां कामवश अधिक

ठहरने से मध्याह्न हो गया और भोजन करने में देरी हो गई। घर आकर जब भोजन करने बैठा तो उसकी माताने उस को अपने नियम का स्मरण दिलाया। उसने उस दिन कुम्हार की टार नहीं देखी थी इसलिये वह बिना भोजन किये ही कुम्हार के घर गया लेकिन कुम्हार उस समय वहां न होकर ग्राम के बहार मिट्टी लेने को गया हुआ था। कमल भी ग्राम के बहार गया और दूर खड़ा रह कर एक खड्डे में से मिट्टी खोदते हुए कुम्हार के सिर की टार देखकर 'देखलिया देखलिया', ऐसा कहकर कमल दौड़ता हुआ वापीस घर की ओर चला गया। उस समय कुम्हार को मिट्टी खोदते हुए स्वर्णमुद्रा का निधि प्राप्त हुआ था इसलिये कमल के 'देख-लिया, देखलिया' ऐसे शब्द सुनकर उसे शंका हुई कि वह इस निधि को देख गया है इस लिये अगर वह इसका हाल राजा से जा कर कहदेगा तो राजा मेरा सब धन छीन लेगा इसलिये उसने कमल को चिल्ला कर कहा कि-हे भैया कमल! इधर आ, यह सब तू ही लेजा परन्तु किसी को इसका हाल न कहना। इस से कमल को कुछ शंका होने से जब उसके समीप गया तो निधि देखा, जिस को कमलने ले लिया और कुम्हार को भी उसमें से थोड़ासा हिस्सा देकर खुश कर दिया। फिर उस सर्व द्रव्य को अपने घर लाकर कमलने विचारा कि-अहो! पृथ्वी पर जैनधर्म ही श्रेष्ठ है कि हंसी से पालन किये हुए एक अल्प नियमद्वारा भी मुझे इतना

बड़ा लाभ हुआ है तो फिर यदि दृढ श्रद्धा से उस धर्म का पालन किया हो तो न जाने कितना बड़ा लाभ प्राप्त हो ? ऐसा विचार कर उसने शुद्ध हृदय से गुरुमहाराज को आमंत्रण कर उन से श्रावक के बारह व्रत ग्रहण किये और उन व्रतों का आराधन कर स्वर्ग सिधारा।

सर्वज्ञ सूरिने नास्तिक कमल को भी शास्त्र की युक्तियों से धर्म में दृढ बनाया। ऐसे श्रेष्ठ आचार्य ही भव्य पुरुषों की जड़ता को दूर करने में समर्थ हो सकते हैं।

इत्युपदेशप्रासादे द्वितीयस्तंभे पंचविंशतितमं व्याख्यानम् ॥ २५ ॥

व्याख्यान २६ वां

उपदेशलब्धि पर नंदिषेण मुनि का दृष्टान्त

किसी ग्राम में एक ब्राह्मण रहता था। धन के गर्व से कुबेर की भी स्पर्धा करें उतना धन उसके पास था। एक बार उसने यज्ञ का आरम्भ किया जिस में एक लक्ष ब्राह्मण भोजन करनेवाले थे। उस काम में सहायता की आवश्यकता होने से उसने एक गरीब जैन ब्राह्मण को कहा कि तू मुझे इस कार्य में सहायता कर। ब्राह्मणों के भोजन के पश्चात् जो कुछ घी, अन्न आदि बच रहेगा वह मैं तुझे तेरी

महेनत के बदले में देउंगा। ऐसी शर्त कर उस जैन ब्राह्मण को उस कार्य में सहायक बनाया। अनुक्रम से लक्ष ब्राह्मणों का भोजन हो जाने पर उसने उस जैन ब्राह्मण को बचे हुए चावल, घी आदि दिया। उसको लेकर उस गरीब ब्राह्मणने विचार किया कि–यह वस्तु न्यायोपार्जित है, शुद्धमान है और प्रासुक है अतः किसी सत्पात्र को इसका दान करुं तो यह उत्तम फल को देनेवाली होगी। शास्त्र में भी कृपावंत परमात्माने कहा है कि–**नायागयाणं कप्पणिज्जायं अणं पाणाइ दव्वाणं पराए भत्तीए अप्पाणुग्गहबुद्धिए संजयाणं अतिहिसंविभागो मूक्खफलो**––न्याय से[1] उपार्जन किये हुए, और कल्पनीय अन्न पानी आदि द्रव्य को उत्कृष्ट भक्ति से आत्मा की अनुग्रह बुद्धि से यदि संयमधारी साधु को अतिथिसंविभाग द्वारा दिये हों तो वह मोक्ष फल का देनेवाला होता है। ऐसा विचार कर उसने कई दया तथा ब्रह्मचर्यादि के धारक गुणी साधर्मियों को भोजन के लिये निमंत्रण किये। भोजन के समय कोई महाव्रतधारी मुनि मास-क्षपण के पारणे के लिये वहां पधारे। उनको देख कर उस

---

१ यहां चोभंगी है। न्यायागत द्रव्य को न्याय में काम लाना, न्यायागत द्रव्य को अन्याय में काम लाना; अन्यायागत द्रव्य को न्याय में काम लाना और अन्यायागत द्रव्य को अन्याय में काम में लाना। इन में प्रथम भाग विशुद्ध हैं।

ब्राह्मणने अति आदरसत्कारपूर्वक वह अन्न, जल आदि उस मुनि को भेट किये। उसने विचारा कि इस श्रावकों के बनिस्बत यह यतिरूप पात्र अधिक उत्तम है। कहा भी है कि–

मिथ्यादृष्टिसहस्रेषु, वरमेको ह्यणुव्रती।
अणुव्रतीसहस्रेषु, वरमेको महाव्रती ॥ १ ॥
महाव्रतिसहस्रेषु, वरमेको हि तात्त्विकः।
तात्त्विकेन समं पात्रं, न भूतं न भविष्यति ॥२॥

भावार्थः—हजार मिथ्यादृष्टियों से एक अणुव्रती श्रावक अधिक श्रेष्ठ है, हजार अणुव्रतियों से एक महाव्रती साधु अधिक श्रेष्ठ है, हजार महाव्रतियों से एक तत्त्ववेत्ता मुनि अधिक श्रेष्ठ है, तत्त्ववेता के सदृश सत्पात्र इस जगत में न कोई हुआ है और न होगा।

फिर वह ब्राह्मण कुछ समय पश्चात् आयुष्य पूर्ण होने से मर कर सुपात्र दान की महिमा से पहले देवलोक में देवता हुआ। वहां से आयुष्य पूर्ण कर चव कर राजगृह नगरी में श्रेणिक राजा का नंदिषेण नामक पुत्र हुआ। उस के युवावस्था को प्राप्त होने पर राजाने उसका पांच सो राजकन्याओं के साथ विवाह किया। उन स्त्रियों के साथ दोगुंदक देव के समान वह मनोहर भोगविलासरूप सुखसागर में मग्न रहने लगा।

लाख ब्राह्मणों को भोजन करानेवाला ब्राह्मण पापानुबंधी पुण्य उपार्जन करने से तथा विवेक रहित दान करने से अनेको भवों में अल्प अल्प भोगादिक सुख भोग कर किसी अरण्य में हस्ती हुआ। उसका नाम सेचनक पड़ा। इसका यह कारण था कि—इस हाथी का पिता जो हाथी था उसने ऐसा विचारा था कि—यदि मेरा पुत्र कोई हाथी होगा तो वह मुझे ही मार कर इन हाथनियों के टोले का स्वामी होगा इसलिये वह हाथी अपनी हाथनियों में से जो कोई हाथी (नर) को जन्म देती तो वह उस बच्चों को मार डालता था। एक बार एक हाथनी के प्रसूति का समय आया तो उसने इस भय से कि—वह उसके बच्चे को भी मार डालेगा उस हाथी को भूलाकर एक तापस के आश्रम में जाकर वहां एक हाथी (नर) को जन्म दिया जिस को तपस्वी कुमारोंने पालपोष बड़ा किया। उन तपस्वी कुमारों की संगति से वह हाथी (बालक) भी अपनी सूंढ में पानी लेकर वृक्षों को सींचा करता था इस से उसका नाम सेचनक रक्खा गया था।

एक बार वह सेचनक हाथी घूम रहा था कि—उसने हथनियों के यूथ के स्वामी पहलेवाले हाथी याने उसके पिता को देखा और उसके साथ युद्ध कर उसको मार कर खुद यूथ का स्वामी हो गया। फिर उसने उसकी माता का प्रपंच जानकर नया हाथी उत्पन्न नहीं होने देने के लिये उसने उन तपस्वियों के आश्रम को नष्ट कर दिया इसलिये

खेदित तपस्वी उसका वैर लेने के लिये श्रेणिक राजा के पास जाकर उस सेचनक की प्रशंसा की कि-हे राजा !

चत्वारिंशत्समधिकचतुःशतसुलक्षणः ।
स द्वीपो भद्रजातीयः सप्तांगं सुप्रतिष्ठितः ॥१॥

भावार्थः—चार सो चालीस शुभ लक्षणों से युक्त और सातों अंगो में सुप्रतिष्ठित एक भद्र जाति का हाथी अरण्य में फिरता है ।

वह हाथी आप के राज्य में शोभा पाने योग्य है । यह सुनकर राजाने आदमियों को भेजकर कई उपायों से उसको पकडवाया और अनुक्रम से उस सेचनक को पट्ट हाथी बनाया जिस से राज्य के योग्य आहार, वस्त्रों आदि से पोषित होकर वह बहुत सुखी हुआ । एक बार जब वे तपस्वी नगरी में आये तो उन्होंने सेचनक से जाकर कहा कि-हमारे आश्रम को नष्ट करने का तुझे यह फल मिला है । इन वचनों से मर्मस्थान में विंधा हुआ वह हाथी आलानस्तंभ उखेड़ कर वन में जा कर फिर से तपस्वियों के आश्रम को नष्ट कर अत्यन्त उपद्रव करने लगा । राजाने अनेकों प्रयास किये किन्तु उस हाथी को कोई न पकड़ सका इसलिये राजाने नगर में ढिंढोरा पीटवाया कि-कोई भी शक्तिशाली पुरुष उस हाथी को पकड़ कर भेंट करें । यह सुन कर

राजा की आज्ञा लेकर नन्दिषेण कुमारने उसको "अप्पा चेव दमेअव्वो-आत्मा का ही दमन करना चाहिये" आदि वाक्यों द्वारा जागृत किया। उस कुमार को देख कर सेचनकने विचारा कि-यह कुमार मेरा किसी समय का सम्बन्धि जान पड़ता है। इस प्रकार तर्कवितर्क करते हुए उसको जातिस्मरण ज्ञान हो गया इसलिये वह तुरन्त ही शान्त हो नन्दिषेण के पास आकर खड़ा हो गया। उसने उसको आलानस्तंभ के पास ले जाकर बांध दिया। इस हालत को सुन कर श्रेणिक आदि को बड़ा विस्मय हुआ।

कुछ समय पश्चात् श्री महावीरस्वामी वैभारगिरि पर समवसर्ये जिनको वन्दना करने के लिये राजा श्रेणिक, अभयकुमार, नन्दिषेण आदि गये। प्रभु के मुख से देशना सुन कर अन्त में राजाने प्रभु से पूछा कि-हे स्वामी! सेचनक हाथी नन्दिषेण कुमार से किस प्रकार शान्त हो गया? इस पर प्रभुने नन्दिषेण के सुपात्र दान तथा हाथी के जीव से लक्ष ब्राह्मणों को दिये हुए भोजन का सर्व वृत्तान्त कह सुनाया। राजाने फिर उसके भविष्य के विषय में पूछा तो भगवानने उत्तर दिया कि-हे राजा! न्याय से प्राप्त किये द्रव्य का सुपात्र दान करने से नन्दिषेण कुमार अनेक दिव्य भोग भोगकर चारित्र ग्रहण कर स्वर्ग में जा अनुक्रम से मोक्ष प्राप्त करेगा और इस हाथी के जीवने पूर्व में पात्र अपात्र का बिना विचार किये दान करने से थोड़े भोग प्राप्त

किये हैं परन्तु अब यह मर कर प्रथम नरक में जावेगा। यह सुन कर नन्दिषेण कुमारने प्रतिबोध प्राप्त कर श्रावक धर्म अंगीकार किया।

बाद में नन्दिषेण जब चारित्र ग्रहण करने को तैयार हुआ तो शासनदेवने उसको कहा कि–अभी तेरे बहुत से भोग कर्म शेष हैं अतः अभी दीक्षा ग्रहण न कर। ऐसा निषेध करने पर भी नन्दिषेणने दीक्षा ग्रहण करली। जिनेश्वरने भी उसको निषेध किया परन्तु फिर भी उसने अपना आग्रह नहीं छोड़ा और हर्षपूर्वक चारित्र ग्रहण कर उग्र तपस्या करता हुआ प्रभु के साथ विहार करने लगा। अनुक्रम से नन्दिषेण मुनि अनेकों सूत्रार्थ के ज्ञाता हुआ।

कुछ समय पश्चात् भोगावली कर्म के उदय होने से नन्दिषेण मुनि को कामविकार उत्पन्न होने लगा। उसको रोकने के लिये उसने बहुत उग्र तपस्या की, आतापना ली किन्तु फिर भी इन्द्रियों का विकार शान्त नहीं हुआ इसलिये चारित्र की रक्षा के लिये उसने पर्वत पर चढ़ कर गिर मरने का विचार किया परन्तु ज्योंहीं वह गिरने लगा कि–शासनदेवीने उसको उठा लिया और कहां कि–तू व्यर्थ क्यों मरता है ? बिना भोग भोगे तू मर नहीं सकता। ऐसा कह कर देवी अदृश्य हो गई। फिर एक दिन उस मुनिने छट्ठ के पारणे के लिये ग्राम में घूमते हुए अनजानपन से

एक गणिका के घर में प्रवेश कर धर्मलाभ दिया। यह सुन कर वेश्या हँसती हँसती बोली कि–हे साधु ! हम को धर्मलाभ से कोई प्रयोजन नहीं है, यहां तो अर्थलाभ चाहिये। यह सुन कर यह स्त्री मेरी हँसी उड़ाती है ऐसा विचार कर अभिमान से मुनिने ऊपर से एक तृण खिंचकर लब्धिद्वारा दश करोड़ रत्न की वृष्टि की, जिसको देखकर आश्चर्यचकित हुई वेश्या उनको चरणकमलों में भ्रमर के सदृश लिपट कर बोली कि–हे प्राणनाथ ! अनाथ और तुम्हारे पर अनुरक्त हुई मुझे न त्यागीयें। आदि अनेक प्रार्थना के वचन सुन कर देवीद्वारा कहे हुए भोगकर्मों का स्मरण कर उसके वचनो से रक्त हो उन्होंने उस वेश्या को अंगीकार किया; परन्तु उस समय उन्होंने ऐसा अभिग्रह लिया कि–यहां आनेवाले कामी पुरुषों को धर्मोपदेश देकर उन में सदैव दश पुरुषों को प्रतिबोध कर, उनको दीक्षा लेने को भेजने पश्चात् मैं भोजन करुंगा। फिर मुनिवेष त्याग कर वेश्या के साथ कामक्रीड़ा करते हुए वहां रहें और सदैव दश मनुष्यों को प्रतिबोध कर दीक्षा ग्रहण करने के लिये प्रभु के पास भेजने लगे। इस प्रकार बारह वर्ष व्यतीत हो गये। बाद में एक दिन उन्होनें नव मनुष्यों को प्रतिबोध किया किन्तु दशवां एक स्वर्णकार को किसी भी प्रकार से प्रतिबोध नहीं हुआ। भोजन समय व्यतीत हो गया। वेश्याने दो बार भोजन बनाया

किन्तु वह भी ठंढ़ा हो गया। वह बारम्बार भोजन के लिये बुलाने लगी तब उन्होंने कहा कि-अभी दशवें आदमी को प्रतिबोध नहीं हुआ है। इस पर वह वेश्या हँसी कर बोली कि-हे स्वामी! तब दशवें तुम्ही होजाओ। यह सुनकर नन्दिषेण शीघ्र ही भोगकर्मों के क्षीण होने से उठे और वेश्या के कई मोहक वाक्योंद्वारा आग्रह करने पर भी उसकी कुछ भी परवाह न कर, उसका तृण के सदृश त्याग कर, जिनेश्वर के पास जाकर फिर से दीक्षा ग्रहण की और अपने दुष्कर्म की आलोचना कर नन्दिषेण मुनि अनुक्रम से स्वर्ग सिधारे।

हे भव्य जीवों! जो आगमवाक्यों की युक्ति द्वारा भवाभिनन्दी जीवों को भी प्रतिबोध करते हैं वे नन्दिषेण मुनि के सदृश दिव्य भोगों को भोग कर अनुक्रम से सिद्धि पद को प्राप्त करते हैं।

इत्युपदेशप्रासादे द्वितीयस्तंभे षड्विंशतितमं व्याख्यानम् ॥ २६ ॥

व्याख्यान २७ वां

तिसरे वादी प्रभावक के विषय में

बलात्प्रमाणग्रन्थानां, सिद्धान्तानां बलेन वा।
यः स्यात् परमतोच्छेदी, स वादीति प्रभावकः ॥१॥

भावार्थः—जो (सूरि) प्रमाण ग्रन्थों के बल से अथवा सिद्धान्त के बल से भी परमत का उच्छेद करता है वह वादी प्रभावक कहाता है।

चार्वाकोऽध्यक्षमेकं सुगतकणभुजौ
सानुमानं सशाब्दं,
तद्वैतं पारमार्षः सहितमुपमया
तत्त्रयं चाक्षपादः ।
अर्थापत्त्या प्रभाकृद्वदति तदखिलं
मन्यते भट्ट एतत्,
स्वाभाव्ये द्वे प्रमाणे जिनपतिगदिते
स्पष्टतोऽस्पष्टतश्च ॥ १ ॥

भावार्थः—चार्वाक (नास्तिक) केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानते हैं। बौद्ध प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाण को मानता हैं। परम आर्ष अक्षपाद (न्याय) मतानुयायी प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमा इन चार प्रमाणों को मानते हैं। प्रभाकर मतानुयायी प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमा और अर्थापत्ति इन पांच प्रमाणों को मानते हैं, भट्ट मतानुयायी प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमा, अर्थापत्ति और जैन मतानुयायी तो स्पष्ट तथा अस्पष्ट इन दो प्रमाणों

को ही मानते हैं (स्पष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष और अस्पष्ट अर्थात् परोक्ष–अन्य सर्व प्रमाण इन के अन्तर्गत होते हैं)

ये प्रमाण जिनग्रन्थों में वर्णित हैं, उन ग्रन्थों के आधार से जो परवादी पर विजय प्राप्त करते हैं उनको वादी प्रभावक कहते हैं, इसका भावार्थ मल्लवादीसूरि के चरित्र से प्रत्यक्ष है ।

मल्लवादी प्रबंध

भृगुकच्छ (भरुच) नगर में राजा के समक्ष वादविवाद होते हुए बौद्ध साधु बुद्धानन्द ने जीवानन्दसूरि को वितंडावादद्वारा जीत लिये। इस से लज्जायुत सूरिमहाराज वल्लभीपुर गये जहां उनकी बहिन दुर्लभदेवी को उसके अजीतशा, यक्ष और मल्ल नामक तीनों पुत्रों सहित प्रतिबोध कर दीक्षा दिलाई। उन तीनों को गुरुने नयचक्रवाद ग्रन्थ के अतिरिक्त अन्य सर्व ग्रन्थ पढ़ाये। उन तीनों में मल्लमुनि विशेष बुद्धिमान हुआ।

एक बार गुरु महाराजने अपनी बहिन[1] को यह कहा कि–"ज्ञानप्रवाद नामक पांचवें पूर्व में से उद्धरित बारह आरेवाला जिसके प्रत्येक आरे के आरम्भ और अन्त में चैत्य-

---

१ अपनी बहिन साध्वी के सामने मल्लसाधु को कहा, ऐसा प्रभावक चरित्र में है ।

पूजादि महोत्सव नामक पढ़ने योग्य और देवताधिष्ठित ऐसा जो द्वादशार नयचक्र नामक ग्रन्थ ज्ञानभंडार में है वह किसी को भी मत दिखलाना" बाद अन्यत्र विहार किया। एक बार मल्लमुनिने उसकी माता की अनजान में चुपके से उस पुस्तक को कौतुक से खोला और प्रथम पत्र में प्रथम आर्या इस प्रकार पढ़ा ।

विधिनियमभङ्गवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकमवोचत् जैनादन्यच्छासनमनृतं भवतीति वैधर्म्यम् ॥१॥

मल्लमुनिने यह प्रथम आर्या पढ़ा ही था कि–शासन-देवी ने तुरन्त ही उस पुस्तक को हर लिया। यह देख कर मल्लमुनिने अत्यन्त खेदित हो यह सब घटना उसकी माता तथा संघ को यथास्थित कह सुनाई, जिन्होंने उसको बहुत उपालंभ दिया। मल्लमुनि उस ग्रन्थ की प्राप्ति तक छ ही विकृति का प्रत्याख्यान कर केवल वाल का पारणा कर छट्ठ तप करने लगा। चातुर्मास के पारणे के दिन संघने अत्यन्त आग्रह से उसको विकृति ग्रहण कराई। फिर श्री संघद्वारा आराधित श्रुतदेवीने मल्ल साधु की परीक्षा करने के लिये रात्री में आकर उसको कहा कि–'के मिष्टाः ?' कौन सी चीज स्वादीष्ठ है ? मुनिने उत्तर दिया कि–"वल्लाः"–वाल।

इसके छ महिने पश्चात् शासनदेवीने फिर पूछा कि– "के न ?–कौन नहीं ? (कौन सी वस्तु मिष्ट नहीं ?) इस पर

मुनिने उत्तर दिया कि–'गुड़घृते न'–गुड़ और घी (मिष्ट नहीं!)। ऐसा प्रत्युत्तर सुन कर उसकी धारणाशक्ति से तुष्टमान हुई देवीने कहा कि–वरदान मांग। इस पर उसने यह वरदान मांगा कि–नयचक्र पुस्तक देओं। अतः देवीने उसको वह पुस्तक[1] देदी जिस से मल्लमुनि अधिक शोभायमान हुआ। कुछ समय पश्चात् गुरुमहाराज विहार के क्रम से वापस वहां पधारे और मल्ल को सूरिपद प्रदान किया। श्री मल्लसूरिने चोवीस हजार श्लोक का एक पद्मचरित्र बनाया।

इसके बाद मल्लसूरि भृगुकच्छ में आये। वहां शिलादित्य राजा के समक्ष बौद्ध साधु बुद्धानन्द के साथ उनका वादविवाद हुआ। उसमें मल्लाचार्यने नयचक्र के अभिप्राय के अनुसार[2] छ महिने तक अविच्छिन्न वाग्धाराद्वारा पूर्व पक्ष किया। पूर्व पक्ष को धारण करने में अशक्त बुद्धानन्द अपने घर भग गया और वादी के पूर्व पक्ष को दृढ़ दृढ़ कर

---

१ देवीने वह पुस्तक उसको नहीं दी लेकिन कहा कि–इस ग्रन्थ के प्रगट होने से द्वेषी देवता गण उपद्रव करेंगे परन्तु उसके एक ही श्लोक से तुम सम्पूर्ण शास्त्र का अर्थ जान जाओगें। ऐसा कह कर शासनदेवी अदृश्य हो गई और उसने दश हजार श्लोकों का नया नयचक्र बनाया, ऐसा प्रभावक चरित्र में कहा गया हैं।

२ किसी ग्रन्थ में छ दिन कहे गये हैं।

खड़िया (Chalk) से लिखने लगा परन्तु विस्मरण होने से नहीं लिख सका, इससे अत्यन्त दुःखी होने से बुद्धानन्द का हृदय विदीर्ण हो गया और वह मर गया। प्रातःकाल यह वृत्तान्त शासनदेवीने मल्लसूरि को बतला कर उस पर पुष्प-वृष्टि की। राजाने मल्लसूरि को "वादीमदभंजक" की उपाधि देकर सर्व बौद्धों को उसके देश से बाहर निकाल दिये और स्वयं जैनमतानुयायी हो गया। इसके बाद से बौद्ध लोग इस देश में कभी नहीं आये।

यह प्रबन्ध राजशेखरसूरिकृत ग्रन्थ में निम्नस्थ प्रकार से वर्णित है—

खेटक(खेड़ा)पुर में देवादित्य नामक ब्राह्मण के एक विधवा पुत्री थी, उसने किसी गुरु से सूर्य का मंत्र लेकर उसका आराधन किया, इस से सूर्यने उस पर मोहित हो उस के साथ भोग किया। इसकी उस दिव्य शक्ति से वह गर्भ-वती हुई। गर्भ की बात सुन कर उसके पिताने उसको बहुत कुछ बुरा भला कहा जिस पर उसने सर्व वृत्तान्त यथाविधि कह सुनाया। यह सुन कर उसके पिताने लज्जा से उसकी पुत्री को वल्लभीपुर भेज दिया, जहां उसके एक पुत्र व एक पुत्री युग्मरूप से उत्पन्न हुए। उनके योग्य वय के होने पर पुत्र लेखशाला में पढ़ने के लिये गया तो वहां अन्य लड़के उसको 'बिना बाप का' कह कर हँसी उडाने लगे। इस

से उसने उसकी माता को पूछा कि–मेरा पिता कौन है ? इस पर उसकी माताने उत्तर दिया कि–मैं नहीं जानती। यह सुन कर पुत्र अत्यन्त लज्जित होकर मरने को उतारु हुआ। उस समय सूर्यने साक्षात् प्रकट हो कर कहा कि–हे वत्स ! मैं तेरा पिता हूँ। जो कोई तेरा पराभव करें तो तू उसको कंकर से मारना। वह कंकर उसको मार कर तेरे पास आजायगा। इस के पश्चात् उस पुत्रने कई बालकों तथा अन्य मनुष्यों को मार डाला। इस पर वल्लभीपुर के राजाने जब उसको बुरा भला कहा तो उसने उसको भी मार डाला और स्वयं शिलादित्य नाम से राजा बन बैठा। अनुक्रम से उसने जैन धर्म को अंगीकार किया और शत्रुंजयगिरि पर उद्धार किया।

शिलादित्यने अपनी बहेन का विवाह भृगुकच्छ के राजा के साथ किया, जिसके मल्ल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।

एक बार वल्लभीपुर में देशत्याग की प्रतिज्ञापूर्वक राजा के समक्ष वादविवाद होते हुए दैवयोग से बौद्धोंने जैनियों का पराभव किया, अतः जैन मुनि अन्य प्रदेश को चले गये और राजाने बौद्धमत अंगीकार किया। राजा की बहिनने अपने पति के मर जाने से वैराग्य प्राप्त कर उसके मल्ल पुत्र सहित दीक्षा ग्रहण की। मल्लमुनिने महाप्रयास से नयचक्र ग्रंथ प्राप्त कर बौद्धों का पराजय किया इसलिये उनको वहां

से निकाल कर जैनियों को वापस देश में बुलाये और शिलादित्य राजा को भी फिर से जैन धर्म में दृढ़ किया।

हे भव्य प्राणियों! जिनशासन के प्रभाव की उन्नति करनेवाले मल्लवादी का पवित्र चरित्र सुन कर तुम को भी काव्यादिक की विचित्र लब्धिद्वारा जिनशासन की उन्नति करने में तत्पर रहना चाहिये।

इत्युपदेशप्रासादे द्वितीयस्तंभे सप्तविंशतितमं व्याख्यानम् ॥ २७ ॥

व्याख्यान २८ वां

वादी प्रभावक देवसूरि का दृष्टान्त

तर्ककर्कशवाक्येन, बुद्धिशालिमहात्मना ।
जेतव्या वादिनः सद्यः, शासनोन्नतिहेतवे ॥१॥

भावार्थः--बुद्धिशाली महात्मा को शासन की उन्नति के लिये तर्क (न्याय) शास्त्र के कर्कश (दुर्ज्ञेय) वचनोंद्वारा वादी को पराजय करना चाहिये।

इस श्लोक का भावार्थ निम्नलिखित दृष्टान्त से प्रत्यक्ष हैं।

श्री पाटण में जब सिद्धराज राज्य करता था तब कुमुदचंद्र नामक दिगंबर आचार्य उसकी सभा में आये। राजाने

उसको अपने मातामह (माता के पिता) का गुरु जान कर सत्कारपूर्वक ठहरने को मकान का प्रबन्ध किया। फिर वाद करने के लिये राजाने हेमचंद्रसूरि से कहा तो उसने उत्तर दिया कि–वादी की विद्या को नाश करनेवाले और वादी-रूप हाथी के लिये सिंहसमान श्रीदेवसूरि को बुलवाइये। इस पर राजाने अपने सेवकों को भेज कर देवसूरिने बुलवाया और वादविवाद करने को कहा। राजा के आग्रह से देव-सूरिने सरस्वती की आराधना की जिसने प्रत्यक्ष होकर कहा कि–वादीवैताल[1] श्री शान्तिसूरिकृत उत्तराध्ययन सूत्र की वृत्ति में दिगंबर के मतखण्डन के विषय में बतलाये चोराशी विकल्पों का विस्तार करने से दिगंबराचार्य का मुंह बन्द हो जायगा। ऐसा कह कर देवी अदृश्य हो गई। सूरिने अपने रत्नप्रभाव नामक मुख्य शिष्य को दिगंबराचार्य के पास गुप्तरूप से यह जानने के लिये भेजा कि–उनकी कौन से शास्त्र में कुशलता है। वह रात्री के समय गुप्त वेष में देव के समान उनके पास गया। कुमुदचंद्रने उससे पूछा कि–तू कौन है? उसने उत्तर दिया कि–मैं देव हूँ। कुमुदचंद्रने पूछा कि–मैं कौन हूँ? उसने उत्तर दिया कि–तूं श्वान है। कुमुद-चन्द्रने पूछा कि–श्वान कौन है? उसने कहा कि–तूं। कुमुद-चन्द्रने पूछा कि तू कौन है। उसने उत्तर दिया कि–मैं देव

---

१ ऐसी उनको उपाधि मिली हुई थी।

हूँ। इस प्रका चक्रभ्रमण× वाद द्वारा अपने को देव और उसको श्वान स्थापित कर वह वापस अपने उपाश्रय को लौट गया। इस प्रकार चक्रदोष प्रगट करने से खेदित दिगंबराचार्यने, यह जान कर कि श्वेताम्बर के किसी साधुने आकर मेरी निन्दा की है, देवसूरि को एक श्लोक लिख कर भेजा कि—

हंहो श्वेतपराः किमेष विकटाटोपोक्तिसंटंकितैः,
संसारावटकोटरेऽतिविकटे मुग्धो जनः पात्यते।
तत्त्वातत्त्वविचारणासु यदि वा हेवाकलेशस्तदा
सत्यं कौमुदचन्द्रमंघ्रियुगलं रात्रिन्दिवं ध्यायत ॥१

भावार्थः—अरे श्वेताम्बरो! खोटे आडम्बरवाले वाक्यों के प्रपंचद्वारा तुम इन मुग्ध लोगों को अति विकट संसाररूपी अंधकूप के कोटर में क्यों डालते हो? यदि तुम्हारी तत्त्व और अतत्त्व के विचार में लेश मात्र भी इच्छा हो तो तुम सचमुच रात्रीदिन कुमुदचन्द्र के चरणयुग्म का ध्यान धारण करो।

दिगम्बराचार्य द्वारा भेजे हुए इस श्लोक को पढ़ कर बुद्धिवैभव में चाणक्य से भी बढ़कर देवसूरि के शिष्य माणिक्य मुनिने निम्नस्थ श्लोक लिखा—

× कस्त्वं ? अहं देवः। देवः को ? अहं। अहं कः ? त्वं श्वा। श्वा कः ? त्वम्। त्वं कः ? अहं देवः। इस प्रकार चक्रभ्रमणवाद समझना चाहिये।

कः कँठीरवकंठकेसरसटाभारं स्पृशत्यंघ्रिणा,
कः कुन्तेन शितेन नेत्रकुहरे कण्डूयनं कांक्षति ।
कः सन्नह्यति पन्नगेश्वरशिरोरत्नावतंसश्रिये,
यः श्वेताम्बरशासनस्य कुरुते वन्द्यस्य निन्दामिमाम्

भावार्थः—ऐसा कौन पुरुष होगा कि-जो सिंह के गर्दन की केशवाली को पैरों से स्पर्श करेगा ? ऐसा कौन पुरुष होगा कि-जो तीक्ष्ण भाले से नेत्र के गोलक की खाज को मिटाने की इच्छा करेगा ? और ऐसा कौन पुरुष होगा कि-जो शेषनाग के मस्तक की मणि को लेकर अलंकार बनाने को तैयार होगा ? ऐसा पुरुष वह ही हो सकता है कि-जो श्वेताम्बर के पूज्य शासन की इस प्रकार निन्दा करता हो ।

फिर रत्नाकर नामक साधुने भी एक श्लोक लिखा कि-

नग्नैर्निरुद्धा युवतीजनस्य,
यन्मुक्तिरत्नं प्रकटं हि तत्त्वम् ।
तत्किं वृथा कर्कशतर्ककेलौ,
तवाभिलाषोऽयमनर्थमूलम् ॥ २ ॥

भावार्थः—अहो नग्न लोगोंने स्त्रियों का मुक्तिरूपी रत्न बंध कर के ही अपना जो तत्त्व प्रगट किया है वह ही काफी है, अब तू क्यों कठिन शास्त्र की क्रीड़ा में व्यर्थ अभि-

लाषा करता है ? क्यों कि–ऐसी अभिलाषा तेरे अनर्थ का ही कारण होगी इसे तू भलीभांति समझ लेना ।

इन दोनों श्लोकों को उन्होने उपहासपूर्वक दिगंबराचार्य के पास भेज दिये ।

राजा की रानी दिगंबर के पक्ष में थी इसलिये उसने सभ्यजनों को आग्रहपूर्वक ऐसा कह रक्खा था कि–तुम ऐसा कार्य करना कि–जिस से किसी भी प्रकार से दिगम्बर की जय हो । फिर कुमुदचंद्रने अपने वाद का विषय लिख कर इस प्रकार भेजा कि––

केवलि हुओ न भुंजइ,
चीवरसहिअस्स नत्थि निव्वाणं ।
इत्थी हुवा न सिज्झई,
इयमयं कुमुदचंदस्स ॥ १ ॥

भावार्थः––तीर्थंकर केवलज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् आहार नहीं करते, वस्त्र धारण करनेवाले का मोक्ष नहीं होता और स्त्री कोई सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकती यह कुमुदचन्द्र दिगम्बर का मत है ।

इस श्लोक के जवाब में श्वेताम्बरोंने उत्तर दिया कि––

केवलि हुओ वि भुंजइ,
चीवरसहिअस्स अत्थि निव्वाणं ।

इत्थी हुवा वि सिज्झई,
इयमयं सियवयस्स× ॥ १ ॥

भावार्थः—तीर्थंकर केवली होने पर भी आहार करते हैं। वस्त्र धारण करनेवाला का मोक्ष होता है और स्त्री भी सिद्धि को प्राप्त कर सकती है ऐसा श्वेताम्बर मत है अथवा देवसूरि का यह मत है।

फिर निर्णय के दिन सिद्धराजा की सभा में छ ही दर्शन के पंडित सभ्यरूप से बैठे। उस समय कुमुदचन्द्र वादी गाजे-बाजे सहित राजसभा में आया और राजाद्वारा मानपूर्वक दिये हुए ऊंचे सिंहासन पर चढ़ कर बैठा। श्री देवसूरि भी श्री हेमचन्द्राचार्य सहित राजसभा में आकर एक ही सिंहासन पर दोनों बैठे। बालावस्था से कुछ मुक्त हुए श्री हेमचन्द्रसूरि को देख कर वृद्धावस्था को पहुंचे हुए दिगम्बराचार्यने हँसी में कहा कि–"पीतं तक्रं भवता–तूने छाश पी है।" यह सुन कर हेमाचार्यने तुरन्त ही उत्तर दिया कि–"अरे जड़मति! ऐसा असमंजस भाषण क्यों करता है? श्वेतं तक्रं, पीता हरिद्रा। छाश तो श्वेत सफेद होती है और पीत (पीली) तो हलदर होती है (यहां पर दिगम्बरने पीत

× 'इस चोथे पद के स्थान में मयमेयं देवसूरिणं' एसा पद भी किसी प्रत में है।

शब्द पीने के अर्थ के लिये उपयोग किया था लेकिन उस की हँसी उड़ाने के लिये हेमाचार्यने पीत शब्द का पीला अर्थ कर उत्तर दिया) यह सुनकर दिगम्बराचार्य लज्जित होकर नीचे की ओर देखने लगा। फिर दिगम्बराचार्यने पूछा कि– "तुम दोनो में वादी कौन है?" तब देवसूरिने उसका तिरस्कार करने के लिये उत्तर दिया कि–"तुम्हारा पराजय करने के लिये ये हेमचन्द्र प्रतिवादी होगा।" दिगम्बराचार्य ने उत्तर दिया कि–"इस बालक के साथ मैं वृद्ध क्या वाद-विवाद करूं?" यह सुन कर हेमाचार्यने कहा कि–"हे कुमुदचन्द्र! मैं तो बड़ा हूँ और तू ही बालक है क्यो कि–तूने अभी तक अपनी कमर पर डोर तक नहीं बांधा है और वस्त्र पहना भी नहीं सिखा है तो फिर बालक तू है या मैं हूँ?" उस प्रकार उन दोनों में होनेवाले वितंडावाद का राजाने निषेध किया। फिर दोनों पक्ष के बीच यह शर्त ठहरी कि– यदि श्वेताम्बर का पराजय हो तो उनको दिगम्बरपन अंगीकार करना होगा और दिगम्बर की पराजय हो तो उनको देश का त्याग करना होगा। इस प्रकार की प्रतिज्ञा होने पर स्वदेशकलंकभीरु श्रीदेवसूरि सर्व प्रकार के अनुवाद का परिहार कराने में तत्पर होकर कुमुदचन्द्र को कहा कि– "तुम प्रथम पक्ष करो" इस पर दिगम्बरने प्रथम राजा को आशीर्वाद दिया कि—

खद्योतद्युतिमातनोति सविता जीर्णोर्णनाभालय-
च्छायामाश्रयते शशी मशकतामायान्ति यत्राद्रयः।
इत्थं वर्णयतो नभस्तव यशो जातं स्मृतेर्गोचरं,
तत्तस्मिन् भ्रमरायते नरपते! वाचस्ततो मुद्रिता ॥१

भावार्थः--हे राजा! तुम्हारे यश के सामने सूर्य खद्योत (पतंगिये) के समान, चन्द्र जीर्ण करोड़ीया के पड़ के समान और पर्वत मच्छर के समान प्रतीत होता है। अन्त में तुम्हारे यश का वर्णन करते हुए आकाश मेरे स्मरणपथ में आया परन्तु वह आकाश भी तुम्हारे यश के सामने एक भ्रमर सदृश छोटा जान पड़ता है, अतः तुम्हारे यश के वर्णन के लिये कोई भी वस्तु नजर नहीं आने से मेरी जिह्वा ही मूक रह जाती है।

इस श्लोक के अन्त में-वाचस्ततो मुद्रिता-मेरी वाणी बन्द हो जाती है-ऐसा अप शब्द बोलने से सभास्थित प्रविण पंडितोंने विचारा कि-"यह वादी अपने हाथों से ही बंध जायगा-हार जायगा।" ऐसा विचार कर उनको आनन्द हुआ। तत्पश्चात् देवाचार्यने राजा को इस प्रकार आशीर्वाद दिया।

नारीणां विदधाति निर्वृतिपदं श्वेताम्बरप्रोल्लसत्-
कीर्तिस्फातिमनोहरं नयपथो विस्तारभंगीगृहम्।

यस्मिन् केवलिनो विनिर्मितपरोच्छेकाः सदा
दन्तिनो×
राज्यं तज्जिनशासनं च भवतश्चौलुक्य जीयाच्चिरम्।

भावार्थः--हे चालुक्य राजा! जो जिनशासन स्त्रियों के मोक्ष प्राप्ति का विधान करता है, जो श्वेताम्बर (साधुओं) की उल्लासीत कीर्ति से जाज्वल्यमान है, जो सप्त नय सम्बन्धी मार्ग के विस्ताररूप भागों का स्थान है तथा जिस में केवली को भी आहार करने का विधान किया गया है ऐसे जिनशासन तथा तुम्हारे राज्य की चिरकाल जय हो। इस श्लोक में कहे सर्व विशेषण राज्य के पक्ष में भी इस प्रकार उपयुक्त है--जो राज्य शत्रुओं को आराम से नहीं रहने देता, जो गगनतल को श्वेत कर उल्लास पाती हुई कीर्तिद्वारा मनोहर है, जो न्याय विस्तार की रचना करने का घर है तथा जिस में शत्रुओं के उच्छेद करने में निपुण हाथी मौजूद हैं। ऐसे आप के राज्य की चिरकाल जय हो।

तत्पश्चात् दिगम्बर से स्खलित वाणीद्वारा कई प्रकार से अपने मत की पुष्टि कर श्री देवसूरि को उसका उत्तर देने

× यस्मिन् केवलिनो विनिर्जित परोच्छेकास्सदा दंतिनो- ऐसा पद भी है।

को कहा। इस पर देवसूरिने उत्तराध्ययन की वृत्ति में वर्णित चोराशी विकल्प उत्तर में रक्खें। उन विकल्पों को समझने में भी अशक्त दिगम्बराचार्यने घुमा फिरा कर फिर से अपना पक्ष पेश किया। सूरिने उसके सर्व पक्षों का अनेक युक्तियों-द्वारा खण्डित कर दिया इस से वह अत्यन्त तिरस्कृत हुआ। अतः दिगम्बरने स्वयं ही सभा के समक्ष कहा कि-इस देव-सूरि से मेरा पराजय हुआ। यह सुन कर राजाने पराजित को दूसरा मार्ग बतलाने के लिये उस दिगम्बर को सभा के पीछले मार्ग से निकाल दिया। कुछ समय पश्चात् कुमुद-चन्द्र आर्त्तध्यानद्वारा मृत्यु को प्राप्त हुआ। राजाने श्री देवसूरि को बडे उत्सवपूर्वक अत्यन्त आदर सत्कार कर उपाश्रय की ओर विदा किया। उस समय जिनशासन की बड़ी भारी प्रभावना हुई।

"स्याद्वादरत्नाकर" नामक ग्रन्थ के रचनेवाले और वादीरूप हाथीयों के पराजय करने में सिंह समान श्रीदेव-सूरिने दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र की पराजय कर जिन-शासन की शोभा को बढ़ाया। इसी प्रकार सब को अपनी शक्तिअनुसार जिनशासन की शोभा बढ़ाने का प्रयास करना चाहिये।

इत्युपदेशप्रासादे द्वितीयस्तंभे अष्टविंशतितमं व्याख्यानम् ॥ २८ ॥

व्याख्यान २९ वां

वाद के योग्य पुरुष के लक्षणों के विषय में

नयन्यासप्रमाणानि, प्रोक्तानि यानि शासने ।
तानि तथैव जानाति, स वादे कुशली भवेत् ॥१॥

भावार्थः—शासन के विषय में जो नय, निक्षेप और प्रमाण कहे गये हैं, उन सब को यथार्थरूप से जाननेवाला वाद करने में कुशल होता है। इस विषय में वृद्धवादी सूरि का दृष्टान्त प्रसिद्ध है, जो इस प्रकार है—

वृद्धवादी सूरि का दृष्टान्त

विद्याधर गच्छ में श्री पादलिप्तसूरि की परंपरा में खंदिलाचार्य के पास मुकुन्द नामक एक वृद्ध ब्राह्मणने दीक्षा ग्रहण की। वह मुनि रात्री को जोर से स्वाध्याय करने लगा इस पर गुरुने कहा कि–हे वत्स! रात्री को उच्च स्वर से पढ़ना अनुचित है तो उसने दिन में उच्च स्वर से पढ़ना आरम्भ किया, जिस को सुन कर श्रावकोंने हंसते हंसते कहा कि–क्या यह वृद्ध मुनि पढ़ कर मूसल को नवपल्लवित करेंगे? यह बात वृद्ध मुनि को चुभजाने से उसने विद्याप्राप्ति के लिये सरस्वती देवी की उपासना कर इकवीश उपवास किये। उसकी भक्ति से तुष्टमान होने पर ब्राह्मी देवी से उसको सर्व विद्या सिद्ध होने का वरदान मिला। यह वरदान प्राप्त कर वृद्ध

मुनिने चौक (मैदान) में जा एक मूसल को जमीन पर खड़ा कर प्रासुक जल से सिंचना आरम्भ किया और—

अस्मादृशा अपि जड़ा, भारति! त्वत्प्रसादतः।
भवेयुर्वादिनः प्राज्ञा, मुशलं पुष्प्यतां तदा ॥१॥

भावार्थः—हे सरस्वती देवी! हमारे सदृश जड़ मनुष्य भी जब तेरे प्रसाद से विद्वान वादी हो जाते हैं तो इस मूसल को भी पुष्पित बना।

यह श्लोक पढ़ कर उसने उस मूसल को पत्र, पुष्प और फलवाला (नवपल्लवित) बना दिया। उसके इस चमत्कार को देख कर गरुड़ के नाम से सर्प के सदृश वादी लोग उनका नाम सुनते ही भगने लगें। उनकी योग्यता देख कर गुरुने उनको सूरिपद प्रदान किया।

उस समय देवर्षि नामक ब्राह्मण के देवश्री नामक स्त्री से उत्पन्न हुए सिद्धसेन नामक ब्राह्मण पंडित का राजा विक्रम की सभा में काफी मान था। उसके मिथ्यात्वी होने से अपनी बुद्धि के अतिशयपन के कारण वह समस्त संसार को उसके सामने तृण समान समझता था। कहा भी है कि—

वृश्चिको विषमात्रेणाप्यूर्ध्वं वहति कंटकम्।
विषभारसहस्रेऽपि, वासुकिर्नैव गर्वितः ॥१॥

भावार्थः—बिच्छु थोड़े से विष के होने पर भी अपने डंक को ऊपर की ओर उठा कर गर्व से चलता है जब कि–वासुकि नाग उससे हजारोंगुणा अधिक विष होने पर भी गर्व नहीं करता।

इस सिद्धसेनने यह प्रतिज्ञा की थी कि–मुझे जो कोई वादविवाद में हरा देगा मैं उसीका शिष्य हो जाउंगा। एक बार वृद्ध वादी की प्रशंसा सुनकर उसको सहन करने में असमर्थ सिद्धसेनने पालकी में बैठ कर अपने अनेक छात्रों सहित भृगुपुर (भरुच) की ओर कूच किया। मार्ग में ही उसकी वृद्धवादी से भेट होगई। परस्पर बातचीत करते हुए सिद्धसेनने उसको वादविवाद करने को कहा। वृद्ध वादीने उसकी बात स्वीकार करते हुए कहा कि–मैं वादविवाद करने को तैयार हूँ लेकिन यहां पर कोई ऐसा सभ्य पुरुष दृष्टि-गोचर नहीं होता कि जिस को मध्यस्थ कायम किया जा-सके और बिना किसी मध्यस्थ के जय पराजय का निश्चय क्यों कर हो सकेगा? इस पर गर्व से उद्धत सिद्धसेनने कहा कि–ये ग्वाल लोग ही मध्यस्थ होंगे। गुरुने यह बात स्वीकार कर ग्वालों को मध्यस्थ बना कर सिद्धसेन को प्रथम वाद आरम्भ करने को कहा। तब सिद्धसेनने तर्क शास्त्र की अवच्छेदकावच्छिन्न प्रसंगवाले शब्दोंद्वारा कठोर संस्कृत वाणी को उच्च स्वर से बोलना आरंभ किया और अधिक देर तक बोलते रहे। इस से ग्वालोंने कहा कि–अरे! यह तो कोई

बकवादी जान पड़ता है, समझता बूझता तो कुछ नहीं, केवल भैंस के समान जोर जोर से चिल्ला कर कानों को बहरा बना देता है, अतः यह तो मूर्ख ही प्रतीत होता है इसलिये हे वृद्ध ! आप कुछ कर्णप्रिय वार्ता सुनाइयें। यह सुन कर अवसर को जाननेवाले सूरिने नाटक के योग्य संगीत के अनुसार गण, छन्द, तालद्वारा ऊँचे स्वर से ताली बजाते हुए कहा कि--

न वि मारिइं न वि चोरिइं, परदारागमण निवारिइं ।
थोवा थोवं दाइइं, तउ सग्गिं टगाटग जाइयइं ॥१॥
गेहु गोरस गोरड़ी, गज गुणिअण ने गान ।
छ गग्गा जो इहां मीले, तो सग्गह शुं शुं काम ॥२॥
चूड़ो चमरी चुंदडी, चोली चरणो चीर ।
छहुं चच्चे सोहे सदा, सोहव तणुं सरीर ॥ ३ ॥

भावार्थः--किसी प्राणी को नहीं मारने, किसी का धन नहीं चुराने, परस्त्रीगमन नहीं करने और थोड़े में से थोड़ा भी दान देने से शीघ्र ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है। गोधम (गउं), गोरस (दूध, दहीं आदि), गोरड़ी (स्त्री), गज (हाथी), गुणीजन की गोष्टि और गान (संगीत) ये छ गकार यदि यहीं पर किसी को उपलब्ध हो तो फिर स्वर्ग से उसे क्या प्रयोजन ? चूडा, चमरी (केश), चुंदड़ी,

चोली, चरणों (घाघरा) और चीर इन छ चकारों से सौभाग्यवती स्त्रीयों का शरीर सदैव शोभित होता है।

इस प्रकार सूरि के बोलने पर उनके शब्दों के साथ साथ वे ग्वाल भी गाते हुए नाचते कूदते जाते थे और कहते थे कि–सचमुच इन सूरिने इस ब्राह्मण को हरा दिया। इस प्रकार अपनी निन्दा सुन कर सिद्धसेनने सूरि से कहा कि–हे पूज्य मुझे दीक्षित किजिये। इस पर सूरिने कहा कि–अब हमें वादविवाद करने के लिये राजसभा में चलना चाहिये। ऐसा कह कर वे राजसभा में गये। वहां पर भी अवसर को समझनेवाले सूरिने सिद्धसेन को पराजित किया इस से सत्यप्रतिज्ञ सिद्धसेनने सूरि के पास दीक्षा ग्रहण की और अनुक्रम से जैन शास्त्र में प्रवीण होने पर गुरुने उनको सिद्धसेन दिवाकर की उपाधि प्रदान कर अपना स्थान दिया अर्थात् सूरिपद पर स्थापित किया।

भव्य प्राणियोंरूपी कमल को प्रबोध करने में सूर्य समान वादीन्द्र सिद्धसेनसूरि अवन्ती नगरी में पधारें। उनको सर्वज्ञपुत्र कहते हुए सुन कर उनकी परीक्षा करने के लिये विक्रमार्क राजाने उनको मन से ही नमस्कार किया। सूरिने उनको उच्च स्वर से धर्मलाभ दिया। इस पर राजाने उन से पूछा कि–हे सूरीन्द्र! मैंने नमस्कार तो किया भी नहीं था फिर अपने मुझे धर्मलाभ क्यों कर दिया? सूरिने

उत्तर दिया कि–हे राजा ! यह धर्मलाभरूप आशीर्वाद करोड़ों चिन्तामणि से भी अधिक दुर्लभ है जो हमने तुमको मन से नमस्कार करने के बदले में दिया है। क्यों कि--

×दीर्घायुर्भव वर्ण्यते यदि पुनस्तन्नारकाणामपि,
सन्तानाय च पुत्रवान् यदि पुनस्तत्कुर्कुटानामपि।
तस्मात्सर्वसुखप्रदोऽस्तु भवतां श्रीधर्मलाभःश्रिये।

भावार्थः--हे राजा ! तू दीर्घ आयुष्यवान हो, ऐसा यदि आशीर्वाद दिया जाय तो दीर्घ आयुष्य तो नारकीय जीवों को भी हो सकता है, सन्तान के लिये पुत्रवान् हो यदि ऐसा आशीर्वाद दिया जाय तो मुर्गे मुर्गीयों के भी अनेक बच्चे होते हैं, × × × × अतः सर्व प्रकार के सुखों को देनेवाला धर्मलाभरूपी आशीर्वाद तुम्हारी लक्ष्मी को बढ़ाओ।

ऊँचा हाथ कर धर्मलाभरूपी आशीर्वाद देने से सूरि पर संतुष्ट होकर राजाने उसको करोड़ों द्रव्य भेट किया परन्तु उनके निःस्पृह होने से उसने उस द्रव्य को अस्वीकार किया इस से राजाने वह द्रव्य श्रावकों को भेट किया जिन्होंने उसका जीर्णोद्धारादिक कार्य में उपयोग किया।

× इस श्लोक का तीसरा पद हमारे पासवाली मूल प्रतों में नहीं है।

एक बार सूरि विहार करते करते चितोड़गढ़ पहुंचे। वहां एक ऐसा स्तंभ था कि जिसके अन्दर पूर्व की आम्नायवालोंने पुस्तकों को गुप्तरूप से छिपा रक्खा था। उसको जल, अग्नि, शस्त्र आदि से अभेद्य औषधियों से लिप्त किया देख कर सूरिने उन सब औषधियों का उनकी गंधद्वारा पत्ता चलाकर उनकी प्रतिस्पर्धी औषधियोंद्वारा मिश्रित जल छिड़क कर उस स्तंभ को कमल के सदृश विकसित किया (खोला)। फिर उस में से एक पुस्तक निकाल कर उसका प्रथम पत्ता पढ़ा तो उस में सरसव विद्या और स्वर्णविद्या इन दो विद्याओं का हाल पढ़ा। प्रथम विद्या का यह चमत्कार था कि-उस मंत्रद्वारा मंत्रित जितने सरसव के दाने जलाशय में डाले जाते उतने ही घुड़स्वार उस में से निकल कर शत्रुसैन्य का विनाश कर वापीस अदृश्य होजाते थे। दूसरी विद्या ऐसी थी कि-उस मंत्र से मंत्रित चूर्ण के योग से कोटी स्वर्ण उत्पन्न होता था। फिर दूसरा पत्ता पढ़ने लगे कि-एक देवीने सूरि को पढ़ने से निषेध कर उनके हाथ से पुस्तक छीन ली और वह स्तंभ भी ज्यों का त्यों वापस मील गया।

वहां से विहार कर सूरि कुमारपुर पहुंचे जहां के राजा देवपालने सूरि को नमन कर प्रार्थना की कि-हे गुरु! मेरे सीमाप्रान्त के राजा मेरे राज्य को लेने की कोशिष में है इसलिये कृपया मुझे मेरे राज्य की रक्षा करने का उपाय

बतलाइये। इस पर गुरुने सरसव मंत्रद्वारा उसके शत्रुसैन्य का विनाश किया और देवपाल राजाने जैनधर्म अंगीकार कर आचार्य का एकान्त भक्त बना। बाद में राजा के आग्रह से सूरि सदैव सुखासन में बैठ कर बंदीजनों से स्तुति कराते हुए राजसभा में जाने लगे। इस प्रकार के उनके प्रमाद की बात सुन कर उनके गुरु वृद्धवादी वेष बदल कर वहां आये। उन्होंने उस समय सिद्धसेनसूरि को राजसभा में जाने को तैयार देखा इस लिये उन्होनें उसके सुखासन के एक दंड को अपने कंधे पर उठा लिया। उस वृद्ध को अस्तव्यस्त चलते हुए देख कर सूरिने गर्विष्ट शब्दों में कहा कि–हे वृद्ध!

भूरिभारभराक्रान्ते, स्कन्धोऽयं तव बाधति ।
न तथा बाधते स्कन्धो, बाधति बाधते यथा ॥१॥

भावार्थः––क्या अधिक भार होने से तेरे कंधे में पीड़ा होती है? यह सुन कर वृद्ध वादी बोला कि–हे सूरि!

जैसा तुम्हारा 'बाधति' प्रयोग मुझे बाधा पहुंचाता है वैसा मेरा कन्धा मुझे बाधा नहीं पहुंचाता। इस से वृद्ध-वादीने ऐसा उत्तर दिया कि–हे सूरि! तुमने जो 'बाधति' ऐसे अशुद्ध शब्द का प्रयोग किया है उस से मुझे बड़ा दुःख होता है क्यों कि–"बाधते" बोलना चाहिये।

यह सुन कर सूरि को शंका हुई कि–अवश्य ये मेरा गुरु होना चाहिये क्यों कि–मेरे गुरु के अतिरिक्त अन्य कोई

भी मेरी ये त्रुटी नहीं निकाल सकता हैं। ऐसा विचार कर वह तुरन्त ही सुखासन से उत्तर कर गुरु के पैरों में गिर पड़ा। अपने प्रमाद की अलोचना कर राजा की आज्ञा ले अपने गुरु के साथ वहां से विहार किया।

कुछ समय पश्चात् वृद्धवादी स्वर्ग को सिधारे, फिर एक बार "मग्गदयाणं" इत्यादि प्राकृत भाषा के सूत्र बोलते हुए लोगोंने हँसी उडाई जिस से लज्जित होकर तथा बाल्य-काल से ही संस्कृत का अभ्यास होने से और कुछ कर्म के वश से गर्वित सिद्धसेन सूरिने संघ के समक्ष कहा कि–मैंने संघ की अनुमति से प्राकृत भाषा में रचे हुए सिद्धान्तों की संस्कृत भाषा में रचना की है। इस पर संघने कहा कि––

बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां, नृणां चारित्रकांक्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः, सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः॥

भावार्थः––चारित्र के अभिलाषी बाल, स्त्री, मन्द और मूर्ख मनुष्यों के उपकार के लिये तत्त्वज्ञोंने सिद्धान्त को प्राकृत भाषा में रचा है।

और बुद्धिमान के लिये तो चौदह ही पूर्व संस्कृत भाषा में ही रचे हुए हमने सुना है, अतः हे सूरि! तुमने श्री जिने-श्वर आदि की बड़ी भारी आशातना की है, जिसके लिए तुमको बड़ा भारी प्रायश्चित् करना होगा। इस पर सूरिने

संघ की आज्ञा से साधुवेष को छिपा कर, अवधुत का वेष धारण कर, संयम सहित मौन व्रत धारण कर मनुष्य नहीं पहचान सके इस प्रकार विचरने लगे। इस प्रकार सात वर्ष व्यतीत हो गये तब सूरि उज्जैन पहुंचे। वहां महाकालेश्वर महादेव के मन्दिर में ठहरे। महादेव को बिना प्रणाम तथा वन्दन कर उन पर पैर रख बैठ रहें जिस को देख कर उनके पुजारीने सूरि को पैर उठा नमन करने को कहा परन्तु वे मौनधारी सूरि कुछ भी न बोले और न उसके कहने पर ही ध्यान दिया। पुजारीने इस का हाल राजा से जाकर कहा। राजा आश्चर्यचकित हो वहां आया और अवधूत से कहा कि–तू महेश्वर को नमन क्यों नहीं करता? सूरिने उत्तर दिया कि–जिस प्रकार ज्वरार्दित मनुष्य मोदक नहीं पचा सकता इसी प्रकार ये देवता भी मेरी स्तुति को सहन नहीं कर सकता है। यह सुन कर राजाने कहा कि–हे जटिल! ऐसा असंभवित वचन क्यों बोलते हो? तुम स्तुति करो, हम भी देखते है कि–यह देव उसे किस प्रकार सहन नही कर सकते? फिर सूरि बोले—

स्वयंभुवं भूतसहस्रनेत्र-
मनेकमेकाक्षरभावलिंगम् ।
अव्यक्तमव्याहतविश्व-
लोकमनादिमध्यान्तमपुण्यपापम् ॥ १ ॥

भावार्थः—स्वयं ज्ञान को प्रगट करनेवाले, ज्ञानरूपी हजारों नेत्र के धारक, अनेक गुणों से युक्त, अद्वितीय और अविनाशी भावलिंग के धारक, अव्यक्त, समस्त जीवों को व्याघात नहीं करनेवाले, आदि, मध्य और अन्त रहित तथा पुन्य पाप रहित हे देव ! तुम को नमस्कार हो।

इत्यादि काव्योंद्वारा सूरिने श्री महावीरस्वामी की बत्तीस बत्तीसीद्वारा स्तुति की। फिर बड़े महिमावाले श्री पार्श्वनाथस्वामी की स्तुति की जिस में कल्याणमंदिर नामक स्तोत्र के गयारवां काव्य को बोलने पर वह शिवलिंग फट गया और उसके अन्दर से बीजली के सदृश कान्तिवान श्री अवन्ति पार्श्वनाथ का बिम्ब प्रगट हो गया जिस को देख कर विस्मित हुए राजा विक्रमने सूरि से पूछा कि—हे स्वामी! इस देव को किसने निर्माण किया है ? सूरिने उत्तर दिया कि—यह अवन्ति नगरी में ही भद्रश्रेष्ठी की भद्रा नामक स्त्री से उत्पन्न हुआ अवंतीसुकुमाल नामक पुत्र था। इसके युवा होने पर इसके मातापिताने इसका बत्तीस स्त्रियों के साथ विवाह किया। उन सर्व के साथ कामविलास करते हुए वह काल निर्गमन करता था कि—एक बार जब वह गवाक्ष में बैठा हुआ था तो उसने आर्य सुहस्तीसूरि के मुंह से नलिनीगुल्म विमान के वर्णनवाला अध्ययन सुना, जिस से उसको जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उसने सूरि को जाकर पूछा कि—हे स्वामी ! क्या तुम नलिनीगुल्म विमान से यहां आये

हो ? गुरुने उत्तर दिया कि–नहीं, परन्तु उसका स्वरूप हम श्रीसर्वज्ञ के कहे वचनों(शास्त्रों)द्वारा जानते हैं । उसने पूछा कि–हे गुरु ! उस विमान की प्राप्ति क्यों कर हो सकती है ? गुरुने उत्तर दिया कि–चारित्र से उसकी प्राप्ति हो सकती है । यह सुन कर उसने तुरन्त ही दीक्षा ग्रहण की परन्तु सदैव तपस्या करने में अशक्त होने से उसने गुरु की आज्ञा लेकर स्मशान में जाकर अनशन ग्रहण किया । उस समय उसकी पूर्व भव की अपमानित स्त्री जो शीयालणी होगई थी वह उसके बच्चे सहित वहां आई और पूर्व भव के वैर के कारण उस मुनि के शरीर को नोंच नोंच कर खाने लगी । तीन प्रहर में उसने समस्त शरीर को खाडाला अर्थात् चोथे प्रहर में वह मुनि शुभ ध्यान के योग से मृत्यु प्राप्त कर नलिनीगुल्म विमान में उत्पन्न हुए । प्रातःकाल वह सर्व वृत्तान्त सुन कर उसकी माता भद्राने वैराग्य से अवंती सुकुमाल की एक गर्भिणी स्त्री को छोड़ कर शेष इकत्तीस स्त्रियों सहित दीक्षा ग्रहण की । उचित समय पर गर्भिणी स्त्रीने पुत्र प्रसव किया, जिसने अपने पिता के मृत्युस्थान पर यह प्रासाद बना कर इस में यह पार्श्वनाथस्वामी का बिंब स्थापन किया था किन्तु अनुक्रम से कुछ समय पश्चात् ब्राह्मणोंने इस बिंब पर शिवलिंग स्थापन कर दिया था इसलिये हे राजा ! वह शिव हमारी की हुई स्तुति को क्यों कर सहन कर सकता है ? यह वृत्तान्त सुन कर राजा बहुत खुश हुआ

और उस बिंब की पूजा के लिये उसने सो गांव भेट किये। फिर विक्रम राजाने सूरि की प्रशंसा करते हुए कहा कि–हे गुरु! तुम्हारे सदृश महर्षि दुनियां में कैसे हो? कोई भाग्य से ही होगा क्यों कि—

अहयो बहवः सन्ति, भेकभक्षणदक्षिणाः।
एकः स एव शेषः स्यात्, धरित्रीधरणक्षमः॥१॥

भावार्थः––मेढ़ को भक्षण करने में प्रवीण सर्प तो दुनियां में बहुत से हैं परन्तु पृथ्वी को धारण करने में समर्थ शेषनाग तो एक ही है।

आदि गुरु की स्तुति कर राजा अपने स्थान को चला गया। इस प्रकार श्री जैनशासन की बहुत उन्नति होने से श्री संघ सूरि पर प्रसन्न हुआ और सूरि की आलोयणा के शेष पांच वर्षो की माफी देकर उनको वापिस सूरिपद पर स्थापन किये।

एक बार कुवादीरूपी अंधकार का नाश करने में सूर्य सदृश सूरि ओंकारपुर गये। वहां के श्रावकोंने कहा कि–हे स्वामी! यहां मिथ्यात्वियों का अधिक जोर होने से वे जिनचैत्य नहीं बनाने देते। इस पर सूरि चार श्लोक बना कर उनको अपने हाथ में लेकर राजा विक्रम के सभा में गये और द्वार-पाल के हाथ में एक श्लोक देकर राजा को भेट करने को कहा। उसने वह श्लोक राजा को जाकर दिया जो इस प्रकार था।

भिक्षुर्दिदृक्षुरायातस्तिष्ठति द्वारवारितः ।
हस्तन्यस्तचतुःश्लोकः किं वागच्छति गच्छति ॥१॥

भावार्थः--कोई भिक्षुक आप से मिलना चाहता है। द्वारपाल के रोक देने से वह द्वार खड़ा हुआ है। उसके हाथ में चार श्लोक हैं अतः उत्तर दीजिये की वह सभा में आवे या वापस लौट जावे ?

इस के उत्तर में राजाने एक श्लोक लिख कर भेजा कि-

दीयते दशलक्षाणि, शासनानि चतुर्दश ।
हस्तन्यस्तचतुःश्लोकः यद्वागच्छतु गच्छतु ॥१॥

भावार्थः—जिस के हाथ में चार श्लोक हों उसको दश लाख रुपये और चौदह ग्राम दिये जाते हैं अतः अब आना चाहते हो तो आइये और जाना चाहते हो तो जाइये।

उसे पढ़ कर सूरि राजसभा में गये और राजाद्वारा बतलाये हुए आसन पर उसके सन्मुख बैठ कर चारों दिशायों में घूम कर एक एक श्लोक पढ़ा। राजा प्रत्येक श्लोक के बोलने पर दिशा बदल बदल कर बैठा अर्थात् चारों श्लोकों के बोलने पर उसने चारों दिशाओं में मुंह किया। वह श्लोक इस प्रकार था।

अपूर्वेयं धनुर्विद्या, भवता शिक्षिता कुतः ।
मार्गणौघः समभ्येति, गुणो याति दिगन्तरम् ॥

भावार्थः—हे राजा! तुमने ऐसी अपूर्व धनुर्विद्या कहां से सिखी कि–जिस से मार्गण[1] का समूह समीप आता है और गुण दिगन्त में जाते हैं?

सरस्वती स्थिता वक्त्रे, लक्ष्मीः करसरोरुहे ।
कीर्तिः किं कुपिता राजन्! येन देशान्तरं गता ॥२॥

भावार्थः—हे राजा! सरस्वती तो तुम्हारे मुंह में वास करती है, लक्ष्मी हस्तकमल में विद्यमान है परन्तु कीर्ति तुम से कोपायमान हो कर देशान्तर में क्यों चली गई?

सर्वदा सर्वदोऽसीति, मिथ्या त्वं स्तूयसे बुधैः ।
नारयो लेभिरे पृष्ठं, न वक्षः परयोषितः ॥ ३ ॥

भावार्थः—हे राजा! पंडित गण जो आप की प्रशंसा करते है कि–आप सर्वदा सर्व का दान करते हों यह झूठी है, क्योंकि–तुम अपने शत्रु को पीठ नहीं दिखाते, और परस्त्री को वक्षःस्थल अर्पण नहीं करते, अतः तुम सर्व का दान करने-वाले नहीं कहला सकते ।

---

१ मार्गण अर्थात् बाण का समूह समीप आता है और गुण–धनुष की डोरी दिशान्तर में जाती है । यह विरोध हुआ । उसके परिहार में मार्गण–मागण का समूह पास में आता है और दयादिक गुण अर्थात् गुणों की कीर्ति दिगन्त में जाती है ।

कीर्तिस्ते जातजाड्येव, चतुरंभोधिमज्जनात् ।
आतपाय धरानाथ ! गता मार्तंडमंडलम् ॥४॥

भावार्थः—हे राजा ! तुम्हारी कीर्ति चारों समुद्रो में मग्न होने से मारे ठंडक के मानो गर्मी ग्रहण करने को सूर्य-मण्डल को चली गई है अर्थात् तुम्हारी समुद्र पर्यंत विस्तृत कीर्ति का स्वर्गलोक में भी गान होता है ।

इन चारों श्लोक को चारों दिशाओ में घूम कर सुनने से राजा अत्यन्त प्रसन्न हो सूरि से बोला कि-हे सूरि ! मैंने चारों दिशाओ में घूम कर अपना चारों दिशाओं का राज्य तुम को दे दिया है इस लिये तुम उसे ग्रहण करो । सूरिने उत्तर दिया कि-हे राजा ! हम निर्ग्रंथ को राज्य से क्या प्रयोजन ? इस पर राजाने पूछा कि-तो आप क्या चाहते है ? सूरिने उत्तर दिया कि-मेरी यह अभिलाषा है कि-ओंकारपुर में महादेव के प्रासाद से ऊंचा एक चार द्वार का प्रासाद बना कर उसमें श्री पार्श्वनाथ के बिंब की स्थापना कीजिये। राजाने इस को सहर्ष स्वीकार कर वैसा ही किया ।

फिर सूरि विचरते विचरते दक्षिण दिशा में गये, जहां प्रतिष्ठानपुर में अपने आयुष्य का अन्त समीप आया हुआ जानकर अनशन ग्रहण कर स्वर्ग सिधारे । सूरि के मृत्यु के समाचार चितोड़गढ़ भेजने के लिये वहां के संघने एक

होशियार ब्राह्मण को भेजा जो चितोड़गढ़ पहुंच कर ग्राम में घूमता हुआ अर्धश्लोक बोल बोल कर पुकारने लगा कि—

इदानीं वादिखद्योता, द्योतन्ते दक्षिणापथे ।

अब दक्षिण देश में वादीरूपी पतंगिये प्रकाश करते हैं। इन दो पदों को सुन कर सिद्धसेन दिवाकर (सूर्य) की बहिन सरस्वतीने सूरि के मरण का निश्चय कर कहा कि—

नूनमस्तंगतो वादि, सिद्धसेनो दिवाकरः ॥१॥

अहों ! इस ब्राह्मण के दो पदों से नक्की वादी सिद्धसेन दिवाकर (सूर्य) का अस्त होना सिद्ध होता है ।

फिर ब्राह्मणने सर्व वृत्तान्त सचमुच कह सुनाया जिस को सुन कर सर्व संघ अत्यन्त शोकातुर हुआ ।

जिस प्रकार सिंह की दहाड़नी (गर्जना) सुन कर बड़े बड़े हाथियों का मद झर पड़ता है उसी प्रकार सिद्धसेन दिवाकर के शब्द सुन कर न्यायशास्त्र में प्रविण वादियों का भी गर्व नष्ट हो जाता था ।

इत्युपदेशप्रासादे द्वितीयस्तंभे एकोनत्रिंशत्तमं व्याख्यानम् ॥ २९ ॥

व्याख्यान ३० वां

निमित्त शास्त्र के जानकार चोथे प्रभावक के विषय में

योऽष्टांगनिमित्तानि, शासनोन्नतिहेतवे ।
प्रोच्यते प्रयुज्यमानश्चतुर्थोऽयं प्रभावकः ॥१॥

भावार्थः—अष्टांग निमित्त का शासन की उन्नति के लिये उपयोग करनेवाले मुनि चोथे प्रभावक कहलाते हैं। इस प्रसंग पर भद्रबाहुस्वामी का दृष्टान्त प्रसिद्ध है—

भद्रबाहुस्वामी का दृष्टान्त

दक्षिण देश में प्रतिष्ठानपुर नगर के भद्रबाहु और वराहमिहर नामक दो पंडित भाइयोंने यशोभद्रसूरि के पास दीक्षा ग्रहण की। अनुक्रम से ज्येष्ठ भ्राता भद्रबाहु के चौदह पूर्व का अभ्यास करने से गुरुने उसे सूरिपदवी प्रदान की। उसने दशवैकालिक, आवश्यक आदि दस सूत्रों पर निर्युक्ति की। एक बार वराहमिहरने ज्ञान के गर्व से अपने ज्येष्ठ भ्राता को उसे सूरिपद देने को कहा इस पर उसने उत्तर दिया कि–हे भाई! तू विद्वान तो अवश्य है किन्तु तेरे अभिमानी होने से तू अभी सूरिपद के अयोग्य है। इस से वराहने क्रोधित हो कर साधु का वेष त्याग कर फिर से ब्राह्मण वेष को धारण कर लिया।

फिर लोगों में अपनी प्रशंसा के लिये वह ऐसी बात करने लगा कि–मैं बाल्यकाल से ही निरन्तर लग्न निकालने के विचार में रहता था। एक बार ग्राम के बाहर एक शिला पर मैंने सिंह लग्न निकाला। उस लग्न को ज्यों का त्यों छोड़ कर मैं अपने घर पर आकर सो रहा। उस समय मुझे स्मरण हुआ कि–मैं उस सिंह लग्न को मिटाना भूल गया हूँ। मैं उसको मिटाने के लिये शीघ्रतया वापस वहां गया तो क्या देखता हूँ कि उसके ऊपर एक सिंह आकर बैठा हुआ है। मैंने सिंह से किञ्चित् मात्र भी भय न पाकर उस क नीचे हाथ डाल कर उस लग्न को मिटा दिया। मेरी इस हिम्मत को देख कर उस लग्न के स्वामी सूर्यने प्रत्यक्ष हो कर मुझ से कहा कि--हे वत्स ! मैं तेरे पर अत्यन्त प्रसन्न हूँ अतः कोई वरदान मांग। मैंने उत्तर दिया कि–यदि आप मेरे से प्रसन्न हैं तो मुझे अपने विमान में बैठा कर सर्व ज्योतिश्चक्र को बतलाइये। इस पर उसने मुझे अपने विमान में बिठा कर सर्व ग्रह, नक्षत्र आदि की गति, मान आदि बतलाया। जिस को जान कर मैं कृतार्थ हुआ और अब लोगों के उपकार के लिये ही मैं इधरउधर घूमता रहा हूँ। लोगोंद्वारा यह सब वृत्तान्त सुनने पर राजाने उसे राज्य-पुरोहित बनाया।

---

१ ज्योतिष शास्त्र का मुहूर्त।

वराह गर्व के कारण श्वेताम्बरों पर द्वेष रख निरन्तर उसकी निन्दा किया करता था। इस रातदिन होनेवाली निन्दा से उकता कर कुछ श्रावक भक्तोंने भद्रबाहुस्वामी को देख कर उत्सवपूर्वक उस नगर में प्रवेश कराया जिन का आगमन सुन कर वराह को बड़ा भारी खेद हुआ। कुछ दिन पश्चात् राजा के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वराहने उसकी जन्मपत्रिका बना कर उसको सौ वर्ष की आयु होना कहा। अन्य पंडितोंने भी उसके शुभ योगों का वर्णन किया जिस को सुन कर जब राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ तो वराहने कहा कि–हे राजा! आप के घर पुत्रप्रसव का हर्ष प्रगट करने के लिये ग्राम के सर्व लोग आगये हैं किन्तु इर्षालु भद्रबाहु श्वेताम्बर नहीं आया है अतः उस हर्ष रहित भद्रबाहु को निर्वासित का दंड देना चाहिये। यह सुन कर राजाने अपने मंत्री को सूरि के पास भेज कर उसके नहीं आने का कारण पूछा इस पर सूरिने उत्तर दिया कि–दो वक्त आने जाने का कष्ट क्यों करना चाहिये क्यों कि–आज के सातवें दिन उस पुत्र की बिल्ली के मुंह से मृत्यु होगी। मंत्रीने यह बात राजा को जाकर निवेदित किया। उस पर राजाने पुत्र की रक्षा के लिये ग्राम की समस्त बिल्लियों को नगर के बहार निकाल देने की आज्ञा दी। सातवें दिन जब राजपुत्र को उसकी धाय दरवाजें में बैठी हुई दूध पिला रही थी कि–एकाएक उस दरवाजें की अर्गला जिस को

बिलाड़ी (बिल्ली) कहते हैं वह उस बालक के मस्तक पर आ गिरि और वह शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त हुआ। इस से राजाने वराह का तिरस्कार कर गुरु से पूछा कि–हे स्वामी! आपने उसका सात दिन का आयुष्य होना कयों कर जाना? अपितु आपने उसका बिल्ली के मुंह से मृत्यु होना कहा था किन्तु ऐसा नहीं हुआ इसका क्या कारण है? गुरुने उत्तर दिया कि–बिल्ली के मुंह से ही उसकी मृत्यु हुई हैं। यदि आप को यकीन न हो तो उस अर्गला के अग्रभाग को देखिये कि उस पर बिल्ली का चित्र बना हुआ है या नहीं? आयुष्य के विषय में हमने पूर्व की आम्नाय अनुसार लग्न लेकर शास्त्रानुसार निश्चय किया था जब कि वराहने पुत्रजन्म होने पश्चात् जब दासीने राज्यप्रासाद के ऊंचे भाग पर चढ़ कर घंटा बजाया था तब पुत्रजन्म होना मान कर लग्न लिया था इस से मेरे व उसके लग्न में अन्तर रहा है। यह सुन कर बराह को बड़ा खेद हुआ और उसने समस्त पुस्तकों को जल में फैंक देना चाहा, परन्तु सूरिने उसको ऐसा करने से निषेध कर कहा कि–हे भाई! ये सर्व शास्त्र सर्वज्ञप्रणीत होने से शुद्ध ही हैं।

अमंत्रमक्षरं नास्ति, नास्ति मूलमनौषधम्।
अनाथा पृथ्वी नास्ति, आम्नायाः खलु दुर्लभाः॥१॥

बिना मंत्र का कोई अक्षर नहीं होता, बिना औषध का

कोई मूल नहीं होता और न बिना स्वामी के कोई पृथ्वी का हिस्सा ही होता है परन्तु उनकी आम्नाय होना दुर्लभ है।

आदि बातें समझाबूझा कर सूरिने उसको शान्त किया। फिर एक दिन राजाने सूरि तथा ब्राह्मण को पूछा कि–आज क्या नई बात होगी यह बतलाइये? वराहने उत्तर दिया कि–आज सायंकाल को अमुक स्थान पर अकस्मात् जलवृष्टि होगी और निश्चित मंडल में एक बावन पल का मत्स्य आकाश से गिरेगा। फिर सूरिने उत्तर दिया कि–इनका कहना सत्य है परन्तु इक्कावन पल का मत्स्य गिरेगा और वह मंडल के बाहर पूर्व दिशा में गिरेगा। सायंकाल को गुरु के कथनानुसार ही हुआ अतः राजाने जैन धर्म को अंगीकार किया, वराहने खेदित हो तापसी दीक्षा ग्रहण की और अज्ञान कष्ट कर आयुष्य के क्षय होने पर मर कर व्यंतर हुआ। पूर्व के द्वेष के कारण उसने साधुओं को उपद्रव करने का विचार किया किन्तु ऐसा करने में अपने आप को अशक्त पाकर उस दुष्टने श्रावकों में रोग उत्पन्न करना आरम्भ किया। श्रावकोंद्वारा यह वृत्तान्त सुन कर गुरुने उपसर्ग मात्र को नाश करनेवाले उपसर्गहर स्तोत्र बना श्रावकों को सदैव उसका पठन करने को कहा जिससे वह व्यंतर श्रावकों को भी कोई कष्ट न पहुंचा सका। उस "उवसग्गहर" स्तोत्र का आज

मी पाठ करने से उपद्रव का नाश होजाता है। अनुक्रम से अनेकों भव्य जीवों को प्रतिबोध कर भद्रबाहुस्वामी स्वर्ग सिधारे।

भद्रबाहुस्वामीने शुभ निमित्त के बल से राजा को जैन धर्मी बनाया, उसी प्रकार अन्य को भी शासन की उन्नति के लिये प्रयास करना चाहिये।

इत्युपदेशप्रासादे द्वितीयस्तंभे त्रिंशत्तमं व्याख्यानम् ॥ ३० ॥

॥ इति द्वितीयः स्तंभः ॥

॥ तृतीयः स्तंभः ॥

व्याख्यान ३१ वां

पांचवा तपस्वी प्रभावक के विषय में

विविधाभिस्तपस्याभिर्जैनधर्मप्रकाशकः ।
विज्ञेयः पञ्चमो भव्यैः, स तपस्वी प्रभावकः ॥१॥

अर्थः—विविध प्रकार की तपस्याओंद्वारा जैनधर्म के प्रकाश करनेवाले तपस्वी को भव्य प्राणी पांचवा प्रभावक कहते हैं । इस प्रसंग पर निम्नलिखित काष्ठमुनि का दृष्टान्त प्रसिद्ध है—

काष्ठमुनि का दृष्टान्त

राजगृह नगरी में काष्ठ नामक एक श्रेष्ठी रहेता था जिस के वज्रा नामक एक कुलटा स्त्री थी । उस स्त्री से उत्पन्न हुआ देवप्रिय नामक उसके एक पुत्र था । वह पाठशाला में अभ्यास करता था । उस श्रेष्ठी के घर में पुत्र के सदृश

पाले हुए तोता, मेना और मुर्गा ये तीन पक्षी थे। उस श्रेष्ठीने एक ब्राह्मणपुत्र को घर की देखरेख के लिये रक्खा था। एक बार श्रेष्ठी अपने घर का भार उसकी स्त्री तथा मेना को सौंप कर लक्ष्मी उपार्जन निमित्त परदेश गया। पिछे से ब्राह्मणपुत्र के युवा होने पर वज्रा उसके साथ विषयसुख भोगने लगी। एक वार उन दोनों को विषयासक्त देखकर मैनाने तोता से कहा कि–पापकर्म में रत्त इन दोनों को हमे शिक्षा देनी चाहिये। इस पर तोताने कहा कि—

उपदेशो हि मूर्खाणां, प्रकोपाय न शान्तये।
पयःपानं भुजंगानां, केवलं विषवर्धनम् ॥ १ ॥

भावार्थः--मूर्ख को उपदेश देना उसको शान्ति पहुंचाने के स्थान में उस से झगड़ा मोल लेना है क्यों कि–सर्प को दुध पिलाना केवल उसके विष की वृद्धि करना मात्र है।

अतः हे प्रिया! यह समय उनको उपदेश करने योग्य नहीं है। इस पर मैनाने उत्तर दिया कि–यदि सत्य बोलने से कदाच मेरी अकाल मृत्यु भी होजाय तो मैं उसे श्रेष्ठ समझती हूँ परन्तु इस पिता तुल्य श्रेष्ठी के घर में ऐसा अकार्य होते देखना अश्रेष्ठ है कि–जिस को मैं नहीं देख सकती। इस प्रकार उन मैना को बोलते हुए सुन कर वज्राने

क्रोध में भर कर उस मैना को पकड़ अग्नि में डाल दी। यह देख तोता मौन धारण कर बैठा रहा।

एक बार वज्रा के यहां दो मुनि भिक्षार्थे गये उन में से वृद्ध मुनिने लघु मुनि से कहा कि–इस मुर्गी की मस्तक को उसकी कलंगी सहित जो कोई खायगा वह राजा होगा। ब्राह्मणपुत्र जो दिवार के सहारे खड़ा था उसने मुनि के शब्द सुनलिये इसलिये उसने वज्रा से कहा कि–इस मुर्गी का मस्तक इस की कलंगी सहित पका कर मुझे खिला। वज्राने पहेले तो इनकार किया किन्तु बाद में उसके अत्यन्त आग्रह से वैसा करना स्वीकार किया। वज्राने मुर्गे को मार कर जब पकाना आरम्भ किया उस समय ब्राह्मण-पुत्र तो स्नान के लिये बाहर गया हुआ था। और वज्रा के पुत्रने पाठशाला से आकर खाने को मांगा। वज्रा अपने झार का कहना भूल जाने से उस मुर्गी का मस्तक अपने लड़के को खाने को दे दिया। लड़का उसको खा कर वापस पाठशाला को लोट गया। थोड़ी देर बाद ब्राह्मण-पुत्र स्नान कर लौटा और खाने को बैठा। उस समय उसने बिना मस्तक के केवल मुर्गी के शरीर का मांस देख कर वज्रा से मस्तक के लिये पूछा इस पर उसने उत्तर दिया कि–मस्तक तो भूल से मैने मेरे पुत्र को खिला दिया है। इस पर ब्राह्मणपुत्रने क्रोध में भर कर कहा कि–यदि तू

तेरे पुत्र को मार कर उसके पेट से मुर्गी का मस्तक निकाल कर मुझे खाने को नहीं देगी तो हमारी प्रीति का भंग होगा और भविष्य में मैं तेरे साथ प्रीति नहीं रखूंगा। वज्राने वैसा ही करना स्वीकार किया (कामी पुरुष क्या क्या अकार्य नहीं कर बैठते ?) यह बात उस पुत्रकी धात्री (धाय) के कान तक पहुंची तो वह उस पुत्र की रक्षा के लिये उसे लेखशाला से लेकर सिधी ही ग्राम के बाहर निकली और अनुक्रम से चलती हुई पृष्ठचंपानगरी के उद्यान में पहुंची। उस समय उस नगरी के राजा पुत्र रहित मृत्यु को प्राप्त हो जाने से प्रधानोंने पंच दिव्य किये थे। उन पंच दिव्योंने उद्यान में सोते हुए उस पुत्र को प्रणाम किया अतः प्रधानोंने उसका राज्याभिषेक किया और वह उस धात्री सहित वह रहां कर राज्य का पालन करने लगा।

कुछ समय पश्चात् काष्ठ श्रेष्ठी जब परदेश से लोट कर घर आया तो उसने पुत्र, धात्री, मैना और मुर्गी इन चारों को न देख कर तोते से पूछा तो उसने उत्तर दिया कि–हे श्रेष्ठी ! मुझे पींजरे से बाहर निकालो कि–मैं निर्भय होकर तुम को सब वृत्तान्त सुना सकुं। श्रेष्ठीने जब उसको पींजरे से बाहर निकाला तो उसने वृक्ष पर बैठ कर वज्रा तथा ब्राह्मण के अयोग्य सम्बन्ध की सर्व बात कह सुनाई जिस को सुन कर श्रेष्ठी को वैराग्य हो गया और उसने तुरन्त ही दीक्षा ग्रहण की ।

राजा के भय से वज्रा भी ब्राह्मण के साथ वहां से चली गई किन्तु चलते चलते देवयोग से पुत्र के राज्याधीन नगर में ही आकर ठहरे। काष्ठ साधु भी विहारक्रम से घूमते घूमते उसी नगर में आ पहुंचे और अकस्मात् उसी वज्रा के घर भिक्षा मांगने गये। वज्राने अपने पति को देखकर विचार किया कि–यदि यह मुझे पहचान लेगा तो मेरी निन्दा करेगा अतः उसने भिक्षा के साथ भिक्षापात्र में गुप्त रूपसे अपना एक आभूषण मुनि को बहरा कर जोर जोर से पुकारने लगी कि–इस साधुने मेरा आभूषण छीन लिया है। राजसेवकोने यह हल्ला सुन, साधु को चोर समझ कर उसे पकड़ कर राजा के पास ले गये। उस समय राजा के समीप बैठी हुई धात्रीने उसको पहचान कर कहा कि–हे राजा! यह तेरा पिता है। यह सुन राजाने सर्व वृत्तान्त जान कर अपने पिता को मरवाने की इच्छुक माता को निर्वासित करा दिया और स्वयं श्रावक बन अपने पिता को अत्यन्त आग्रह से वहां रक्खा। राजा सदैव सर्व समृद्धि सहित गुरु को वन्दन करने निमित्त जाने लगा। जैनशासन को इस प्रकार उन्नत होते देख कर ब्राह्मण लोग द्वेष करने लगे। उन्होंने मुनि के छिद्र ढूंढ़ने का बहुत प्रयास किया किन्तु जब वे उस तपस्वी मुनि में एक भी दूषण न पा सके तो निराश होकर उन्होंने एक प्रपंच रचा। एक गर्भवती दासी को बहुत द्रव्य देकर उस साधु को कलंकित करने

को उसे तैयार किया। इस पर उसने काष्ठ साधु के उस नगर से विहार करने समय जब राजा आदि अनेकों स्त्री-पुरुष एकत्रित हुए, एक साध्वी का वेष बना मुनि के पास आकर सब के समक्ष जोर से पुकारने लगी के-हे पूज्य ! तुम्हारे द्वारे रक्खे हुए इस गर्भ को ज्यों का त्यों छोड़ कर तुम विहार करते हो सो अयुक्त है। ऐसा कह कर उसने मुनि के वस्त्र को पकड़ लिया। इस से आश्चर्यचकित हो मुनिने उत्तर दिया कि-हे मुग्धा ! तू व्यर्थ झूठ बोल कर हमे क्यों क्रोधित करती है ? उसने उत्तर दिया कि-मैं असत्य भाषण कभी नहीं करती। यह सुन कर शासन की उन्नति के लिये लब्धिवान् मुनिने सब के समक्ष कहा कि-यदि यह गर्भ मेरे द्वारा रक्खा हुआ होगा तो ज्यों का त्यों कायम रहेगा किन्तु यदि मेरे द्वारा रक्खा हुआ नहीं होगा तो यह तत्काल सब के समक्ष उसकी कुक्षि भेद कर निकल पड़ेगा। यह कहते ही वह गर्भ उसकी कुक्षि से निकल कर पृथ्वी पर आ गिरा, अतः भय से कांपती हुई दासीने कहा कि-हे पूज्य ! मैंने ब्राह्मणों के कहने से ऐसा अकृत्य किया है अतः मुझे क्षमा कीजिये। ऐसा कह कर वह मुनि के पैरों में लौटने लगी। ब्राह्मण लोग भी कंपायमान हो कर मुनि के पैरों में आ गिरे। फिर राजा आदि के अनुनय विनय से मुनि का क्रोध शान्त हुआ। सर्व लोगोंने मुनि के उपदेश से धर्मतत्त्व ग्रहण किया और ब्राह्मण

लोगोंने जैनधर्म की निन्दा करना त्याग दिया। मुनिने भी उत्कृष्ट तपद्वारा सर्व कर्मों का क्षय कर मोक्ष पद को प्राप्त किया।

हे भव्य जीवों! तुम को भी यदि मोक्षसुख की अभिलाषा हो तो इस काष्ठ मुनि के अद्भुत चरित्र को पढ़ कर विविध प्रकार की तपस्या कर जिनधर्म की उन्नति करना चाहिए।

इत्युपदेशप्रासादे तृतीयस्तंभे एकत्रिंशत्तमं व्याख्यानम् ॥ ३१ ॥

व्याख्यान ३२ वां

छट्ठा विद्याप्रभावक विषय में

मंत्रयन्त्रादिविद्याभिर्युक्तो विद्याप्रभावकः।
संघाद्यर्थे महाविद्यां, प्रयुञ्जयति नान्यथा ॥१॥

भावार्थः--जो मंत्र, यंत्र आदि विद्या से युक्त हों उन को विद्याप्रभावक कहते हैं। विद्याप्रभावक उनकी विद्या का उपयोग केवल संघ आदि कार्य के लिये ही करते हैं अन्यथा नहीं। इस पर निम्न लिखित श्रीहेमचन्द्राचार्य का दृष्टान्त प्रसिद्ध है—

श्री हेमचन्द्रसूरि की कथा

धंधुका ग्राम में मोढ़ ज्ञाति में उत्पन्न चांगदेवने देवचन्द्रसूरि के पास दीक्षा ग्रहण की। गुरुने अनुक्रम से उस-

का नाम हेमचन्द्रसूरि रक्खा। अनुक्रम से पाटण में कुमार-पाल राजा के राज्यकाल में वे वहां पहुंचे और उसके मंत्री उदयन से पूछा कि-क्या राजा कभी हमारा भी स्मरण करता है या नहीं? उदयनने उत्तर दिया कि-कभी नहीं। इस पर सूरिने कहा कि-हे मंत्री! आज तू राजा को एकान्त में जाकर कहना कि-आज वह नई रानी के महल में सोने को न जाय। मंत्रीने उसी प्रकार राजा को जाकर कहा। उसी रात्री को रानी के महल पर बीजली गिरी जिस से महल नष्ट हो गया और रानी भी मृत्यु को प्राप्त हुई। यह देख कर राजा को बड़ा भारी आश्चर्य हुआ और उसने मंत्री से पूछा कि-तुमको पहले से यह सूचना किसने दी? ऐसे उत्कृष्ट ज्ञानवाला कौन पुरुष है? इस पर मंत्रीने हेम-चन्द्रसूरि से यह बात सुनना जाहिर किया। यह सुन कर राजा शीघ्रतया हेमसूरि के पास पहुंचा और उसको प्रणाम कर कहने लगा कि-हे पूज्य! मैं आप का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ अतः मेरे राज्य को स्वयं ग्रहण करने की कृपा कीजिये। सूरिने कहा कि-हे राजा! हम को राज्य ग्रहण करना मना है, परन्तु—

कृतज्ञत्वेन राजेन्द्र!, चेत्प्रत्युपचिकीर्षसि।
आत्मनीने तदा जैनधर्मे धेहि निजं मनः ॥१॥

भावार्थः--हे राजेन्द्र ! यदि तू कृतज्ञ हो कर प्रत्युपकार करना चाहता हो तो आत्महितकारक जैनधर्म में अपना मन स्थिर कर अर्थात् जैनधर्म को स्वीकार कर।

राजाने 'तथास्तु' कह कर जैनधर्म को स्वीकार किया। एक बार राजा सूरि को साथ लेकर सोमेश्वर की यात्रा के लिये गया। वहां राजाने महादेव को वन्दना की इस पर ब्राह्मणोंने राजा से कहा कि-हे राजा! जैनावलम्बी तो अपने तीर्थंकर के अतिरिक्त अन्य देवता के सामने सिर नहीं झुकाते। यह सुन कर राजाने सूरि को शिवजी की वन्दना करने को कहा तो सूरि बोले कि—

भवबीजाङ्कुरजनना,
रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य ।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा,
हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥ १ ॥
यत्र तत्र समये यथा तथा,
योऽसि सोऽस्यभिधया यथा तथा ।
वीतदोषकलुषः स चेद्भवानेक,
एव भगवन्नमोऽस्तु ते ॥ २ ॥

भावार्थः--जिस के भवबीज के अंकुर को उत्पन्न

करनेवाले रागादिक का क्षय हो गया है, ऐसे ब्रह्मा, विष्णु, शिव या जिन जो हों उनको मेरा नमस्कार हो। जो उस समय जो उस प्रकार, जो उस नाम से जो है वह तू ही है। सर्व दोष और पाप रहित जो कोई हो तो तू एक ही है, अतः हे भगवान्! आप को नमस्कार हो!

इस स्तुति से आश्चर्यचकित हो राजाने सूरि से पूछा कि–हे पूज्य! मतमतान्तर का आग्रह त्याग कर मुझे सच्चा तत्त्व बतलाइये। सूरिने उत्तर दिया कि–हे राजा! शास्त्र के संवाद को जाने दिजीये। यह शिवजी ही तुझे जो तत्त्व बतलाये तो उसीको सत्य समझ स्वीकार करना। मध्य रात्रि को शिवजीने सूरि के ध्यान से प्रत्यक्ष हो राजा से कहा कि–हे राजा! श्री तीर्थंकरद्वारा प्ररूपित स्याद्वाद तत्त्व का आचरण करने मात्र से ही तुझे इच्छित फल की प्राप्ति हो सकेगी। यह सुन कर राजाने समकित धारण किया।

एक बार वायुस्थंभन क्रिया अर्थात् शरीर में चलनेवाली वायु को रोक कर शरीर को हलका बनाने की क्रिया में निपुण कोई देवबोधि नामक ब्राह्मण कमलनाल के दंड बना, कैल के पत्तों का आसन (शिबिका–पालकी) बना, कच्चे सुत के धागों से उन दंडों तथा पत्तों को बांध कर उस शिबिका को छोटे छोटे शिष्यों के कंधों पर रख स्वयं उस में बैठ कर राजसभा में गया। राजाने उसे देख आश्चर्य-

चकित हो उसे सन्मान दिया। पूजा के समय देवबोधिने राजा को जिनेश्वर की पूजा करते देख कर कहा कि–हे राजा! तुझे तेरे कुलधर्म का उल्लंघन करना अयुक्त है। कहा भी है कि—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवंतु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥२॥

भावार्थः—नीतिशास्त्र के निपुण पुरुष निन्दा करे चाहे स्तुति करे, लक्ष्मी प्राप्त हो या अपनी इच्छानुसार चली जावे, आज ही मृत्यु हो या युगान्तर के बाद फिर भी धीर पुरुषो बिना किसी की परवाह किये, न्याय पथ से पग भर भी विचलित नहीं होते। अतः हे राजा! तुझे कुलपरंपरागत शिवधर्म का त्याग करना अयोग्य है। यह सुन कर राजाने कहा कि–सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत एक जैनधर्म ही सत्य है। देवबोधिने उत्तर दिया कि–हे राजा! यदि तुझे शिवधर्म की प्रतीति न होती हो तो महेश्वरादिक तीनों देवताओं की पूजा करते हुए तेरे पूर्वजों को साक्षात् यहां आया देख कर तेरे मुंह से ही उनको पूछा कर निश्चय करलें ऐसा कह कर उसने अपनी विद्याद्वारा उन देवताओं तथा कुमारपाल

के पूर्वजों को प्रत्यक्ष किये। उन देवताओं और पूर्वजोंने कहा कि–हे वत्स ! तू देवबोधि की आज्ञानुसार वर्तन कर। यह सुन कर जब राजा विस्मय के मारे जड़ बन गया तो उदयन मंत्रीने कहा कि–हे राजा ! हेमसूरि भी अनेक विद्या में कुशल है। इसलिये राजा प्रातःकाल देवबोधि आदि को लेकर सूरि के पास वन्दना करने को गये। उस समय हेमचन्द्रसूरि शरीरस्थ पांचों (प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान) वायु को रोक कर आसन से कुछ ऊपर उठ कर व्याख्यान देने लगे। उस समय पूर्व से संकेत पाये हुए शिष्योंने सूरि के नीचे से आसन हटा लिया। अतः सूरि जमीन से बहुत ऊँचे उठ व्याख्यान देने लगा। यह देख कर राजा आदि को बड़ा आश्चर्य हुआ। फिर सूरि महाराजने "हमारे देवों को देख" ऐसा कह कर कुमारपाल राजा को एक मकान में ले गये। वहां समवसरण में स्थित चोवीश तीर्थंकरों की पूजा करते हुए उसके इकवीश पीढ़ी के पूर्वजों को उसे बतलाया। वे (तीर्थंकर) बोले कि–दयाधर्म का पालन करने से तुम विवेकी हो, ये हेमसूरि तेरे गुरु हैं अतः उनकी आज्ञा का पालन करना, तथा उसके पूर्वजों ने भी कहा कि–हे वत्स ! तू ने जैनधर्म को स्वीकार किया इसलिये हमे सुगति के भाजन हो कर ऐसी महाऋद्धि को प्राप्त किया है। ऐसा कह कर वे सब अन्तर्ध्यान हो गये। यह देख कर किंकर्तव्यविमूढ़ हो राजाने सूरि से पूछा

कि–हे महाराज ! देवबोधिने बतलाया उसे सत्य मानु या इसको ? इस विषय में मेरा मन डावाडोल है। सूरिने उत्तर दिया कि–हे राजा ! प्रथम देवबोधिने जो तुझे बतलाया तथा मैंने जो तुझे अभी बतलाया यह सब इन्द्रजाल है। आकाशपुष्प के सदृश असत्य ही है; परन्तु तत्त्व तो तुझे सोमेश्वर महादेवने बतलाया वह ही है। यह सुन कर राजा मिथ्यात्व का त्याग कर अनुक्रम से बारह व्रतधारी हुआ।

भविष्य में आश्विन मास के आने पर नवरात्रि के दिन देवी के पूजारियोंने आकर राजा से कहा कि–हे राजा ! कुलदेवी के सामने बलिदान के लिये सातम के दिन सात सो, आठम के दिन आठ सो और नवमी के दिन नो सो पाड़ो के वध करने का तेरा वंशपरंपरागत नियम है अतः यदि ऐसा नहीं करेगा तो देवी विघ्न करेगी। यह सुन कर राजाने यह सब हाल सूरि को जाकर कहा जिसने उत्तर दिया कि–हे राजा ! जिस दिन जितने प्राणी मारे जाते हैं उस दिन उतने ही प्राणी उस देवी के सामने धर कर कहेना कि–हे देवी ! इन शरण रहित प्राणियों को तुम्हारे सामने रखता हूँ अतः तुझे जेसा उचित प्रतीत हो वैसा करना। राजाने सूरि के कथनानुसार ही किया अतः देवीने एक भी प्राणी का भक्षण नहीं किया। परन्तु नवमी की रात्री को हाथ में त्रिशूल धारण करनेवाली कंटेश्वरी देवीने प्रत्यक्ष होकर

राजा से कहा कि–हे राजा ! तूने परंपरागत रीति को क्यों छोड़ दिया ? राजाने उत्तर दिया कि–हे देवी ! मैं जीतेजी तो एक कोड़ी मात्र का भी वध नहीं करुंगा । यह सुन कर देवी क्रोधित हो राजा के मस्तक त्रिशूल मार अदृश्य हो गई । उस देवी के प्रहार से राजा के शरीर में तत्काल कुष्ट व्याधि उत्पन्न हो उसकी असह्य वेदना होने लगी, इस से राजाने अग्नि में प्रवेश करने का विचार किया । उदायन मंत्रीने इसका निषेध कर वह सब वृत्तान्त सूरि को जाकर कहा । सूरिने जल मंत्र कर उदायन को दिया जिस को राजा पर छिड़कने से राजा का देह स्वर्ण की कान्ति सदृश सुन्दर हो गया । प्रातःकाल राजा गुरु को वन्दना करने को गया तो उपाश्रय में प्रवेश करते हुए राजाने एक स्त्री का करुणा-जनक रुदन सुना इसलिये वह उसके पास गया तो क्या देखता है कि–रात्री को प्रत्यक्ष होनेवाली देवी स्वयं वहां रुदन कर रही है । राजाने गुरु से जाकर कहा कि–हे पूज्य ! स्थंभ में बंधी हुई इस स्त्री को छोड़ दीजिये । सूरिने उत्तर दिया कि–हे राजा ! इस से जो कुछ मांगना हो वह मांग लें । इस पर राजाने अपने अठारह देशों में जीवरक्षा के लिये कोतवाल(रक्षक)का कार्य करने को कहा । देवीने ऐसा करना स्वीकार किया अतः उसको बंधनमुक्त किया गया और वह राजभवन के द्वार पर जाकर रक्षक का कार्य करने लगी ।

एक बार सूरिने राजसभा में स्थूलभद्रसूरि की प्रशंसा की कि-

वेश्या रागवती सदा तदनुगा षड्भी रसैर्भोजनं,
सौधं धाम मनोहरं वपुरहो नव्यो वयःसंगमः ।
कालोऽयं जगदाविलस्तदपि यः कामं जिगाया-
दरात्,
तं वंदे युवतिप्रबोधकुशलं श्रीस्थूलिभद्रं मुनिम् ॥

भावार्थः—वेश्या जिसपर राग रखनेवाली और निरन्तर उसीका अनुसरण करनेवाली थी, सदैव षड्रस भोजन खाने को मिलता था, कामशास्त्र के चित्रों से चित्रित महल में निवास था, मनोहर शरीर, युवावस्था और वर्षाऋतु थी फिर भी जिसने कामदेव पर आदर सहित विजय प्राप्त की ऐसे स्त्रीजन को प्रतिबोध करने में कुशल श्री स्थूलभद्र मुनि को मैं वन्दन करता हूँ ।

इस को सुन कर राजा के समीपस्थ द्वेषी ब्राह्मण बोले कि—

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो ये चाम्बुपत्राशिन-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः
आहारं सघृतं पयोदधियुतं भुञ्जन्ति ये मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहः कथमहो दम्भः समालोक्य-
ताम् ॥ १ ॥

भावार्थः—विश्वामित्र और पराशर आदि ऋषि भी जो कि–केवल जल और पत्तों मात्र का आहार करते थे वे यदि स्त्री के सुन्दर मुखकमल को देख कर मोहित हो गये तो जो लोग घृत, दूध और दही संयुक्त आहार करते हैं वे इन्द्रियों का निग्रह किस प्रकार कर सकते है ? अहों ! देखों ! कितना भारी दंभ है ? अर्थात् जैनी कितना दंभ करते हैं !

यह सुन कर सूरिने उत्तर दिया कि–हे राजा ! शील का पालन करने में आहार या नीहार कारणभूत नहीं परन्तु मन की वृत्ति ही कारण है; क्यों कि—

सिंहो बली द्विरदसूकरमांसभोजी,
संवत्सरेण रतिमेति किलैकवारम् ।
पारापतः खराशिलाकणमात्रभोजी,
कामी भवत्यनुदिनं ननु कोऽत्र हेतुः ॥१॥

भावार्थः--बलवान सिंह, हाथी और सूकर का मांस खाता है फिर भी वह एक वर्ष में एक ही बार कामक्रीड़ा करता है और मुर्गे मरडिया कंकर और जुआर के दाने खाते हैं फिर भी वे सदैव कामी ही रहते हैं । बतलाइये कि–उसका क्या कारण है ?

यह सुन कर कुवादियों का मुंह श्याम हो गया । इस

प्रकार के अनेकों अन्य प्रबन्ध कुमारपाल चरित्र में पढ़िये। फिर सूरि भी अनुक्रम से अनेकों भव्य जीवों के प्रतिबोध कर तथा जैनधर्म की प्रभावना कर स्वर्ग सिधारे।

विद्यारूप कान्तिवाले, जैनधर्मरूप जगत में सूर्य समान, अज्ञानरूप अन्धकार का नाश करनेवाले और चौलुक्य वंश में सिंह समान कुमारपाल राजा को प्रतिबोध करनेवाले श्री हेमचन्द्र गुरु को मैं नमन करता हूँ।

इत्युपदेशप्रासादे तृतीयस्तंभे द्वात्रिंशत्तमं व्याख्यानम् ॥ ३२ ॥

व्याख्यान ३३ वां

सातवां सिद्धप्रभावक विषय में

अञ्जनचूर्णलेपादिसिद्धियोगैः समन्वितः।
जिनेन्द्रशासने ह्यत्र, सप्तमः स्यात्प्रभावकः ॥१॥

भावार्थः--अंजन, चूर्ण और लेप आदि सिद्धि किये हुए योगों से युक्त हो उनको जिनशासन में सातवें प्रभावक कहते हैं। अर्थात् शासन की उन्नति के लिये जो अंजनादिक का उपयोग करें उन्हें सिद्ध प्रभावक कहते हैं। इस श्लोक का भावार्थ श्री पादलिप्तसूरि के दृष्टान्तद्वारा दृढ़ किया गया है।

पादलिप्तसूरि का दृष्टान्त

अयोध्या नगरी में नामहस्ती नामक सूरि के पास पड़िमा नामक श्राविका के पुत्रने आठ वर्ष की वय में दीक्षा ग्रहण की। एक बार वह क्षुल्लक (बालक) साधु श्रावक के घर से कांजी (चावल का पानी) बेहर लाकर गुरु के पास आकर खड़ा हुआ। उसको गुरु महाराजने पूछा कि– हे वत्स ! क्या तू आलोचना जानता है ? (यहां गुरु के प्रश्न करने का यह हेतु था कि–सर्व प्रकार की कांजी अचित्त नहीं होती, अतः यह कांजी सचित्त अचित्त का विचार कर लाया है या क्यों कर ?) यह सुन कर क्षुल्लकने कहा कि– हे पूज्य गुरु ! मैं आलोचना जानता हूँ जिस में (आलोचना शब्द में) 'आ' यह उपसर्ग है और इसका अर्थ– इषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाऽभिविधौ च यः। अर्थात् थोड़ा चारों ओर, मर्यादा, अभिविधि आदि होता है तथा यह क्रिया के साथ भी आता है और लोचना अर्थात् देखना अर्थात् चारों ओर देखना इस प्रकार आलोचना का अर्थ मैं जानता हूँ और भी।

अंबंतंबत्थीए, अपुप्फियं पुप्फदंतपंतीए ।
नवसालिकंजियं नवड्ढ हूइ कुंडएण मह दिन्नं ॥१॥×

× इस गाथा का अर्थ बराबर नहीं है।

भावार्थः—लाल वर्ण के वस्त्रवाली आपुष्पित (ऋतु में नहीं आइ हुई) और पुष्प की कली सदृश दांतवाली नवोढ़ा स्त्रीने यह नवीन उर्मिका के भात की कांजी मुझे बहराई है। इस प्रकार श्रृंगार के वचन सुन कर गुरुने क्रोधित होकर कहा कि-अरे पलित्त (प्रलिप्त) अर्थात् प्रकर्षद्वारा (पाप से) लिप्त ! तू यह क्या बोलता है ? इस पर उस क्षुल्लक साधुने गुरु के चरणकमलों में नमन कर कहा कि—

गुरुचरणे नमिऊं, विन्नवइ देह पसिऊण ।
आहियं एगं मत्तं, जेणं हवेमि पालित्तं ॥१॥

भावार्थः—हे पूज्य ! मेरे पर कृपा कर पलित्त शब्द में एक "आ" की मात्रा और लगाईए कि-जिस से मैं पालित्त (पादलिप्त) बनूं। अर्थात् पाद अर्थात् पैर, लिप्त अर्थात् लिया हुआ, अर्थात् पैर के लेप करने से आकाश में उड़ सकूं ऐसी विद्यावाला बनूं। यह सुन कर उसकी बुद्धि से प्रसन्न होकर गुरुने उसको पादलेपनी विद्या प्रदान की और अनुक्रम से उसको योग्य समझ सूरिपदवी प्रदान कर उसका नाम पादलिप्तसूरि रक्खा ।

पादलिप्तसूरि विहार करते हुए एक बार खेटकपुर में पहुंचे, जहां पर उसे जीवाजीवोत्पत्तिप्राभृत, निमित्तप्राभृत, विद्याप्राभृत और सिद्धिप्राभृत ये चार शास्त्र मीले। सूरिने

सदैव पादलेप विद्याद्वारा पांचो तीर्थों में जा वहां के जिन-बिंबों को वन्दना कर तत्पश्चात् भोजन करना आरम्भ किया।

एक बार सूरि ढंकपुर गये वहां अनेकों लोगों को वश में करनेवाला नागार्जुन नामक योगी सूरि के पास जा उन से विद्या सिखने की इच्छा से श्रावक बन निरन्तर उनके चरणों की सेवा करने लगा। निरन्तर गुरु के चरणकमलों की सेवा करने से औषधियों की गन्ध से एक सो सात औषधियों को उसने पहचान लिया। फिर उन सब औषधियों को जल में मिलाकर उनका लेप कर आकाश में उड़ना चाहा परन्तु थोडी दूर उड़ कर वह इधर उधर वापस गिरने लगा इस से उसके शरीर पर कई स्थान पर निशान बन गये। गुरुने उसको देख कर उस से पूछा कि–हे भद्र! तेरे शरीर पर यह निशान किस के हैं? इस पर योगीने सब हाल सचसच गुरु से निवेदन किया। उसकी सत्यता तथा बुद्धि से रंजित हो गुरुने उसको शुद्ध (सत्य) श्रावक बनाया। विहार समय गुरुने उससे कहा कि–हे श्रावक! यदि तुझे आकाश में उड़ने की इच्छा हो तो एक सो सात औषधियों को साठी चोखा के ओसामण में एकत्र कर उसका लेप करना कि–जिस से स्खलना न हो। इस प्रकार गुरुवचन से अपना मनोरथ पूर्ण कर वह अपने स्थान को लौट गया।

एक बार उस नागार्जुनने बहुत सा द्रव्य खर्च कर स्वर्णसिद्धि प्राप्त की और गुरु के उपकार का प्रत्युपकार

करने के लिये उस रस की एक कुंपी भर अपने शिष्य के साथ गुरु को भेट करने को भेजा। गुरुने उसको देख कर उत्तर दिया कि-हमारे लिये तृण और स्वर्ण एक समान है अतः हमें इस अनर्थकारक रस की आवश्यकता नही हैं। ऐसा कह कर गुरुने भस्म मंगवा उस रस को उस में डाल दिया और उस कुंपी से अपना मूत्र भर वापस कर दिया जिस को शिष्योंने वापस नागार्जुन के पास ले जाकर सर्व वृत्तान्त कहा। जिसे सुन कर क्रोध से आग बबूला हो योगीने विचार किया कि-अहो ! वह साधु कैसा अविवेकी है ? ऐसा विचार कर उसने उस कुंपी को पत्थर पर फैंक दिया परन्तु ज्योंहि वह कुंपी पत्थर से टकराई की वह शिला क्षण भर में स्वर्णमय हो गई। उसको देख आश्चर्यचकित हो योगीने विचार किया कि अहो !

मया क्लेशसहस्रेण, रससिद्धि विधीयते ।
अमीषां तु स्वभावेन, स्ववपुस्थैव विद्यते ॥१॥

भावार्थः--"मैंने जिस सिद्धि को हजारों क्लेश सहन कर उत्पन्न की है वह सिद्धि गुरु के शरीर में तो स्वभाव से ही विद्यमान है।" अतः नागार्जुन कल्पवृक्ष तुल्य गुरु की वन्दना और स्तुतिद्वारा चिरकाल पर्यन्त सेवा करने लगा।

इस समय चार ऋषियोंने लाख लाख श्लोकों के ग्रन्थ बना कर राजा शालिवाहन की सभा में आकर कहा कि-

हे राजा ! हमारे ग्रन्थ को सुनियें। राजाने इतने बृहद् ग्रन्थ को सुनने का अवकाश नहीं होना कहा। इस पर उन्होंने पचास पचास हजार श्लोकें के ग्रन्थ बनाये किन्तु फिर भी राजाने बार बार इतने बृहद् ग्रन्थ के सुनने में आनाकानी की तो अन्त में वे एक एक श्लोक बना कर लाये। इस पर राजाने अनुमति प्रदान की तो सर्व प्रथम आत्रेय नामक ऋषिने चिकित्सा (वैदक) शास्त्र के रहस्यरूप एक पद का उच्चारण किया कि–"जीर्णे भोजन मात्रेयः" अर्थात् एक बार का खाया हुआ भोजन पचजाने पर दूसरी बार भोजन करना चाहिये। तत्पश्चात् कपिलने कहा कि–"कपिलः प्राणिनां दया" प्राणी मात्र पर दया करना ही सच्चा धर्म हैं। इस पर कपिलने धर्मशास्त्र का सार बतलाया। तत्पश्चात् बृहस्पतिने नीतिशास्त्र का सार बतलाया कि–"बृहस्पतिरविश्वासः" अर्थात् बृहस्पति का कहना है कि–किसी का विश्वास नहीं करना चाहिये। चोथे पंचालने कामशास्त्र का रहस्य बतलाया कि–"पाञ्चालः स्त्रीषु मार्दवम्" अर्थात् पांचाल का कहना है कि–स्त्रियों के प्रति मृदुता (कोमलता) रखना चाहिये। इस प्रकार चार लाख श्लोकों का रहस्य केवल मात्र एक श्लोक में ही बतला दिया। जिस को सुन कर राजाने उनका बड़ा आदरसन्मान कर बारंबार उनकी प्रशंसा की। उस समय राजरानी भोगवतीने कहा कि—

ता गड़यंति वाइंदगयघड़ा मयभरेण उप्पिच्छा ।
जावन्न पायलित्तयं, पंचवयणनाऊ समुल्लसई ॥१॥

भावार्थः—जब तक पादलिप्ताचार्यरूपी सिंह की पूछ उल्लसित नही हुई (सिंह की गर्जना नही हुई) तब तक ही मद के समूह से गर्विष्ट दुःप्रेक्ष्य बड़े बड़े वादीरूपी हस्तियों का समूह गर्जन करता है ।

यह सुन कर राजाने अपने प्रधान को पादलिप्ताचार्य को बुलाने भेजा । वे सूरि को लेकर आरहे थे कि–सर्व विद्वानोंने एकत्रित हो कर एक घृत से भरा हुआ थाल सूरि के सामने भेजा । सूरिने उस में एक सूई डाल कर वापस लौटा दिया । इस पर राजाने पंडितो से उसका भाव बतलाने को कहा तो उन्होंने उत्तर दिया कि–हे राजा ! इस में हमारा यह अभिप्राय था कि–यह नगर घृत से परिपूर्ण थाल के सदृश विद्वानों से परिपूर्ण है अतः इस में तुम्हारा प्रवेश क्यों कर हो सकेगा ? इस के उत्तर में सूरिने उस घृत से परिपूर्ण थाल में सूई डाल कर वापिस लौटा कर अपना अभिप्राय जाहिर किया कि–जिस प्रकार घृत से परिपूर्ण थाल में सूक्ष्मता के कारण इस सूई का प्रवेश हो गया है उसी प्रकार मैं भी इस नगर में प्रवेश कर सकूंगा । यह सुन कर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ । वह सर्व पंडितो सहित सूरि का आगमन करने को गया और अत्यन्त समारोह के साथ

उसका नगर में प्रवेश कराया। गुरुने निर्वाणकलिका, प्रश्न-प्रकाश आदि शास्त्र बना कर राजा को सुनाये जिस से राजाने प्रसन्न हो जैनधर्म अंगीकार किया तथा सर्व ब्राह्मण गण भी अपने अपने गर्व को छोड़ कर श्रीगुरु के चरण-कमलों में भ्रमररूप हो कर रहें। सूरि भी जैनशासन की प्रभावना कर श्रीशत्रुंजयगिरि पर जा कर बत्तीस दिवस का अनशन कर स्वर्ग सिधारे।

इस प्रकार श्रीपादलिप्तसूरि का अमृत समान कथा का श्रोत्ररूप पात्रद्वारा पान कर (सुन कर) शक्तिशाली पुरुषों को अंजनादि गुणोंद्वारा शासन की महिमा बढ़ानी चाहिये।

यह दृष्टान्त दर्शनसप्ततिका ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक वर्णित है।

इत्युपदेशप्रासादे तृतीयस्तंभे त्रयस्त्रिंशत्तमं व्याख्यानम् ॥ ३३ ॥

व्याख्यान ३४ वां

आठवां कविप्रभावक विषयमें

अत्यद्भुतकवित्वस्य, कृतौ शक्तिर्भवेद्यदि ।
सम्यक्त्वे स कविर्नाम, प्रोक्तोऽष्टमः प्रभावकः ॥

भावार्थः—अति अद्भुत कविता करने की शक्तिवाले

को समकित के विषय में कवि नामक आठवां प्रभावक कहा जाता है ।

कवि दो प्रकार के हैं। एक सत्य अर्थ का वर्णन करनेवाले और असत्य अर्थ का वर्णन करनेवाले। उन में से जिन मत के रहस्य को जान कर सद्भुत अर्थवाले शास्त्र के रचयिता को सत्यार्थ का वर्णन करनेवाले जानना चाहिये। इस प्रकार के सत्यार्थवाले श्रीहेमचन्द्रसूरिने त्रेसठ शलाका-पुरुष चरित्र, और शब्दानुशासन व्याकरण आदि तीन करोड़ ग्रन्थ बनाये हैं। श्रीउमास्वाति वाचकने तत्त्वार्थ आदि पांच सो ग्रन्थ, वादी देवसूरिने चोरासी हजार श्लोकवाला स्याद्वादरत्नाकर ग्रन्थ तथा श्रीहरिभद्रसूरिने चौदह सो चवालीस ग्रन्थ बनाये हैं। श्री हरिभद्रसूरि की कथा निम्न लिखित प्रकार से है।

श्रीहरिभद्रसूरि की कथा

चित्रकूट (चितोड़गढ) में हरिभद्र नामक एक ब्राह्मण रहता था। वह चौदह विद्या में निपुण और सर्व शास्त्रों का ज्ञाता था, अतः मानों अपना पेट न फूट जाय इस भय से अपने पेट पर लोहे का पट्टा बांधे रहता था और यह प्रतिज्ञा कर इधर उधर भ्रमण किया करता था कि–यदि मैं किसी का

---

१ ग्रन्थ शब्द श्लोकवाचक है ऐसा कई पुरुष कहते हैं, अन्यत्र साढ़े तीन करोड़ भी लिखे गये हैं।

बोला हुआ न समझूंगा तो उसका शिष्य हो कर उसकी सेवा करुंगा। एक समय वह जब नगर में घूम रहा था तो उसने याकिनी नामक साध्वी के मुंह से यह गाथा सुनी कि–

चक्किदुगं हरिपणगं, पणगं चक्कीण केसवो चक्की ।
केसव चक्की केसव, दुचक्की केसि अ चक्की अ ॥१॥

भावार्थः—प्रथम दो चक्रवर्ती, बाद में पांच वासुदेव, बाद में पांच चक्री, बाद में एक केशव (वासुदेव), बाद में एक चक्री, बाद में एक केशव (वासुदेव), बाद में एक चक्री, बाद में एक केशव, बाद में दो चक्री, बाद में एक केशव और तत्पश्चात् एक चक्री–इस प्रकार बारह चक्री और नो वासुदेव इस चोवीशी में हुए हैं।

यह गाथा सुन कर इस का अर्थ नहीं समझने से उस हरिभद्रने साध्वी के पास जा कर कहा कि–"हे माता! ये क्या बकबक करती हो?" साध्वीने उत्तर दिया कि–"जो नया होता है वह बकबक करता है परन्तु यह तो पुराना है।" यह सुन कर हरिभद्रने विचार किया कि–अहो! इस साध्वीने तो मुझे उत्तर देने मात्र से परास्त कर दिया है। फिर उसने साध्वी से कहा कि–"हे माता! मुझे इस गाथा का अर्थ बतलाइये।" उसने उत्तर दिया कि–"मेरे गुरु तुझे इस का अर्थ बतलावेंगे।" उसने पूछा कि–"वे गुरु कहां पर

है ?" तब वह साध्वी उसको अपने गुरु के समीप ले गई। वहां वे पहले देरासर में हो कर गये। उस में हरिभद्रने श्री-वीतराग देव की मूर्ति को देख कर स्तुति की कि—

वपुरेव तवाचष्टे, भगवन्! वीतरागताम् ।
न हि कोटरसंस्थेऽग्नौ, तरुर्भवति शाडवलम् ॥१॥

भावार्थः—हे भगवन् ! तुम्हारे शरीर (मूर्ति) से ही तुम्हारा वीतरागपन जलकता है क्यों कि–यदि वृक्ष की कोटर में अग्नि मोजूद हो तो उस पर नवपल्लव दिखाई भी नहीं दे सकते।

इस प्रकार स्तुति कर वे गुरु के पास पहुंचे। गुरु को नमन कर उसने उस गाथा का अर्थ पूछा। गुरुने उसको उसका अर्थ बतलाया इस पर उसने अपनी पूर्वकृत प्रतिज्ञा-नुसार उनको गुरु बना दीक्षा ग्रहण की। जैन शास्त्रों का अभ्यास कर समकित को दृढ़ किया। अनुक्रम से गुरुने उसको योग्य समझ आचार्यपद प्रदान किया। उस हरि-भद्रसूरिने आवश्यकनिर्युक्ति की बड़ी वृत्ति (टीका) कर उस में "चक्किदुगं" इस गाथा का उत्तम प्रकार से विवरण (स्पष्टीकरण) किया।

एक बार हरिभद्रसूरि के हंस और परमहंस नामक दो शिष्योंने, जो जैन दर्शन के अच्छे ज्ञाता थे, सूरि को कहा

कि–हे पूज्य ! हम बौद्ध धर्म के शास्त्र का रहस्य जान कर उनका पराजय करना चाहते है अतः हम को उनके पास ज्ञानोपार्जन के लिये जाने की आज्ञा प्रदान कीजिये। सूरिने वेषान्तर कर जाने की आज्ञा प्रदान की अतः इस लिये वे दोनों वेष परिवर्तन कर बौद्धशाला में जाकर बौद्धशास्त्रों के पारंगत बनें। एक बार बौद्ध गुरु को उनकी क्रिया प्रवृत्ति देख कर यह शंका उत्पन्न हुई कि–ये श्वेताम्बरी जान पड़ते हैं अतः इसकी पुष्टि के लिये जब सब छात्र विद्याभ्यास कर रहे थे उसने जीने (Staircase) के पगथीये पर खड़िया (Chalk) द्वारा अर्हंत का चित्र बनाय दिया। लौटते समय सर्व छात्र उस बिंब पर पैर रख रख कर उतरे परन्तु उन दोनों छात्रोंने तो प्रथम उस बिंब के कंठ पर तीन रेखा बनाई व तत्पश्चात् उस पर पैर रख कर उतरे। इसके पश्चात् उन दोनों को भय उत्पन्न हुआ कि–अवश्य इसने हमारा श्वेताम्बरी होना जान लिया है अतः अब हमारा यहां अधिक रहना अनुचित है। ऐसा विचार कर वे दोनों अपनी अपनी पुस्तकें उठा कर वहां से चल दिये। उनके भग जाने की खबर सुन कर गुरुआज्ञा से वहां के बौद्ध राजाने उनको पकड़ने के लिये उनके पीछे अपनी सैना को दौडाया। हंसने मुकाबला होने पर सैन्य के बहुत बड़े भाग को मार डाला किन्तु अन्त में वह भी खेत रहा। परमहंस भगता हुआ चित्रकूट के समीप तक आ

पहुंचा किन्तु वहां थकान के मारे किसी स्थान पर विश्राम के लिये सो रहा। जहां बौद्ध सैनाने आकर उसको भी मार-डाला। इस वृतान्त को सुन कर हरिभद्रसूरि अत्यन्त कोपायमान हुए अतः उबाले हुए तैल की कड़ाही में चौदह सो चवालीस बौद्धों का होम करने के लिये उनको आकर्षण करने को मंत्रजाप करने लगे। उनके गुरुने यह वृत्तान्त सुन कर निम्न लिखित गाथा लिख दो साधुओं को पास भेजा। उन्होंने वह गाथा सूरि को जाकर सुनाई कि—

गुणसेन अग्गिसम्मा,
सीहाणंदाय तह पिआ पुत्ता ।
सिहि जालिणी माइ सुओ,
धण धन्नासिरिमो अ पइभज्झा ॥ १ ॥
जय विजयाय सहोयर,
धरणो लच्छी अ तह पइभज्जा ।
सेण विसेणा पित्तिअ,
उत्ता जंमंमि सत्तमए ॥ २ ॥

---

१ इन दोनों की मृत्यु का वर्णन अन्यत्र अन्य प्रकार से भी वर्णित है ।

गुणचंद वाणमंतर, समराइच्च गिरिसेण पाणो उ ।
एक्कस्स तओ मुक्को-ऽणंतो बीअस्स संसारो ॥३॥

जह जलइ जलं लोए,
कुसत्थपवणाहओ कसायग्गी ।
तं जुत्तं न जिणवयण–
अमिअसित्तोवि पज्जलइ ॥ ४ ॥

भावार्थः—गुणसेन राजाने अग्निशर्मा ऋषि को मास-क्षपण के पारणे का निमंत्रण दिया था किन्तु किसी कारण-वश वह उसको पारणा न करा सका अतः अग्निशर्माने उस पर वैरभाव रख नियाणा किया । यह पहला भव । दूसरे भव में सिंह राजा को आनन्द (अग्निशर्मा का जीव) नामक पुत्रने विष देकर मारा । तिसरे भव में शीखी पुत्र को जालणी माताने विष खिला कर मारा । चोथे भव में धन्ना को धनश्री स्त्रीने मारा । पांचवे भव में जय को विजय भाई ने मारा । छठे भव में धरण नामक पति को लक्ष्मीवती स्त्रीने दारुण दुःख पहुंचाया । सातवें भव में सेन का विसने नामक पित्राइ भाईने पराभव किया । आठवें भव में गुण-चन्द्र विद्याधर को वाणमंतरने कष्ट पहुंचाया । और नववें भव में समरादित्य (गुणसेन का जीव) मोक्ष सिधारे और गिरिसेनने (अग्निशर्मा का जीव) चंडाल बन कर अनन्त

संसार में भ्रमण किया, अतः हे भद्र ! जिस प्रकार लोक में कुशास्त्ररूपी पवन से आहत वृद्धि पाई हुई कषायरूपी अग्नि जल को (जड़-मूर्ख को) भी जला देती है, उसी प्रकार जिन-वचनरूप अमृत से सिंचित तुमको कार्य करना अयुक्त है ।

इस प्रकार की गाथा को सुन कर श्री हरिभद्रसूरि उस पापकर्म से निवृत्त हुए और मानसिक पाप के प्रायश्चित्त के रूप में बौद्ध जितने अर्थात् चौदह सो चवालीस ग्रन्थों को नये रचने की प्रतिज्ञा की । उसमें से प्रथम उपरोक्त चार गाथा का अनुसरण कर क्रोध को सर्वथा निराश करने-वाला श्रीसमरादित्य केवली का चरित्र मागधी भाषा में गाथाबंध बनाया ।

मालपुर नगर में धन नामक एक जैन धर्मावलंबी श्रेष्ठी रहता था। उसी नगरी में सिद्ध नामक एक राजपुत्र (रजपूत-क्षत्रिय) रहता था । वह जुआरी लोगों के साथ जुआ खेलते हुए हार गया । उसके पास उनको देने के लिये धन नहीं था अतः उन लोगोंने उसको एक बड़े खड्डे में ढकेल दिया। धनश्रेष्ठी को इस की सूचना मिलने पर उसने उन जुआ-रीयों को उसकी ओर से धन देकर उसे मुक्त कराया और उसको अपने घर ले जाकर नोकर रक्खा । अनुक्रम से बुद्धिमान सिद्धकुमार को श्रेष्ठीने अपना सर्व कार्यभार सौंप दिया और उसका एक कन्या के साथ विवाह भी कर दिया।

वह सिद्धकुमार श्रेष्ठी का सर्व काम कर बड़ी रात गुजरे अपने घर पर सोने को जाया करता था। एक बार वह बहुत देर से सोने को गया तो निद्राग्रसित उसकी माता तथा स्त्रीने पूछा कि–इतना देर से क्यों आया ? इस समय कोई दरवाजा नहीं खोलता अतः जहां दरवाजा खुला हो वहां चला जा। यह सुन कर सिद्धकुमारने "बहुत अच्छा" कह कर ग्राम में भ्रमण करना आरम्भ किया कि–उसने श्रीहरिभद्रसूरि के उपाश्रय का दरवाजा खुला हुआ देखा, अतः वह सूरि के पास पहुंचा और प्रतिबोध प्राप्त कर दीक्षा ग्रहण की। फिर अनुक्रम से शास्त्र का अभ्यास कर अच्छा विद्वान् होने पर तर्कशास्त्र की जिज्ञासा होने से उसने बौद्ध धर्म का रहस्य जानने के लिये हरिभद्रसूरि से आज्ञा मांगी। सूरिने उसको आज्ञा देकर कहा कि–यदि बौद्ध के संग से तेरा मन फिर जायें और तुझे वह धर्म में श्रद्धा हो जाय तो हमारा वेष वापस हमको देजाना। सिद्धमुनि वह शर्त स्वीकार कर बौद्ध लोगों के पास विद्याभ्यास के लिये गया। बौद्धों के कुतर्क से उसका मन विचलित हो जाने से वह वेष लौटाने के लिये सूरि के पास जाने लगा तो उस समय बौद्ध लोगोंने भी उस से कहा कि–यदि कदाच हरिभद्रसूरि तुम्हारा मन फिरा दे तो हमारा वेष भी हमको वापीस आकर लौट जाना। उनकी शर्त भी मंजूर कर वह हरिभद्रसूरि के समीप गया तो सूरिने उसके कुतर्क का निवारण कर उसको फिर से समकित

प्रदान किया। इस पर वह बौद्धों का वेष लौटाने को वापस गया। उस समय भी सूरिने कहा कि-यदि तेरा मन विचलित हो जाय तो हमारा वेष वापस लौटाने को यहां आना। यह बात स्वीकार कर सिद्धमुनि बौद्धों के पास गया परन्तु उन्होंने फिर से कुतर्कद्वारा उसका मन फिरा दिया, अतः वह मुनि वेष लौटाने के लिये वापस सूरि के पास पहुंचा। उस समय भी बौद्धोंने उसे अपना वेष वापस लौटाने को आने की शर्त पर उसे जाने दिया था। इस प्रकार वह इकवीश वार आया और गया तो सूरिने यह विचार किया कि-ये बेचारा मिथ्यादृष्टि होकर दुर्गति में न पड जाय, उसको अत्यन्त तर्कमय ललितविस्तरा नामक शक्रस्तव की टीका बनाकर दी। उसको पढ़ कर संतुष्ट हो दृढ़ समकितयुक्त वह बोला कि—

×नमोऽस्तु हरिभद्राय, तस्मै प्रवरसूरये ।
मदर्थं निर्मिता येन, वृत्तिर्ललितविस्तरा ॥१॥

भावार्थः--जिस गुरुने मेरे ही लिये ललितविस्तरा नामक वृत्ति रचा है उस हरिभद्र नामक श्रेष्ठ सूरि को मैं नमस्कार करता हूँ ।

फिर उस सिद्धमुनिने सोलह हजार श्लोक के प्रमाण-

× यह लोक उपमिति भव प्रपंच में दिया गया है ।

वाली उपमितिभवप्रपंच नामक कथा बना कर अन्त में दोनों सूरि स्वर्ग सिधारे ।

शास्त्ररूप मंदिर का निर्माण करने में सूत्रधार समान श्रीहरिभद्रसूरिने कुशास्त्र और कुदेव का त्याग कर पूज्यपद को प्राप्त किया वे गुरुमहाराज हमको कविता के विषय में उत्तम शक्ति प्रदान करें ।

इत्युपदेशप्रासादे तृतीयस्तंभे चतुस्त्रिंशत्तमं व्याख्यानम् ॥ ३४ ॥

व्याख्यान ३५ वां

दूसरे अतिशयवाले कवि का स्वरूप

सातिशयाढ्यकाव्यानां, भाषणे कुशलीभवेत् ।
सोऽप्यत्र शासने ज्ञेयो, विस्मयकृत्प्रभावकः ॥१॥

भावार्थः—अतिशय युक्त वाक्य कहने में जो चतुर हो उसको भी जैनशासन में विस्मयकारक प्रभावक कहा गया है । इस विषय पर निम्नस्थ मानतुंगसूरि का प्रबंध है—

मानतुंगसूरि का प्रबन्ध

धारानगरी में बाण और मयूर नामक दो विद्वान् पंडित रहेते थे । बाण मयूर का साला था । उन दोनों में ऐसा नजदीकी सम्बन्ध होने पर भी वे परस्पर एक दूसरे

की स्पर्धा किया करते थे और अपनी अपनी विद्वत्ता प्रगट कर वे दोनों राजसभा में काफी प्रतिष्ठित थे। एक बार बाण अपनी बहिन से मिलने के लिये मयूर के घर गया। रात्री के अधिक हो जाने से वह वहीं पर बाहर के कमरे में सो रहा। मयूर अपनी स्त्री सहित अन्दर के कमरे में सोया। रात्री में दम्पती के कुछ प्रेम-कलह होने से स्त्री क्रोधित हो गई। मयूरने उसको कई प्रकार से समझाया। सम्पूर्ण रात्री उसके मनाने में ही व्यतीत हो गई परन्तु वह स्त्री नहीं समझी (बाहर सोया हुआ बाण यह सर्व हाल सुनता रहा)। अन्त में प्रातःकाल होने आया तो मयूरने अपनी स्त्री को मानत्याग करने के लिये कहा कि—

गतप्राया रात्रिः कृशतनु शशी शीर्यत इव,
प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्मित इव ।
प्रणामान्तो मानस्त्यजसि न तथापि क्रुद्धमहो,

अर्थः—हे कृशतनु स्त्री! (जिस का शरीर कृश है ऐसी) रात्री लगभग पूर्ण होने आई है, चन्द्र भी क्षीण होने-वाला है, यह दिपक निद्रा के वशीभूत होने से घूर्मित हुआ दीख पड़ता है, इसी प्रकार मैं भी तुझे अन्त में प्रणाम करता हूँ किन्तु फिर भी तू अपना मान त्याग नहीं करती। अहो! तेरा कैसा क्रोध है?

इन तीन पदों को सुनते ही बाण बोल उठा कि—

कुचप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि ! कठिनम् ॥

"हे चन्डिका ! (क्रोधी स्त्री !) स्तन के पास रहने से तेरा हृदय भी उनके सदृश कठीन हो गया है।"

इस प्रकार अपने भाई के मुंह से चोथा पद सुन कर क्रोध तथा लज्जा से भर कर उस पतिव्रता स्त्रीने उसको शाप दिया कि–"तू कुष्ठी होजा" इस से बाण शीघ्र ही कुष्ठी हो गया। प्रातःकाल जब वे दोनों पंडित राजसभा में एकत्रित हुए तो मयूरने बाण को कुष्ठी कह कर पुकारा इस से बाणने अत्यन्त लज्जित हो सभा से उठ कर नगर के बाहर जा कर एक बड़ा स्तंभ खड़ा किया। उसके साथ एक काष्ठ बांध कर नीचे एक बड़ा खड्डा खोद कर उस में खेर के अंगार भर दिये। फिर स्तंभ के सिरे पर बांधे हुए काष्ठ में झूला डाल कर वह उस में बैठा और नये श्लोकद्वारा सूर्य की स्तुति करने लगा। एक श्लोक बोल कर झूले की एक डोरी को काट डाला। इस प्रकार पांच श्लोक बोल कर उसने पांच डोरियों को काट डाला। अन्त में छट्ठे श्लोक बोलने पर छट्ठी डोरी को काटने से झूला तमाम टूट जाने से वह खेर के अंगार में पड़ने की तैयारी में था कि–सूर्यने प्रत्यक्ष हो कर उसके देह की व्याधि को हटा कर उसे स्वर्ण सदृश बना दिया। फिर दूसरे दिन बाण पंडित बड़े आडम्बर से

राजसभा में आकर मयूर पंडित को कहने लगा कि–"हे क्षुद्र पक्षी! गरुड़ के सामने काले कौए के समान मेरे सामने क्या शक्ति है? यदि हो तो मेरे समान प्रत्यक्ष बतला, मेरी शक्ति तो मैंने तुझे प्रत्यक्ष बतलादी है।" यह सुन कर मयूरने उत्तर दिया कि–"निरोगी को वैद्य से क्या प्रयोजन? फिर भी तेरे वचन को पूरा करने को तैयार हूँ।" ऐसा कह कर उसने शीघ्र ही एक छूरीद्वारा अपने हाथ पैर काट डाले। फिर चंडीदेवी की स्तुति करने पर प्रथम श्लोक के छट्ठे अक्षर के बोलते ही चंडीदेवीने प्रसन्न हो कर उसके हाथ पैर को ठीक कर उसके सम्पूर्ण शरीर को वज्रमय बना दिया। यह देख कर राजाने आश्चर्यचकित हो मयूर का अत्यन्त सम्मान किया।

उस समय जैनधर्म के द्वेषी ब्राह्मणोंने राजा से कहा कि–"यदि जैनों में कोई भी ऐसा प्रभावशाली हो तो उन को इस देश में रहने दीजिये; अन्यथा उन सब को अपने देश से बाहर निकाल दीजिये।" यह वचन जब मानतुंग आचार्यने सुना तो उनको जैनशासन के प्रभाव को बतलाने की इच्छा हुई, अतः उन्होने राजसभा में जाकर राजा को उनके शरीर पर चवालीस बेड़िये डालने को कहा तथा एक मकान के अंदर दूसरा और दूसरे में तीसरा इस प्रकार चवालीसवें मकान में जाकर रहे और उन में से प्रत्येक कमरे पर ताला लगवाया। फिर सूरिने भक्तामर स्तोत्र रचा

जिसके एक एक श्लोक के उच्चार पर एक एक बेड़ी टूटने लगी और एक एक ताला टूट कर एक एक कमरा खुलने लगा। अन्त में चवालीसवें श्लोक के बोलने पर सर्व बेड़िये तथा सर्व ताले टूट गये जिस से सूरिमहाराज सभा में आ पहुंचे और जैनशासन का बड़ा भारी प्रभाव प्रगट हुआ।

इस विषय पर बप्पभट्टसूरि का प्रबन्ध भी इस प्रकार है कि-

बप्पभट्टसूरि का प्रबन्ध

मोढ़ेरा ग्राम में सिद्धसेनसूरि जब श्रीवीरस्वामी को वांदने के लिये पधारे तो उनके पास एक छ वर्ष का बालक आया जिस को उन्होंने पूछा कि-तू कौन है? और कैसे आया है? इस पर उस बालकने उत्तर दिया कि-पांचाल देश में डूब नामक एक ग्राम है जिस में बप्प नामक एक क्षत्रिय रहता है जिस को भट्टी नामक एक स्त्री है, मैं उसका सूरपाल नामक पुत्र हूँ। मैं जब मेरे पिता के शत्रु को मारने को तैयार हुआ तो मेरे पिताने मुझे ऐसा करने से रोक दिया और वह स्वयं उसके शत्रु को मारने को गया, इस से मुझे बड़ा क्रोध आया, अतः मैं गुस्से में भर कर बिना मेरी माता को कहे ही यहां चला आया हूँ। यह सुन कर सूरिने विचार किया कि-यह बालक कोई तेज (प्रतापी) मनुष्य होकर कोई दैवी अंशवाला जान पड़ता है। अतः गुरुने उस से कहा कि-हे वत्स! यदि ऐसा है तो तू हमारे पास

रह। यह सुन कर वह बालक उनके पास रहने लगा। सूरि ने उसको विद्याभ्यास कराना शुरु किया तो वह सदैव एक हजार श्लोक कंठस्थ करने लगा। उसकी ऐसी तीव्र बुद्धि देख कर गुरु उस पर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उसके माता-पिता को बुलवा कर उसे दीक्षित किया। उस समय उसके माता पिताने उनका नाम रखने की प्रार्थना की इस पर उसका नाम बप्पभट्टी रक्खा गया। गुरुने बाद में उसको सरस्वती देवी का मंत्र सिखाया जिसके यथाविध जाप करनें से देवीने प्रत्यक्ष होकर उसे वरदान दिया और अदृश्य हो गई।

एक बार बप्पभट्टी मुनि देवकुल (देरासर) में जा कर प्रभु की स्तुति कर रहे थे कि–गोपगिरी (ग्वालीयर गढ़) के राजा यशोवर्मा का आम नामक कुमार अपने पिता से क्रोधित होकर उनके पास आया और बप्पभट्टी के साथ साथ प्रशस्ति काव्य पढ़ने लगा। आम कुमार के रसिक होने से बप्पभट्टी के साथ उसका अत्यन्त प्रेम हो गया। फिर वह बप्पभट्टी के साथ उपाश्रय में आया और वहां गुरु के पूछने पर अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त उन्हें कह सुनाया। उसमें अपने नाम बतलाने का समय आने पर उसने खड़िया (Chalk) द्वारा अपना नाम लिख कर गुरु को बतलाया परन्तु अपने मुंह से अपने नाम का उच्चारण नहीं किया इस से गुरु उस पर अत्यन्त प्रसन्न हुए। गुरुने बप्पभट्टी के साथ साथ उस-

को भी शास्त्राभ्यास कराया। एक बार आम कुमारने अपने मित्र बप्पभट्टी मुनि से कहा कि–मुझे जब राज्य मिलेगा तो वह राज्य मैं तुम्हें दे दूंगा। फिर उसे राज्य मिलने पर उसने बप्पभट्टी को बुलवा कर सिंहासन पर बैठने की प्रार्थना की। इस पर बप्पभट्टीने उत्तर दिया कि–हम को सूरि पद मिलने के पश्चात् सिंहासन पर बैठने का अधिकार है। उसके पहले हम नहीं बैठ सकते। यह सुन कर उसने श्रीसिद्धसेनसूरि से प्रार्थना कर उसे सूरिपद प्रदान कराया। फिर बप्पभट्टीसूरि को सिंहासन पर बैठा कर राजाने प्रार्थना की कि–हे स्वामी! यह राज्य आप ग्रहण कीजिये। सूरिने उत्तर दिया कि–हे राजा! जब हम अपने देह के विषय में भी निःस्पृह हैं तो फिर हमें राज्य से क्या प्रयोजन? यह सुन कर राजा को अत्यन्त आश्चर्य हुआ और उसने गुरु के उपदेश से एक सो आठ हाथ ऊँचा एक जैन प्रासाद बना कर उस में अढारह भार स्वर्ण की श्रीमहावीरस्वामी की मूर्ति को स्थापित किया।

एक बार राजाने अपनी राणी का म्लान मुख देख कर इस विषय में गुरु से समस्या पूछी कि–"अज्जवि सा परितप्पइ, कुमलमुही अप्पणो पमाएण" (वह कमलमुखी स्त्री अभी तक अपने प्रमाद से परितापित है)। यह

सुन कर सरस्वती देवी जिस पर प्रसन्न है वे आचार्य बोले कि-"पुव्व विबुद्धेण तए, जा से पच्छाइयं अंगं" (हे राजा ! आज प्रातःकाल तुम रानी के पहिले जगे थे उस समय रानी का कोई अंग उगाड़ा था जिस को तुमने खुदने ढ़क दिया जिस से मारे लज्जा के वह अभी तक म्लानमुखी है) यह सुन कर राजा आश्चर्यान्वित हो कर लज्जित हुआ। फिर एक बार राजाने रानी को पैरों पैरों मन्द मन्द चाल से चलती हुई देख कर सूरि से पूछा कि-"बाला चंकमती पए पए कीस कुणइ मुहभंगं" (हे पूज्य ! वह स्त्री चलते समय पग पग पर मुंह को ढेढ़ा करती है इसका क्या कारण है ?) इस पर गुरुने उत्तर दिया कि-"नूणं रमण पएसे मेहलिया लिबइ नहपंति" (हे राजा ! सचमुच उसके रमणप्रदेश में-गुह्य स्थान में नखक्षत हो गये हैं, उस स्थान पर उसकी कटी-मेखला घिसाती है, अतः वह चलते समय मुंह को ढेढ़ा बनाती है) यह सुन कर राजा के मन में कुछ कोप प्रगट हुआ और वह गुरु से अप्रसन्न हुआ। गुरुने राजा के गुप्त कोप को जान कर उपाश्रय के दरवाजे पर एक श्लोक लिख कर वहां से विहार कर दिया। वह श्लोक इस प्रकार था।

आम स्वस्ति तवास्तु,
रोहणगिरे मत्तः स्थितिं प्रच्युता ।

वर्तिष्यन्त इमे कथं कथमपि,
स्वप्नेऽपि मैवं कृथाः ॥
श्रीमत्ते मणयो वयं यदि,
भवल्लब्धप्रतिष्ठस्तदा ।
के शृंगारपरायणाः क्षितिभुजो,
मौलौ करिष्यन्ति न ॥ १ ॥

भावार्थः--हे आमराजा ! तेरा कल्याण हो (यहां अन्योक्ति से राजा पर घटाते हैं) मणियें रोहणगिरि से कहती है कि-हे रोहणगिरि! तेरा कल्याण हो और तू इस बात की स्वप्न में ही चिन्ता न कर कि-मेरे से बिछुड़ी हुई ये मणियें अब कहां जायगी? इनकी क्या दशा होगी ? क्योंकि तेरे से प्रतिष्ठित हम श्रीमान् मणियें हैं अतः अलंकार के लालायित ऐसे कौन से राजा नहीं होंगे जो हमको उनके मुकुट पर धारण नहीं करेगें ? अर्थात् सब करेगें। (इस अन्योक्ति से आम राजा को सूरिने समझाया कि-तू इस बात की चिन्ता न करना कि-तेरे से जुदा होने पर हमारा क्या होगा ? क्योंकि हम मणितुल्य हैं अतः हमको कई राजा सम्मानित करेगें आदि)।

वहां से विहार कर श्रीवप्पभट्टीसूरि गौड़देश में गये जहां धर्मराजा राज्य करता था। सूरि को आया हुआ सुन

कर उसने उनको अपने नगर में रहने के लिये आग्रहपूर्वक अनुनय-प्रार्थना कर वहां ठहराया। उसके आग्रह से सूरिने जब तक कि-आमराजा स्वयं बुलाने न आवे तब तक वहां से विहार न कर वहीं रहने की प्रतिज्ञा कर वहीं रहे।

इस ओर आमराजा को यह सूचना मिली कि-गुरु महाराज द्वार पर एक श्लोक लिख कर वहां से विहार कर कहीं अन्यत्र चले गये हैं। यह सुन कर उसने उस श्लोक को पढ़ा और मन में अत्यन्त दुःखी हुआ। एक बार आम राजा एक बन में गया तो वहां उसने एक कृष्ण सर्प को देखा। उसने उस सर्प का मुख दृढ़ मूट्ठी से पकड़ उसको एक वस्त्र से ढ़क सभा में ला कर सर्व पंडितों से समस्या पूछी कि—

शस्त्रं शास्त्रं कृषिर्विद्याऽन्यद्वा यो येन जीवति।

शस्त्र, शास्त्र, कृषि (खेती), विद्या अथवा दूसरा क्या कि-जिसके द्वारा मनुष्य जीता है (अर्थात् ईन सब से क्या करना? ऐसा इस समस्या का प्रश्न है।)

इस समस्या की किसी भी पंडितने राजा के अभिप्राय के अनुसार पूर्ति नहीं की तो राजाने ढ़िढ़ोरा पिटवाया कि-जो कोई इस समस्या की पूर्ति मेरे मन के अभिप्राय के अनुसार करेगा उसको एक लक्ष स्वर्णमोहर इनाम में दी जायगी। यह सुन कर किसी द्यूतकार(जुआरिये)ने सूरि

से इसकी पूर्ति के लिये प्रार्थना की, इस से सरस्वती की कृपा से सूरिने इस प्रकार इसकी पूर्ति की कि—

सुगृहीतं च कर्तव्यं, कृष्णसर्पमुखं यथा ॥ १ ॥

उन शास्त्र आदि को (आजीविका के हेतुरूप को) कृष्ण सर्प के मुंह के सदृश अच्छी तरह से ग्रहण करना चाहिये अर्थात् राजाने जिस प्रकार कृष्ण सर्प का मुख अच्छी तरह से ग्रहण किया उसी प्रकार शास्त्रादिक आजीविका के कारणों को भी अच्छी प्रकार ग्रहण करना चाहिये कि-जिस से आजीविका बराबर चल सके ।

फिर उस द्यूतकारने आमराजा के पास जा कर उस समस्या की पूर्ति की । यह सुन कर उस राजाने उस द्यूत-कार को अत्यन्त आग्रह से धमकी देकर पूछा कि-सत्य सत्य बतला कि-इस समस्या की पूर्ति किसने की ? इस पर उसने सब बात सचसच बतला दी । यह सुन कर राजा को विचार हुआ कि-गुरु के इतने दूर होने पर भी जो उसने कृष्ण सर्प की बात बतला दी तो फिर मैने जो उस पर झूठा शक किया था वह नितान्त अनुचित है आदि विचारों के आने से राजा को अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ और उसने गुरु को वापस लोटा लाने के लिये अपने प्रधान मंत्रीयों को भेजा और उनके द्वारा यह कहलाया कि—

छायाकारण शिर धर्यां, पत्त वि भूमि पड़ंत ।

पत्तह एहु पड़त्तणं, वरतरु कांइ करंत ॥ १ ॥

भावार्थः—हे गुरु ! वृक्षोंने तो मुसाफिरो पर छाया करने के लिये ही अपने शिर पर पत्तों को धारण किये हैं किन्तु तिसपर भी यदि वे पत्ते भूमि पर गिर पड़े तो इस में वृक्ष का क्या दोष है ? वह पत्ते तो स्व स्व इच्छा से ही गिरते हैं। आदि अन्योक्तिद्वारा गुरु को विज्ञप्ति करने के लिये प्रधानों को भेजा। प्रधानोंने उसी प्रकार गुरु के पास जा कर विज्ञप्ति की इस पर गुरुने कहा कि–तुम आमराजा को इस प्रकार जा कर कहना कि—

अस्माभिर्यदि कार्यं वस्तदा धर्मस्य भूपतेः ।
सभायां छन्नमागत्य, स्वयमापृच्छ्यतां द्रुतम् ॥१॥
जाते प्रतिज्ञानिर्वाहे, यथायामस्तवान्तिकम् ।
प्रधानाः प्रहिताः पूज्यैरिति शिक्षापुरस्सरम् ॥२॥

भावार्थः—हे आमराजा ! यदि तुमको हम से काम हो तो तुम स्वयं धर्मराजा की सभा में गुप्तरूप से आकर हमें आमंत्रण करो क्योंकि ऐसा करने से हमारी प्रतिज्ञा पूर्ण होगी और हम तुम्हारे पास आ सकेंगे। इस प्रकार शिक्षा देकर पूज्य गुरुने प्रधानों को वापस लौटाये।

प्रधानोंने जा कर वाक्य राजा को सुनाया इस पर गुरु-दर्शन के लिये उत्कंठित आमराजा शीघ्र ही ऊंट पर स्वार

होकर धर्मराजा के नगर में पहुंचा। प्रातःकाल में जब राजा और सूरि सहित सर्व सभा भरी हुई थी तो उस समय आम-राजा स्थगीधर का रूप धारण कर अपने अनेकों साथियों सहित राजसभा में पहुंचा। उसको दूर से आता हुआ देख कर सूरिने धर्मराजा से कहा कि-"एते आमनृपा नराः-ये सब आमराजा के आदमी हमको बुलाने के लिये आते हैं।" इतने ही में उन सबोंने सभा में प्रवेश किया। उन में प्रथम स्थगीधर (आमराजा) था जिसको देख कर सूरिनें कहा कि-"आगच्छाम-इधर आओं। (इसका गूढ़ अर्थ यह था कि-हे आमराजा! तुम आओ)। ऐसा बोल कर उसको सन्मान दिया इस पर वह स्थगीधर गुरु की समीप बैठा और इसने गुरु के हाथ में विज्ञप्तिपत्र भेट किया जिसको गुरुने धर्मराजा को बतलाया। धर्मराजाने दूत से पूछा कि-तुम्हारा आमराज रूपरंग में कैसा है? इस पर उसने उत्तर दिया कि-हे राजा! वे इस स्थगीधर के सदृश है। फिर स्थगीधर के हाथ में बीजोरा देख कर गुरुने पूछा कि-यह तुम्हारा हाथ में क्या है? उसने उत्तर दिया कि-"बीजोरा" (बीजो-रा अर्थात् राजा अर्थात् मैं दूसरा राजा हूँ) फिर इसने तुअर के पत्र में लिपटा हुआ पत्र दिखाया जिसको देख कर राजाने गुरु से पूछा कि-यह क्या है? गुरुने स्थगीधर की ओर संकेत कर कहा कि-"तुअरि

पत्रं" (तुअर के पत्ते में लिपटा हुआ पत्र-इसका दूसरा अर्थ तुं-अरि अर्थात् तेरे शत्रु का पत्र याने कागज है।)

इस प्रकार सब गुढ़ार्थ से बतलाया किन्तु धर्मराजाने सरलता के कारण कुछ भी नहीं समझा। अन्त में आमराजा सभा से उठ धर्मराजा की वेश्या के घर गया और उसको अपना एक कंकण (कड़ा) रात्री भर रहने के लिए इनाम में दे कर प्रातःकाल वहां से निकल दूसरा कंकण राजद्वारपाल को दे कर आमराजाने अपने नगर की ओर कूच कर दिया।

दूसरे दिन राजसभा में जाकर गुरुने धर्मराज से कहा कि-हे राजा! हमारी प्रतिज्ञा पूर्ण हो गई है, अतः अब हम आमराजा के पास जायेंगे। यह सुन कर धर्मराजाने पूछा कि-हे गुरु! आमराजा के बिना आये आप की प्रतिज्ञा क्यों कर पूर्ण हो गई? इस पर गुरुने "आम स्वयं आया था" ऐसा कह कर सब गुह्य वाक्यों का दूसरा अर्थ राजा को समझाया। उसी समय वेश्या तथा द्वारपालने भी आकर आमराजा के नामांकित दोनों कंकण धर्मराजा के सामने रक्खें इस से धर्मराजा को उस बात का पूर्णतया विश्वास हो गया। धर्मराजाने गुरु से कहा कि-हे गुरु! मैं कपट वचनों

---

१ धर्मराजा और आमराजा परस्पर शत्रु थे इसलिये उनके सामने ऐसे अन्योक्तियुत वचन कहे जाते थे परन्तु धर्मराज गूढ़ अर्थ नहीं समझता था।

से छला गया हूँ। फिर धर्मराजा से विदा ले कर गुरु वहां से विहार कर आमराजा से मार्ग में ही मिले और उन के साथ साथ ग्वालियर पधारे जहां पहले की तरह आमराजाने गुरु को भक्तिपूर्वक रक्खा ।

एक बार वहां गायकों की मंडली आई । जिस में एक सुन्दर मातंगीबाला अति मधुर स्वर से गायन करने लगी । उस के गायन से आमराजा कामातुर हो कर बोला कि—

वक्त्रं पूर्णशशी सुधाधरलता दन्ता मणिश्रेणयः,
कान्तिः श्रीर्गमनं गजः परिमलस्ते पारिजातद्रुमः।
वाणी कामदुधा कटाक्षलहरी सा कालकूटच्छटा,
तत्किं चन्द्रमुखि ! त्वदर्थममरैरामन्थि दुग्धोदधिः॥

भावार्थः—चन्द्र सदृश मुखवाली हे स्त्री ! तेरा मुख पूर्णिमा के चन्द्र सदृश है, तेरा अधर सुधा (अमृत) सदृश है, तेरे दांत मणिपंक्ति सदृश है, तेरी कान्ति लक्ष्मी सदृश है, तेरी गति (चाल) ऐरावत हस्ती सदृश है, तेरे श्वास की गंध पारिजातक वृक्ष तुल्य है, तेरी वाणी कामधेनु सदृश है और तेरे नेत्रों के कटाक्ष की लहर कालकूट विष की छटा तुल्य है (कामी पुरुषों कों हत प्रहत करनेवाली है) अतः हे मुग्धा ! क्या तेरे लिये ही देवताओंने क्षीर समुद्र का मंथन किया था ? अर्थात् देवताओंने क्षीर समुद्र का मंथन कर

जो रत्न निकाले थे वे सब तेरे शीर के अवयवों में ही दृष्टिगोचर होते हैं ।

यह सुन कर सूरिने विचार किया कि-अहो ! महापुरुषों की मति भी कैसी भ्रमित हो जाती है ?। गायन बन्द हुआ और सभा भी विसर्जित हो गई परन्तु राजा का चित्त उस मातंगी पर मोहित था अतः उसके साथ रहने के लिये उसने ग्राम के बहार तीन ही दिन में एक सुन्दर प्रासाद बनवाया । उस प्रासाद के बनवाने का हेतु समझ कर गुरुने विचार किया कि-अहो ! यह राजा मेरी संगत में रहने पर भी ऐसे कुकर्मो में प्रवृत्त होता है जिसके फलस्वरूप वह अवश्य नर्कगामी होगा अतः मुझे किसी भी प्रकार से उसे प्रतिबोध करना चाहिये कि-जिस से वह ऐसे नर्कगामिनी कुकर्मो में फंसने से बच सके । ऐसा विचार कर सूरिने रात्रि के समय गुप्तरूप से जाकर उस नव प्रासाद के भारवट पर खडिया से उसको प्रतिबोध करने के लिये जल के बहाने अन्योक्तियुत श्लोक लिखे कि—

शौत्यं नाम गुणस्तवैव,
भवति स्वाभाविकी स्वच्छता ।
किं ब्रूमः शुचितां भवन्ति,
शुचयस्त्वत्सङ्गतोऽन्ये यतः ॥

किं चातः परमास्ति ते,
स्तुतिपदं त्वं जीवितं देहिनां ।
त्वं चेन्नीचपथेन गच्छसि पयः
कस्त्वां निरोधुं क्षमः ॥ १ ॥

भावार्थः--हे जल ! तेरे शीतलता का एकान्त गुण है, तेरी स्वच्छता (निर्मलता) स्वाभाविक है, तेरे निर्मलता के लिये अधिक क्या कहें ? परन्तु तेरे संग से अन्य लोक भी निर्मल-पवित्र होते हैं अपितु तू प्राणियों के जीवन का आधार है फिर इस से अधिक हम तेरी क्या स्तुति करे ? परन्तु हे जल ! यदि तू स्वयं ही नीच मार्ग का अवलम्बन कर ले तो फिर तुझे रोकने में कौन स्मर्थ है ?"

लज्जिज्जइ जेण जणे,
मइलिज्जई निअकुलक्कमो जेण ।
कंठट्ठिए वि जीए,
तं न कुलीणेहिं कायव्वं ॥ २ ॥

भावार्थः—जिस अकार्य के करने से लौकिक निन्दा हो, और अपने कुलक्रम में मलिनता आयें ऐसा अकार्य कुलीन पुरुषों को कंठस्थ प्राण आने पर भी नहीं करना चाहिये । आदि ।

प्रातःकाल राजा उस प्रासाद को देखने गया तो वहां उन श्लोकों को पढ़ कर विचार करने लगा कि–मेरे मित्र के अतिरिक्त अन्य ऐसा बोध कोन दे सकता है? अरे! मैं कैसा अकार्य करने को तैयार हो गया हूँ? मेरे जीवन को धिक्कार है! अब मैं मेरे गुरु को मुख किस प्रकार बतलाऊँ? अब तो मेरे इस कलंकित जन्म को ही धिक्कार है! आदि अनेकों प्रकार से पश्चात्ताप कर राजाने अग्नि में प्रवेश करने का निश्चय किया। प्रधानादिने इसकी सूचना सूरि को दी तो उन्होंने जाकर राजा से कहा कि–हे राजा! इस प्रकार आत्महत्या करने से क्या फल मिलेगा? मन से बांधे हुए कर्म का मन से ही नाश किया जाता है अथवा इस विषय में तू स्मार्त धर्मानुयायी ब्राह्मणों से पूछना क्योंकि स्मृतियों में भी पाप का प्रायश्चित्त करना बतलाया गया है। यह सुन कर राजाने ब्राह्मणों को बुला कर उसका प्रायश्चित्त पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया कि—

आयःपुत्तलिकां वह्निध्मातां तद्वर्णरूपिणीम् ।
आश्लिष्यन्मुच्यते सद्यः पापाच्चांडालीसंभवात् ॥

भावार्थः--लोहे की पुतली को अग्नि में तपा कर अग्नि के वर्ण सदृश लाल कर उसको आलिंगन करने से उत्पन्न हुए पाप से मनुष्य तत्काल मुक्त हो सकता है।

यह सुन कर राजा वैसा ही करने को तैयार हुआ तो गुरुने उस से कहा कि–हे राजा ! तू ने तो संकल्प मात्र से पाप किया है, तूने उसके साथ संगम नहीं किया अतः तू पश्चात्ताप करने मात्र से ही मुक्त हो गया है तो फिर पतंगियों के सदृश व्यर्थ प्राणनाश से क्या फल होगा ? अब तो तू चिरकाल पर्यंत जैनधर्म का आचरण कर कि जिस से तेरी आत्मा का कल्याण हो। यह सुन कर गुरु का वचन सिरोधार्य कर राजा अपने घर को लौट गया।

एक बार राजाने गुरु से पूछा कि–हे गुरु ! मैं पूर्व भव में कौन था ? इस पर गुरुने उत्तर दिया कि–इस प्रश्न का उत्तर मैं काल दूंगा। ऐसा कह कर गुरु उपाश्रय में आये और रात्री में सरस्वती देवी को पूछ कर राजा का पूर्व भव जानलिया। प्रातःकाल जब राजसभा में गये तो गुरुने राजा को उसके पूर्व भव का वृत्तान्त सुनाया कि–हे राजा ! पूर्व भव में तू तापस था। तू ने कालिंजर नामक गिरि के तट पर शालवृक्ष के नीचे एकान्तर उपवास कर डेढ़ सो वर्ष तक उग्र तपस्या की और वहां से आयुष्य का क्षय कर मृत्यु प्राप्त कर राजा हुआ। यदि तुझे इस बात की प्रतीति करनी हो तो जाकर देख आ, उस वृक्ष के नीचे अभी तक तेरी जटा पड़ी हुई है। यह सुन कर राजाने अपने सेवकों को भेज कर वह जटा मंगवाई जिसको देख कर राजा को प्रतीति

हुई और वह शुद्ध श्रावक धर्म का पालन करने लगा। फिर गुरु उपदेश से बड़े आडंबर के साथ राजाने सिद्धाचल की यात्रा की और उसको दिगम्बरियों के कब्जे से हटा कर फिर से श्वेताम्बर तीर्थ बनाया।

आम राजाने राज्य का न्याय से पालन कर नमस्कार मंत्र का ध्यान कर उत्तम धर्म की साधना की और कवियों की सभा में सूर्य समान गुरु भी आयुष्य को क्षय कर स्वर्ग सिधारे। यह कथा पूर्वसूरिद्वारा रचित चतुर्विंशतिप्रबंध में सविस्तर वर्णित है।

"किसी से बोधित न हो सके ऐसे आमराजा को प्रतिबोध देकर, कवितादिक गुणोंद्वारा ब्राह्मण वर्ग को पराजित कर विद्वानों में चक्रवर्ती बप्पभट्टीसूरिने शासन की उन्नति कर स्वर्ग सुख प्राप्त किया।"

इत्युपदेशप्रासादे तृतीयस्तंभे पंचत्रिंशत्तमं व्याख्यानम् ॥ ३५ ॥

व्याख्यान ३६ वां

समकित के पांच भूषणो में से प्रथम स्थैर्य नामक भूषण

धर्मांगमेभिर्भूष्यन्ते, भूषणानीति कथ्यते ।
सुरादिभ्योऽप्यक्षोभत्वं, तत्राद्यं स्थैर्यभूषणम् ॥१॥

भावार्थः—स्थैर्यादिकद्वारा धर्मरूपी अंग सुशोभित होता है, अतः वे भूषण कहलाते हैं। इन में देवादिक से क्षोभित नहीं होने को स्थैर्य नामक भूषण कहते हैं।

इस स्थैर्य नामक भूषण पर निम्नस्थ सुलसा चरित्र प्रसिद्ध है ।

तद्दर्शनं किमपि सा सुलसाप येन,
प्रादाज्जिनोऽपि महिमानममानमस्यै ।
नैर्मल्यतः शशिकला न च केतकी च,
मालातुलां चहरमूर्ध्नि बभार गंगा ॥×

भावार्थः—अलौकिक समकित तो सुलसाने ही प्राप्त किया है कि-जिस से उसकी निर्मलता की साक्षात् श्रीमहावीरस्वामीने भी अत्यन्त प्रशंसा की है और यह उचित भी

× उत्तरार्द्ध अशुद्ध है ।

है क्योंकि महादेव के मस्तक पर चन्द्र रेखा, केतकी और गंगा नदी ये तीनों मालारूप से विद्यमान हैं किन्तु इन में से निर्मलता के लिये जैसी गंगा नदी सुशोभित है वैसी चन्द्ररेखा या केतकी नहीं।

सुलसा चरित्र

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादिक से भरपूर तथा श्रीमंत लोगों से सुशोभित रमणिक राजगृह नगरी में श्रेणिक राजा के राजत्व काल में नाग सारथि नामक एक श्रावक रहेता था जिसके सुलसा नामक स्त्री थी। वह शीलादिक गुणों से युक्त थी किन्तु दैवयोग से उसके कोई सन्तान नहीं हुई। एक बार दूसरे के पुत्र को देख कर उसके पति नाग-सारथि को अत्यन्त खेद हुआ जिसको उनमना देख कर सुलसाने कहा कि–"हे स्वामी! आप खेद न कीजिये, धर्म के आराधन से हमारा मनोरथ फलीभूत होगा"। इस प्रकार पति को शान्त कर -सुलसा निरन्तर जिनेश्वर की त्रिकाल पूजा, ब्रह्मचर्यपालन और आचाम्ल (आयंबिल) करने लगी।

एक बार शक्रेन्द्रने अपनी सभा में सुलसा के सत्व की अत्यन्त प्रशंसा की जिसको सुन कर इन्द्र के सेनापति हरि-णेगमेषीने उसकी परीक्षा करने के लिये दो साधुओं का रूप धारण कर सुलसा के पास जाकर कहा कि–"हे श्राविका!

रोगी साधुओं के लिये औषधि बनाने को लक्षपाक तैल की आवश्यकता है सो दे।" यह सुन कर अत्यन्त हर्षित हो सुलसा घर में दौड़ी और लक्षपाक तैल का सिसा ला कर उनको बहराने लगी कि–उस देवने दैवी शक्ति से उसके हाथ से सिसे को नीचे गिरा कर फोड़ डाला, अतः सुलसा दूसरा सिसा लाई परन्तु उसको भी उस दैवने उसी प्रकार फोड़ डाला। इस प्रकार वह बारी बारी से सात सिसे लाई और देवने सातों सिसों को फोड़ डाला किन्तु फिर भी जब उसके भाव में कोई परिवर्तन नहीं हुआ तो देव अत्यन्त प्रसन्न हो, प्रत्यक्ष हो कहने लगा कि–'हे भद्रे! मैं हरिनैगमेषी देव तेरी परीक्षा करने को आया था किन्तु तेरी दृढ़ भावना देख कर मैं तेरे पर प्रसन्न हूँ अतः तू कोई वरदान मांग।" इस पर सुलसाने उत्तर दिया कि–"हे देव! यदि आप मुझ से प्रसन्न हैं तो मुझ नीपूती को एक पुत्र प्रदान कीजिये।" यह सुन कर उस देवने हर्षित हो उसे बत्तीस गोलियें देकर कहा कि–"इन में से तू एक एक गोली को खाना कि–जिस से एक एक गोली के साथ तू एक एक पुत्र प्रसव करेगी।" ऐसा कह कर उन टूटे हुए सिसों को वापीस ठीक कर वह देव स्वर्ग को लौट गया।

सुलसाने ऋतुस्नात होने पर विचार किया कि–इन गुटिकाओं एक एक कर खाने से तो बत्तीस वक्त गर्भ तथा

सूतिका का कष्ट सहन करना पड़ेगा अतः यदि मैं एक ही साथ बत्तीस ही गुटिकाओं को खा जाउंगी तो मेरे बत्तीस लक्षणयुक्त एक ही पुत्र उत्पन्न होगा। ऐसा विचार कर उसने बत्तिसों गुटिकाओं को एक ही साथ खा लिया जिसके फल-स्वरूप उसके एक ही साथ बत्तीस गर्भ रहे। उन गर्भों के अत्यन्त भार से उसे असह्य वेदना होने लगी इसलिये उसने कायोत्सर्ग कर उस देव को आह्वाहन किया। देवने शिघ्र ही प्रत्यक्ष हो उसको व्यथा रहित कर कहा कि-"हे सुलसा! तुने यह बहुत बुरा कार्य किया है क्योंकि उन बत्तीस गोलियों के एक ही साथ खा लेने से तेरे एक ही साथ बत्तीस पुत्र होंगे जिनका एक ही समान आयुष्य होने से वे सब एक ही साथ मृत्यु को प्राप्त होंगे परन्तु भवितव्यता दुर्लंघ्य है।" कहा भी है कि—

गुणाभिरामो यदि रामभद्रो,
राज्यैकयोग्योऽपि वनं जगाम ॥
विद्याधरश्रीदशकन्धरश्च,
प्रभूतदारोऽपि जहार सीताम् ॥ १ ॥

भावार्थः—अनेक गुणों से सुन्दर और राज्य के योग्य रामचन्द्र को भी वन में जाना पड़ा तथा विद्याधर दशकंधर-(रावण)ने उसको अनेकों सुन्दर स्त्रियों के होते हुए भी सीता का हरण किया (ये सब भवितव्यता वश ही हुआ है)।"

इस प्रकार कह कर वह देव स्वर्ग को लौट गया। सुलसाने गर्भस्थिति के पूर्ण होने पर एक साथ बत्तीस पुत्रों को प्रसव किया। नागसारथिने उन पुत्रों का जन्मोत्सव किया। अनुक्रम से युवावस्था को प्राप्त होने पर उसने उनका बत्तीस कन्याओं के साथ विवाह किया। वे सब श्रेणिकराजा के अंगरक्षक सेवक बने।

एक बार कोई तापसी चेटक राजा की सुज्येष्ठा नामक पुत्री का चित्र लेकर श्रेणिकराजा की सभा में गई। राजा उस चित्र से आकर्षित हो उसके साथ विवाह करने को उत्सुक हुआ अतः उसने अभयकुमार को इस कार्य में सहायता करने की आज्ञा दी। अभयकुमारने गांधी का वेष बना चेड़ा राजा की विशाल नगरी में जाकर राजा के अन्तःपुर के समीप दुकान लगाई। फिर जब सुज्येष्ठा की दासी उसकी दुकान पर कोई वस्तु खरीद करने को आती तो अभयकुमार श्रेणिकराजा के चित्र की पूजा करते हुए दिखाई देता। एक बार दासीने उस से पूछा कि–"यह किसीका चित्र है?" इस पर उसने उत्तर दिया कि–श्रेणिकराजा का। यह सुन कर दासीने अभयकुमार से वह चित्र मांग कर सुज्येष्ठा को जाकर बतलाया। उसे देख कर सुज्येष्ठा अत्यन्त कामातुर हो कर बोली कि–"हे दासी! ऐसा कोई उपाय कर कि जिससे यह राजा मेरा पति बन सके।"

दासीने यह बात अभयकुमार को जाकर कहा तो उसने उसके अन्तःपुर से लगा कर राजगृह नगर तक एक सुरंग बनवाई और अपने पिता को उस मार्ग से एक निश्चित दिन को वहां आने को कहलाया। उसी दिन राजा श्रेणिक अपने बत्तीस अंगरक्षको सहित वहां आ पहुंचे। उसके वहां आने की सूचना पाकर मोहित हुई सुज्येष्ठाने श्रेणिक के साथ जाने की तैयारी की। उसी समय उसकी छोटी बहिन चेलणाने आकर कहा कि–हे बहिन! मेरा भी यह ही स्वामी हो! इस प्रकार दोनों बहिने सुरंगद्वार पर खड़ी हुई कि– सुज्येष्ठाने अपने आभूषणों का कंडिया (Box) भूल जाने से लेने जाने को उत्सुक हो कर कहा कि–"हे बहिन! मैं मेरे अलंकार का कंडिया लेने जाती हूँ अतः मेरे बिना लौट तू आगे न जाना।" ऐसा कह कर वह ज्योंहिं वापस लौटी कि–सुलसा के पुत्रोंने जो राजा श्रेणिक के साथ आये थे कहा कि–"हे स्वामी! शत्रु के गृह में अधिक ठहरना अयुक्त है।" यह सुन कर राजा चेलणा को लेकर चल दिये। थोड़ी देर पश्चात् सुज्येष्ठा अपना कंडिया लेकर आई परन्तु राजा तथा अपनी बहिन आदि किसी को नहीं देख कर इर्ष्या से भर चिल्लाने लगी कि–"दौड़ो, दौड़ो, मेरी बहिन चेलणा को कोई हर कर ले जाता है।" यह सुन कर चेटक राजा का सैन्य शीघ्रतया दौड़ आया और उसी सुरंग से श्रेणिकराजा का पीछा पकडा। श्रेणिक के पास पहुंचने पर

युद्ध आरंभ हुआ जिस में चेटक राजा के सेनापति बैरांगेने सुलसा के एक ही पुत्र को मारा कि-उसी समय अन्य बत्तीस पुत्र भी एक ही साथ धराशायी हो गये। श्रेणिक-राजा शीघ्रतया अपने नगर में आ पहुंचा और चेलणा के साथ विवाह कर लिया।

नागसारथी तथा सुलसा जब अपने बत्तीसों पुत्रों के मृत्यु का समाचार सुन अत्यन्त रुदन करने लगी तो अभय-कुमारने कहा कि-जैनधर्म के तत्त्व को जाननेवाले तथा अनित्यादिक भावना को माननेवाले तुम को अविवेकी मनु-ष्यों के सदृश शोकसागर में पड़ना अयुक्त है। कहा है कि-

कुशकोटिगतोदकबिन्दुवत्,
परिपक्वद्रुमपत्रवृन्दवत्।
जलबुद्बुदवच्छरीरिणां,
क्षणिकं देहमिदं च जीवितम् ॥ १ ॥

भावार्थः—दर्भ के अग्रभाग पर स्थित जलबिन्दु के सदृश, वृक्ष के परिपक्व पत्र समूह के सदृश और जल के बुद्बुदे के सदृश प्राणियों का देह एवं जीवन क्षणभंगुर है।

यह सुन कर नागसारथी तथा सुलसा शोकरहित हुए।

एक बार चम्पानगरी में महावीर को नमन कर अंबड नामक परिव्राजक जिसने जैनधर्म को स्वीकार किया था,

राजगृह नगरी की ओर जा रहा था। श्रीजिनेश्वरने उससे कहा कि–हे परिव्राजक! यदि तुम राजगृह नगरी में जाओ तो वहां सुलसा श्राविका रहती है उसको हमारा धर्मलाभ कहना। प्रभु के वाक्य को स्वीकार कर उसने राजगृह नगरी में आकर विचार किया कि–भगवान स्वयं जिस सुलसा को धर्मलाभ कहलाते हैं उसकी धर्म में कैसी श्रद्धा है मुझे उसकी परीक्षा करनी चाहिये। इसलिये उसने नगर के पूर्व दिशा के दरवाजे बाहर वैक्रियलब्धि से चार मुंहवाला, हंस की सवारीवाला और जिसके अर्धांग में सावित्री स्थित है ऐसा साक्षात् ब्रह्मा का स्वरूप बनाया। उसके इस स्वरूप का वर्णन सुन नगर के सब लोग उस ब्रह्मा को वंदन करने के लिये गये परन्तु जैनधर्म में दृढ़ अनुराग रखनेवाली सुलसा अनेको मनुष्यों के कहने पर भी वहां नहीं गई। फिर दूसरे दिन दक्षिण दिशा के बाहर उस परिव्राजकने वृषभ की सवारीवाला, अर्धांग में पार्वती को धारण करनेवाला तथा सम्पूर्ण शरीर पर भस्म लगाये हुए शंकर का स्वरूप बनाया। वहां भी सुलसा के अतिरिक्त सर्व लोग उसे वन्दना करने को गये। फिर तीसरे दिन पश्चिम दिशा के दरवाजे के बाहर गुरुड़ की स्वारीवाला, चार हाथवाला तथा सुन्दर स्त्रियों से अलंकृत कृष्ण का स्वरूप बनाया। वहां भी सुलसा के अतिरिक्त सर्व लोग उसे वन्दना करने को गये। फिर चोथे दिन उत्तर दिशा के दरवाजे बाहर समवसरण में बिरा-

जित तीर्थंकर का स्वरूप बनाया फिर भी वह सुलसा उसे वन्दन करने को नहीं गई। इस पर उसने उसको बुलाने के लिये किसी आदमी को भेजा जिसने सुलसा को जाकर कहा कि–अपने नगर के बाहर पच्चीसवें तीर्थंकरने समवसरण किया है उनको वन्दना करने के लिये तू क्यों नहीं जाती? इस पर सुलसाने उत्तर दिया कि–हे भाई! वह जिनेश्वर नहीं है किन्तु कोई पाखंडी पच्चीसवें तीर्थंकर का नाम धारण कर लोगों को ठगता है। इस प्रकार जब किसी भी प्रकार से वह सुलसा अपने धर्म से विचलित नहीं हुई तो फिर पांचवें दिन वह अंबड परिव्राजक श्रावक का वेष धारण कर सुलसा के घर गया जहां सुलसाने उसका अच्छा सत्कार किया। फिर उसने सुलसा से कहा कि–हे सुलसा! तुम अत्यन्त पुन्यशाली हो क्योंकि तुम को मेरे मुंह से स्वयं परमात्मा श्रीमहावीर प्रभुने धर्मलाभ कहलाया है। यह सुन सुलसा हर्षित हो खड़ी हो कर भक्तिपूर्वक इस प्रकार प्रभु की स्तुति करने लगी कि—

मोहमल्लबलमर्दनवीर!, पापपंकगमनामलनीर!।
कर्मरेणुहरणैकसमीर!, त्वं जिनेश्वरपते! जय वीर॥

भावार्थः—मोहरूपी मल्ल के सैन्य का मर्दन करने में शूरवीर, पापरूपी पंक को धोने के लिये निर्मलता के सदृश

और कर्मरूपी रज को हरण करने में वायु सदृश हे श्रीजिनेश्वरपति ! हे महावीरस्वामी ! आप की जय हो ।

इस प्रकार स्तुति करनेवाली सुलसा की प्रशंसा कर वह परिव्राजक अपने स्थान को लौट गया ।

शीलगुण से शोभित सुलसा सद्धर्म की आराधना कर स्वर्ग सिधाई जहां से चव कर आयन्दा चोवीशी में भरतक्षेत्र में निर्मम नामक पन्दरवा तीर्थंकर होगा ।

श्रीमहावीरस्वामी के मुंह से स्थिरता, उदारता और महार्थता से भरा हुआ तीनो जगत को आश्चर्य में डालनेवाला सुलसा का निर्मल चरित्र सुन कर हे भव्य प्राणियों ! तुम को भी ऐसे श्रेष्ठ धर्म के विषय में स्थिरता रखनी चाहिये कि-समकित से भूषित हो कर तुम मुक्तिरूपी स्त्री के आलिंगन सुख का अनुभव कर सको ।

इत्युपदेशप्रासादे तृतीयस्तंभे षट्त्रिंशत्तमं व्याख्यानम् ॥ ३६ ॥

व्याख्यान ३७ वां

प्रभावना नामक द्वितीय भूषण

अनेकधर्मकार्येण, कुर्यात्तीर्थोन्नतिं सदा ।
प्रभावनाख्यं विज्ञेयं, द्वितीयं सम्यक्त्वभूषणम् ॥१॥

भावार्थः—धर्म के अनेकों कार्योंद्वारा निरन्तर तीर्थ की (जैनशासन की) उन्नति करना प्रभावना नामक समकित का दूसरा भूषण कहलाता है। इसका भावार्थ देवपाल राजा के प्रबन्ध से प्रत्यक्ष है—

देवपाल राजा की कथा

अचलपुर में सिंह नामक राजा राज्य करता था। उस नगर में जिनदत्त नामक एक श्रेष्ठी रहता था जो राजा का अत्यन्त कृपाभाजन था। उसके देवपाल नामक एक सेवक था जो सदैव वन में श्रेष्ठी की गायों को चराया करता था। एक बार देवपालने वर्षाऋतु में नदी के किनारे पर श्री-युगादि जिनेश्वर का सूर्य की कान्ति सदृश एक प्रकाशित बिंब देखा। उसने उसको एक घास की झोपड़ी में स्थापित कर पुष्पादिक से उसकी पूजा कर यह नियम ग्रहण किया कि—"आज से सदैव बिना इन प्रभु की पूजा किये मैं भोजन कभी नहीं करुंगा।" ऐसा नियम कर वह अपने स्थान को लौट गया। एक बार अत्यन्त वर्षा होने से नदी भरपूर

बहने लगी और दैवपाल नदी के सामने किनारे पर न जा सका इस से वह बिना प्रभु के दर्शन किये शोकातुर हो वापस घर को लौट आया। घर पर श्रेष्ठिने उसको भोजन करने को कहा तो उसने अपने नियम ग्रहण की वार्ता बतला कर भोजन करने से मना किया। यह सुन कर श्रेष्ठि हर्षित हो कर उस से कहने लगा कि–यदि ऐसा है तो अपने गृहचैत्य की पूजा करले, यह सुन कर उसने गृहचैत्य की पूजा करली परन्तु भोजन नहीं किया। इस प्रकार करते करते सात दिन व्यतीत हो गये परन्तु नदी का पूर कम नहीं हुआ इस से वह सात दिन तक बिना भोजन किये रहा और आठवें दिन पूर कम होने पर वह प्रातःकाल पर्णकुटी में आदिनाथ की पूजा करने को गया तो वहां पर उसने एक भयंकर सिंह को देखा परन्तु उसने उससे लेशमात्र भी भय न पाकर उसकी शीयाल के सदृश अवगणना कर प्रभु की पूजा की। फिर वह बोला कि—

त्वद्दर्शनं विना स्वामिन्ममाभूत्सप्तवासरी ।
अकृतार्था यथारण्यभूमिरुहफलावलिः ॥१॥

भावार्थः—हे स्वामी ! आप के दर्शनों के बिना अरण्य में स्थित वृक्षों के फलों के सदृश मेरे सात दिन अकारण (निष्फल) गये हैं।

उस समय उसके सत्त्व तथा भक्ति से प्रसन्न होकर

किसी देवने कहा कि–हे भद्र ! मैं तेरे पर प्रसन्न हुआ हूँ अतः कोई वरदान मांग। इस पर देवपालने उत्तर दिया कि–हे देव ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हो तो मुझे इस नगर का राज्य प्रदान कीजिये। यह सुन कर देवने कहा कि–आज से सातवें रोज तुझे अवश्य राज्य मीलेगा। ऐसा कह कर देव अदृश्य हो गया और देवपालने भी अपने स्थान को लौट कर भोजन किया।

सातवें दिन उस नगर का राजा बिना पुत्र के मर गया इस से प्रधान आदिने पंच दिव्य प्रकट किये। वे घूमते घूमते जंगल में जहां देवपाल गायें चरा रहा था वहां पहुंचे कि–हथिनीने देवपाल पर कलश ढ़ोला इस से प्रधानोंने उसका राज्याभिषेक कर उसे गादी पर बिठाया। वह देवपाल राजा हो गया परन्तु वह प्रथम चाकर था इस से उसकी आज्ञा कोई नहीं मानता था इसलिये अत्यन्त दुखित होकर उसने राज्य प्रदान करनेवाले देव का आह्वाहन किया और उसके प्रत्यक्ष होने पर उसने कहा कि–हे देव ! मुझे आपका प्रदान किया हुआ राज्य नहीं चाहिये, मुझे तो वापस मेरा चाकरपन ही लौटा दीजिये क्योंकि जिस राज्य में मेरी कोई आज्ञा नहीं मानता, उस राज्य से मुझे क्या प्रयोजन ? यह सुन कर देवने कहा कि–हे भद्र ! तू मैं बतलाऊं वह उपाय कर कि–जिससे सब कोई तेरी आज्ञा का पालन करेगें। तुं कुम्हार से मीट्टी का एक बड़े हाथी के

आकार का हाथी बनवाना और फिर उस पर बैठ कर फिरना कि जिससे कोई तेरी आज्ञा का पालन करेगा। देवपालने वैसा ही किया तो दिव्य प्रभाव से वह मीट्टी का हाथी गंधहस्ति के सदृश मार्ग में चलने लगा जिसको देख कर सब लोग आश्चर्यचकित हो उसकी आज्ञा का पालन करने लगे। फिर देवपालने अपने पूर्व के स्वामी श्रेष्ठी को प्रधानपद प्रदान किया और नदी के किनारे झौपडी में स्थापित बिंब को लाकर गांव में एक बड़ा भव्य प्रासाद बनवा कर उस में स्थापन किया। उस जिनबिंब की त्रिकाल पूजा कर देवपाल राजाने जिनशासन की प्रभावना की।

वह देवपाल राजा पूर्व के सिंह राजा की पुत्री साथ विवाह कर भोगविलास करने लगा। एक बार वह रानी राजा के साथ अपने महल के झरोखें में खड़ी थी कि–उस समय एक वृद्ध अपने सिर पर काष्ठ का बोझा लेकर उसी ओर हो कर निकला जिसको देख कर रानी तुरन्त ही मूर्च्छित हो गई। राजाने शीतोपचारद्वारा उसको सचेत किया तो उसने उस वृद्ध को महल में बुलाकर उसके समक्ष अपना सारा वृत्तान्त राजा को कह सुनाया कि–हे स्वामी! मैं पूर्व भव में इस पुरुष की स्त्री थी। उस समय मैंने तुम जिस बिंब की पूजा करते हो उसी बिंब की पूजा की थी इसलिये उस पूजा के प्रभाव से इस जन्म में मैं राजा की

पुत्री होकर आप की रानी बनी हूँ। पूर्व भव मैंने इस पुरुष को बहुत कहा था किन्तु इसने मेरे कहने पर किंचित् मात्र भी ध्यान देकर धर्म को अंगीकार नहीं किया इस से यह अभी तक इस अवस्था में है। यह सुन कर वह वृद्ध काष्ठ-वाहक धर्मानुरागी बना।

देवपाल राजाने अनुक्रम से परमात्मा की पूजा प्रभावना कर तीर्थंकरनामकर्म उपार्जन किया और अन्त में प्रव्रज्या ग्रहण कर स्वर्ग सिधारा।

जैसे रंक देवपालने जिनेश्वर की पूजा के प्रभाव से उसी भव में अश्व, हस्ती आदि सैन्य से व्याप्त राज्य को प्राप्त किया और जिनमत की प्रभावना कर तीर्थंकरनामकर्म उपार्जन किया उसी प्रकार अन्य भव्य प्राणियों को भी जिनधर्म की प्रभावना करनी चाहिये कि–जिस से अक्षय सुख की प्राप्ति हो सके।

इत्युपदेशप्रासादे तृतीयस्तंभे सप्तत्रिंशत्तमं
व्याख्यानम् ॥ ३७ ॥

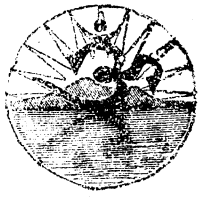

व्याख्यान ३८ वां

क्रियाकुशलतारूप तीसरा भूषण

कौशल्यं विद्यते यस्य, क्रियास्वावश्यकादिषु ।
द्वितीयेतरमाचर्यमेतत्सम्यक्त्वभूषणम् ॥ १ ॥

भावार्थः--आवश्यकादिक क्रियाओं में कुशलता को समकित का तीसरा भूषण कहते हैं। भव्य प्राणियों को इसका आदर करना चाहिये। इस विषय में उदायी राजा की निम्न लिखित कथा प्रसिद्ध है।

उदायी राजा की कथा

राजगृह नगरी के राजा कोणिक की पद्मावती नामक रानीने पूर्ण समय पर एक पुत्र प्रसव किया जिसका नाम उदायी रखा गया। एक बार राजा कुणिक उदायीकुमार को अपनी बाई जंघा पर बैठा कर भोजन कर रहा था कि-उसके आधे भोजन करने पर उस बालकने घी की धारा के सदृश मूत्र धारा राजा की थाली में चलाई। राजाने वत्सलतावश उस बालक को कुछ भी नहीं कहा और जरा भी नहीं हिला क्योंकि उसको भय था कि-उसके हिलने से मूत्र का निरोध हो कर कही बालक को कोई व्याधि उत्पन्न हो जाय। फिर राजाने उस मूत्रमिश्रित भोजन किया। अहो! मोह का कैसा विलास है? फिर स्नेह से परवश हुए राजाने

अपनी माता चेलणा से कहा कि–है माता ! इस पुत्र पर मेरा जैसा स्नेह है वैसा स्नेह न तो किसी का था, न है और न कभी होगा ही। यह सुन कर चेलणादेवीने कहा कि–हे वत्स ! तेरा स्नेह किस गिनती में है ? जैसा स्नेह तेरे पर था, उस स्नेह का एक करोड़वा अंश भी तेरा तेरे पुत्र पर नहीं है। कोणिकने पूछा कि–हे माता ! मेरे पिता का मेरे पर कैसा स्नेह था ? इस पर चेलणाने कहा कि–हे वत्स ! जब तू मेरे गर्भ में था तब मुझे तेरे पिता की आंतें खाने का दोहद उत्पन्न हुआ उसको अभयकुमारने किसी भी युक्ति से तेरे पिता की रक्षा कर पूर्ण किया। फिर पूर्ण समय पर तेरा जन्म हुआ तब ऐसा विचार कर कि–यह पुत्र इसके पिता का अहित करेगा, मैंने तेरे को तुरन्त ही दासी द्वारा उद्यान में फिकवा दिया। जहां पर एक मुर्गने तेरी टचली अंगुली को चांच से काट खाया। उस अंगुली में किड़े पड़ने से वह सड़ने लगी। मेरे द्वारा तेरे त्यागे जाने का वृत्तान्त जब तेरे पिताने सुना तो उसने मेरी निर्भर्त्सना कर स्वयं उद्यान में गया और तुझे ले आया। फिर स्नेह के आधीन होकर तेरे पिताने सर्व राजकार्य का त्याग कर तेरी अंगुली को ठीक करने का उपचार करने लगा परन्तु उस अंगुली की असह्य व्यथा के कारण तू बहुत रोने चिल्लाने लगा अतः तेरे पिताने उस अंगुली को अपने मुंह में रखा तब कही तू ने रोना बंद किया और कुछ पीड़ा की शान्ति

हुई । इस प्रकार रात दिन तेरी अंगुली को अपने मुंह में रख कर तेरे पिताने तेरे को आराम पहुंचाया । उस समय मैंने तेरे पिता को बहुतेरा समझाया परन्तु उसने मेरे कहने पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया । इस प्रकार उसका तेरे पर अपूर्व स्नेह था आदि वृत्तान्त सुन कर कुणिक राजा अत्यन्त पश्चात्ताप करने लगा । वह अपने पिता को स्वयं कैद कर राज्यसिंहासन पर बैठा था इसलिये उसको कैदखाने से मुक्त करने के लिये वह अपने हाथ में एक बड़ा दंड लेकर कैद-खाने की ओर दौड़ा । उसको उस प्रकार यमराज की भांति आता हुआ देखकर कुपुत्र के हाथ से अपमृत्यु से मरने के स्थान में अपने आप ही मरजाना उचित समझ कर श्रेणिकने शीघ्र ही तालपुट विष का आस्वादन कर मृत्यु को प्राप्त किया । पिता को आत्मघातद्वारा मृत्यु को प्राप्त हुआ देख कर अपने दुराचरण की निन्दा करता हुआ और पिता के स्नेह का स्मरण करता हुआ कुणिक अत्यन्त विलाप करने लगा । रातदिन महाशोक कर अत्यन्त दुःख का अनुभव करते हुए कुणिक राजा को देख कर उसके मंत्रियोंने उसके शोक को कम करने के लिये राजगृह से राजधानी को हटा कर चंपानगरी नामक नई राजधानी वसाई । जहां रहने से कुणिक का शोक कुछ कम हुआ ।

कुणिकराजा बहुत बलवान था इसलिये उसने अनुक्रम से दक्षिण भरतार्ध के सर्व राजाओं को पराजित कर अपने

बल से कृत्रिम चौदह रत्न बनाये और कहने लगा कि–मैं इस भरतक्षेत्र में संवृत नामक तेरवां चक्रवर्ती हूँ। इस प्रकार गर्व से भर कर वह वैताढ्य पर्वत की तमिस्रा गुहा के द्वार पर गया और उसके बंद किवाड़ों पर जोर से प्रहार किया। इस से उस गुफा के अधिष्ठायक देव कृतमाल को बड़ा क्रोध हुआ और उसने उसको उसी समय भस्म कर दिया। मंत्रीयोंने उसके बालक राजकुमार उदायी को सिंहासन पर बैठाया। उदायीकुमार भी निरन्तर अपने पिता के स्नेह का स्मरण कर शोकातुर रहने लगा, अतः उसके शोक को दूर करने के हेतु से मंत्रीयोंने नई राजधानी बनाने का विचार कर शिल्पशास्त्र में निपुण शिल्पियों को राजधानी के योग्य क्षेत्र (भूमि) की खोज में भेजा। वे शिल्पी उदयवाली भूमि की खोज करते करते गंगा नदी के किनारे उस स्थान पर पहुंचे कि–जहां अर्णिकासुत नामक मुनि के काल करने पर उसकी अस्थिये पड़ी थी जिस पर एक पाटल नामक वृक्ष उग गया था। उस वृक्ष पर एक तोता बैठा हुआ था उसके मुंह में पतंगियें स्वयमेव आ आकर गिर रहे थे। जिस प्रकार में पतंगिये स्वयमेव आ आकर तोते के आहार के लिये इसके मुंह में प्रवेश करते हैं इसी प्रकार यदि यहां पर नगर बसाया जाय तो उसके राजा के पास शत्रुवर्ग की लक्ष्मी अनायास ही भोगी जा सकेगी अर्थात् प्राप्त हो सकेगी।

इस प्रकार विचार कर उन शिल्पीयोंने उस स्थान पर राजधानी बनाने का खातमुहूर्त कर उसका नाम पाटल वृक्ष के नाम से पाटलीपुर रक्खा। उदायी राजा वहां आकर राज्य करने लगा।

उदायी राजा के वहां आने पश्चात् उसके शत्रुगण उसके प्रतापरूपी प्रचन्ड सूर्य के उदय से चकाचौंध हो अन्धे (अर्थात् शक्तिहीन) हो गये। उदायी राजाने प्रतिदिन दान, युद्ध और धर्म का बहुत विस्तार कर जैनधर्म की पृथ्वी पर सर्वत्र प्रभावना की। सद्गुरु से बारह व्रत अंगीकार किया और उनका कभी खंडन नहीं किया। उसका समकित अत्यन्त दृढ़ था। वह चार पर्वणी के चार उपवास कर, देवगुरु की वन्दना कर, छ आवश्यक की क्रिया कर, पौषध ग्रहण कर आत्मा को पवित्र करता था। उसने अपने अन्तःपुर में ही एक पौषधशाला बनवाई जिस में रात्रि के समय विश्रांति लेकर साधु के समान संथारा करता था। इस प्रकार वह जैनधर्म की सर्व क्रियाओं में अत्यन्त कुशल था।

उदायी राजाने रणसंग्राम में किसी राजा को मारा होगा इसलिये उसका पुत्र अपने पिता का वैर लेने के लिये अहर्निश चिन्ता करता रहता था परन्तु वह उदायी राजा को मारने में अशक्त था, अतः कही स्थान नहीं मिलने से वह उज्जैन में जाकर वहां के राजा की सेवा करने लगा। एक

बार उसने अवन्ती के राजा से विनति की कि-हे स्वामी ! यदि आपकी आज्ञा हो तो आपके शत्रु उदायी राजा को मैं मारडालूं परन्तु यदि मैं ऐसा कर सकूं तो आप मुझे कृपा कर मेरे पिता का राज्य वापस जीत लेने में मेरी सहायता करना। यह सुन कर राजाने उसके वचनों को हर्षपूर्वक स्वीकार किया और उसको बहुतसा द्रव्य देकर वहां से बिदा किया। वह राजपुत्र पाटलीपुर जाकर उदायीराजा का सेवक बन निरन्तर उसके छिद्र खोजने लगा परन्तु उसको कोई छिद्र नहीं मिला। राजा के गृह में उसने, निरन्तर अस्खलित गति से जैन मुनियों को आते जाते देखा, उनके अतिरिक्त अन्य किसी को भी वहां जाते नहीं देखा अतः उसने उदायीराजा के गृह में प्रवेश करने का विचार कर गुरु के समीप जाकर वन्दना कर विज्ञप्ति की कि-हे पूज्य ! मुझे संसार से वैराग्य हो गया है अतः मेरे पर कृपा कर मुझे दीक्षित कर कृतार्थ कीजिये। यह सुन कर कृपालु महात्माने उसके हृदयगत भावों को न जान कर उसे दीक्षित किया। उस मायावीने कपट से अपने ओघे में गुप्त रूप से एक कंकलोह की छूरी छिपा रखी थी। इस प्रकार उसने माया से सोलह वर्ष पर्यन्त व्रत का पालन किया, फिर भी किसी को उसकी माया का पता न चला। कहा भी है कि-

दत्तं प्रधानं श्रामण्यं, न तच्चालक्षि केनचित् ।

सुप्रयुक्तस्य दंभस्य, ब्रह्माप्यन्तं न गच्छति ॥१॥

भावार्थः—उत्कृष्ट चारित्र प्रदान किया, फिर भी उसकी माया को किसीने नहीं जाना क्योंकि अत्यन्त गुप्त कपट को ब्रह्मा भी नहीं जान सकते।

कपट में ही मन की ऐकाग्रता रखनेवाले, अस्थिर चित्तवाले उस मायावी साधुने यथास्थित व्रत का चिरकाल तक पालन किया, फिर भी कांगडु मग के सदृश उसका एक बाल भी दया के रस से आर्द्र नहीं हुआ। एक बार गुरु पाटलीपुर पधारे जिनका आगमन सुनकर उदायी राजा गुरु को वन्दना करने को आया और गुरु तथा अन्य साधुओं को वन्दना कर फिर गुरु के मुंह से व्याख्यान सुन कर अपने स्थान को लौटा। बाद में पर्वणी के दिन राजा प्रातःकाल उठ, विधिपूर्वक प्रतिक्रमण कर, अष्ट प्रकार से जिनपूजा कर गुरु के पास गया, वहां गुरु को चारसो उन्नतीस स्थानक-द्वारा उपशोभित द्वादशावर्त वन्दना कर, अतिचार की आलोचना कर, गुरु को खमा कर चतुर्थ (उपवास) का पच्चखान लिया। फिर सायंकाल को अपने अन्तःपुर की पौषधशाला में पौषध ग्रहण करने की इच्छा से राजाने गुरु को बुलवाया। कहा भी हैं कि—

जं किंचि अणुट्ठाणं, आवस्सयमाइयं चरणहेउ।
तं करणं गुरुमूले, गुरुविरहे ठवणापुरओ ॥ १ ॥

भावार्थः—चरण के हेतुरूप यदि कोई आवश्यकादिक अनुष्ठान करना हो तो गुरु के समक्ष करना चाहिये, गुरु के अभाव में स्थापनाचार्य के पास करना चाहिये।

राजा के आमंत्रण से सूरिमहाराज महेल में पधारे और सोलह वर्ष से चारित्र ग्रहण कर विनयपूर्वक गुरु की एकान्त सेवा करनेवाले उस मायावी विनयरत्न नामक साधु को भी अपने साथ ले गया। राजाने गुरु को अभिवन्दना कर शास्त्रोक्त विधिपूर्वक पौषध ले गुरु के साथ ही प्रतिक्रमण किया और प्रथम पहर के बीतने पर प्रतिलेखना कर संथारा बिछा कर उस पर कुर्कुट के समान चरण को संकोच कर सो रहा। सूरि भी धर्मदेशना देकर दूसरे पहर में सो रहे। उस समय वह दुष्ट मायावी भी थोड़ी सी देर कपट से सो कर "आज पिता के वैरी का वैर लेने का अच्छा अवसर है।" ऐसा विचार कर निद्राग्रसित राजा के कंठ पर कंकलोह की छूरी चलादी। फिर वह पापी अभव्य पौषधशाला में से निकल कर दशाजंगल जाने का बहाना बता कर द्वारपाल के नहीं रोकने से राजमहल से निकल कर अनुक्रम से नगर से बहार चल गया। इधर राजा के कंठ से रुधिर का प्रवाह चल कर गुरु के संथारे तक आया तो मानो साक्षात् आपत्ति का प्रवाह हो इस प्रकार उस रुधिर के स्पर्श से गुरुमहाराज जागृत हुए और उस प्रकार मृत्यु प्राप्त हुए राजा

को देख कर गुरु विचार करने लगे कि–अहो ! उस दुष्ट आत्माने जिनशासन को मलिन करनेवाला और युग के अन्त तक अपकीर्ति करनेवाला महादुष्ट कार्य किया है परन्तु अब मैं आत्मघात कर श्रीअरिहंत दर्शन की मनानी का रक्षण करुं। ऐसा विचार कर भवचरिम पच्चख्खाण कर उसी छूरी को अपने कंठ पर रक्खा जिससे तत्काल देह का त्याग कर स्वर्ग सिधारे। प्रातःकाल राज्यसेवकोने ऐसा अमंगल कार्य देख कर पुकार मचाई जिससे सब एकत्रित हो गये और खोज करने पर पत्ता चला कि–उस दुष्ट साधु वेषधारी की यह सारी करतूत है, अतः उसकी बहुत कुच्छ खोज की परन्तु उसका कहीं भी पत्ता न चला।

वह दुष्ट अभव्य वहां से भग कर उज्जैन पहुंचा और वहां के राजा को अपने उदायी राजा के मार डालने का सर्व वृत्तान्त यथास्थित कह सुनाया जिसको सुन कर राजाने उसका अत्यन्त तिरस्कार कर कहा कि–अरे दुष्ट! तुझे धिक्कार है। अरे अप्रार्थ्य (मृत्यु) का प्रार्थी ! काली चवदस का जन्म हुआ महापापी ! तेरा मुंह काला कर। हे पापीष्ट ! धर्म के बहाने धर्म करते हुए उदायी राजा का तूने घात किया है। ऐसा अधर्म कार्य करनेवाला तू मेरे देश में से ही चला जा। इस प्रकार अत्यन्त निर्भर्त्सना कर उसको अपने देश से बाहर निकलवा दिया। पापी पुरुष को किसी

भी स्थान पर अपनी इच्छा की सिद्धि नहीं हो सकती। वह दुष्ट अभव्य था इस से बारह वर्ष तक आगम का श्रवण किया, कराया और अनेक प्रकार की धर्मक्रिया की परन्तु वह सब निष्फल हुआ।

उदायी राजा उस प्रकार की धर्मक्रिया में कुशल होने से मृत्यु को प्राप्त कर देवलोक में गया और उसके गद्दी पर नंद राजा बना।

इस प्रकार बृहद् पृथ्वी को भोगनेवाले श्रीउदायी राजा के आश्चर्यकारक मनोहर चरित्र को कमल सदृश कर्ण में धारण कर हे पंडित पुरुषों! तुम भी श्रीजैनधर्म की क्रियाओं में कुशलता प्राप्त कर समकित प्राप्त करो कि जिससे तुम को भी मनोवाञ्छित लक्ष्मी का आनन्दपूर्वक आलिंगन हो सके।

इत्युपदेशप्रासादे तृतीयस्तंभे अष्टत्रिंशत्तमं
व्याख्यानम् ॥ ३८ ॥

व्याख्यान ३९ वां

अरिहंतादिक के विषय में अंतरंगभक्तिरूप चोथा भूषण.

यथार्हमर्हदादीनां, यद्भक्तिरान्तरीयकी ।
अलंकारश्चतुर्थः स्यात्सम्यक्त्वगुणद्योतकः ॥१॥

भावार्थः—यथायोग्य अर्हिसादिक की अभ्यन्तर भक्ति करना सम्यक्त्व गुण का उद्योतक चोथा भूषण कलहाता हैं।

धर्म पर अंतरंग प्रीति के विषय में एक स्त्री का दृष्टान्त प्रसिद्ध है—

एक स्त्री का दृष्टान्त.

राजपुर नगर में अमिततेज राजा के राज्यत्वकाल में एक परिव्राजक रहता था। वह मंत्रों का जाननेवाला था और विद्या के बल से नगर में सर्वत्र चोरी किया करता था तथा लोगों की स्वरूपवती स्त्रियों का हरण किया करता था। कहा भी है कि—

जं जं पासई जुवमणतेणिं,
अलिऊलसामलकुंतलवेणिं ।
भालत्थलअट्ठमिससिकरणिं,
मयणंदोलत्तोलियसवणिं ॥ १ ॥

रूवविणिज्जियसुरवरतरुणिं,
रइरससायरतारणतरणिं ।
तणुपहदासीकयनवतरणिं,
तं तं सामिय हरइ स रमणिं ॥ २ ॥

भावार्थः—भ्रमर के सदृश श्याम केशपासवाली, अष्टमी के चन्द्र सदृश शोभित कपालवाली, कामदेव के आंदोलन (झूले) सदृश कर्णवाली, स्वस्वरूप से देवांगनाओं को लज्जित करनेवाली, क्रीड़ारस के सागर को पार करने में प्रवहण सदृश, स्वशरीर की कान्ति से नये उगनेवाले सूर्य को भी मलिन करनेवाली, आदि जिन जिन स्त्रियों को वह देखता था उन उनका वह अवश्य अपहरण करता था ।

उसके दुःख से व्याकुल होकर पुरवासियोंने जब राजा के पास जाकर पुकार की तो राजा स्वयं उस चोर की खोज करने को निकला। पांचवें दिन राजाने किसी पुरुष को ग्राम से सुगन्धित वस्तुए तैल, ताम्बूल आदि खरीद करते हुए देखा। उसीको चोर जान कर राजा उसके पीछे पीछे ही चला। अरण्य में पहुंचने पर वह पुरुष एक बड़ी शिला से ढ़के हुए अपने गुप्त गृह में जाने के लिये शिला को हटाने लगा कि–राजाने अपने खड्ग से उसका सिर धड़ से अलग कर दिया और पुरवासियों को बुला कर उस गुप्त गृह में से

सब को अपनी अपनी वस्तुऐ लौटा दी तथा सर्व स्त्रियों को बहार निकाल कर जिस जिसकी जो जो स्त्री थी उस उसको सिपुर्द कर दिया। उन में से एक स्त्री उस परिव्राजक के कामण से अस्थि मज्जा पर्यंत उस पर रागी हो गई थी अतः उसने परिव्राजक के साथ जल मरना निश्चय किया किन्तु अपने स्वामी के पास रहना उसने स्वीकार नहीं किया, इस पर किसी मंत्र के जाननेवालेने उसके स्वामी से कहा कि-यदि उस परिव्राजक की अस्थि को पानी में पीस कर उसको पिलाया जाय तो उस परिव्राजक का किया हुआ कामण दूर हो जायगा और इसको अपनी स्वस्थिति का भान हो जायगा। यह सुन कर उस स्त्री के स्वामीने वैसा ही किया जिससे उसका स्नेह परिव्राजक से हठ कर वापस उसके स्वामी पर हो गया।

इस दृष्टान्त का उपनय (तात्पर्य) यह है कि-जिस प्रकार उस स्त्रीने परिव्राजक पर दृढ़ अनुराग किया था उसी प्रकार यदि जैनधर्म पर दृढ़ अनुराग रखा जाय तो अवश्य मोक्षपद की प्राप्ति हो सकती है।

इस सम्बन्ध में जीर्णश्रेष्ठी की निम्नलिखित कथा भी प्रसिद्ध है—

ध्यातः परोक्षेऽपि जिनस्त्रिभक्त्या,
जीर्णाभिधश्रेष्ठीवदिष्टसिद्धये ।

सिन्धुप्रवृद्धये कुमुदौघलक्ष्म्यै,
चकोरतुष्टै विधुरभ्रगोऽपि ॥ १ ॥

भावार्थः—जिस प्रकार बादलों से आच्छादित होने पर भी चन्द्रमा सागर की वृद्धि, कुमुद समूह की लक्ष्मी (विकाश) और चकोर पक्षी की प्रीति का हेतु होता हे उसी प्रकार परोक्ष जिनेश्वर का भी यदि मन, वचन और काया द्वारा शुद्ध भक्ति से ध्यान किया जाय तो वह जीर्णश्रेष्ठी के सदृश इष्टसिद्धि की प्राप्ति का हेतु होता है ।

विशाला नगरी के उद्यान में श्रीमहावीरस्वामी चातुर्मासी तप कर प्रतिमा धारण कर रहे थे कि–उस नगर के निवासी जीर्णश्रेष्ठीने प्रभुसे प्रार्थना की कि–हे प्रभु ! आज मेरे घर पधार कर मुझे पारणे का लाभ दीजिये । ऐसा कह कर वह श्रेष्ठी अपने घर चला गया । भोजन के समय उसने बहुत देर तक प्रभु की राह देखी किन्तु प्रभु नहीं आये तो दूसरे दिन यह विचार कर कि–आज छट्ठ का पारणा होगा, प्रभु के पास जाकर बोला कि–हे कृपासागर स्वामी ! आज मुझे तथा मेरे घर को पवित्र करने को पधारना । उस समय स्वामी मौन ही रहे (अर्थात् कुछ भी नही बोले) । इस प्रकार जीर्णश्रेष्ठी सदैव आआकर प्रभु को निमन्त्रण करता रहता था । ऐसा करते करते जब चातुर्मास पूर्ण हुआ तो चातुर्मास

के अन्त में उसने यह विचार कर कि-अवश्य आज जिनेश्वर का पारणे का दिन होना चाहिये। प्रभु से कहा कि-दुःसाध्य संसाररूपी व्याधि को निवारण करने में धन्वन्तरी वैद्य के सदृश हे स्वामी! कृपादृष्टि से मेरे सामने देख कर आज तो अवश्य मेरी प्रार्थना को स्वीकार करना। ऐसा कह कर अपने घर चला गया। मध्याह्न समय हाथ में मोतियों का थाल लेकर प्रभु को बांदने के लिये घर के द्वार पर खड़ा होकर विचार करने लगा कि-आज विश्वबन्धु भगवान् यहां पधारेंगे, उनको मैं परिवार सहित वन्दना कर घर में ले जाउंगा और श्रेष्ठ भोजन तथा जलद्वारा मैं उनका सत्कार कर शेष अन्न को मैं खाउंगा आदि मनोरथ की श्रेणि पर आरुढ़ हो कर उसने बारवें देवलोक के योग्य कर्म का उपार्जन किया। उस समय श्रीभगवान् अभिनव नामक श्रेष्ठी के घर भिक्षार्थ पधारे। उस श्रेष्ठी के यहां समय हो जाने से सब भोजन कर रहे थे अतः कुछ भी भोजन नहीं होने से थोड़े से बचे हुए उड़द के बाकले बहरायें। उस दान के प्रभाव से वहां पंच द्रव्य प्रकट हो गये। उस समय दुन्दुभी का शब्द सुन कर जीर्णश्रेष्ठीने विचार किया कि-अहो! मुझे धिक्कार है। मैं अधन्य हूँ कि-जिससे प्रभु मेरे घर पर नहीं पधारे। ऐसा विचार करते हुए उसको ध्यान भंग हुआ।

फिर उस ग्राम में कोई ज्ञानी मुनि पधारे जिन को

राजाने कहा कि–हे पूज्य ! मेरा नगर धन्य है कि–जहां श्रीमहावीर प्रभु को पारणा करानेवाला भाग्यशाली अभिनव श्रेष्ठी रहता है। यह सुन कर मुनिने कहा कि–हे राजा ! ऐसा न कहो। यद्यपि अभिनव श्रेष्ठिने प्रभु की द्रव्यभक्ति की फिर भी भावभक्ति तो जीर्णश्रेष्ठीने ही की है अतः सच्चा पुण्यवान तो जीर्णश्रेष्ठी है। यदि जीर्णश्रेष्ठीने उस समय भावना भाते हुए देवदुन्दुभी का शब्द नहीं सुना होता तो उसको उसी समय उज्वल केवलज्ञान प्राप्त हो जाता। इस प्रकार गुरु के वचन सुन कर राजा आदि अन्य सब लोग देवगुरुभक्ति के विषय में आदरवंत हो अपने स्थान को लौट गये।

श्रीवीरप्रभु के विषय में भक्तियुक्त चित्तवाला जीर्णश्रेष्ठी बारहवें स्वर्ग का सुख भोग कर अनुक्रम से शिवपद (मोक्षपद) को प्राप्त करेगा।

इत्युपदेशप्रासादे तृतीयस्तंभे एकोनचत्वारिंशत्तमं व्याख्यानम् ॥ ३९ ॥

व्याख्यान ४० वां

पांचवा तीर्थसेवारूप समकित का भूषण

तीर्थानां सततं सेवा, संगः संविज्ञचेतसाम् ।
कथिता तीर्थसेवा सा, पंचमं बोधिभूषणम् ॥१॥

भावार्थः--निरन्तर तीर्थसेवा करना तथा संवित चित्तवाले मुनियों का संग करना तीर्थसेवा नामक पांचवा समकित का भूषण कहलाता है।

जिससे संसाररूप सागर तैरा जासके उसे तीर्थ कहते हैं। श्रीशत्रुंजय, अष्टापद आदि जो तीर्थ हैं उनकी निरन्तर सेवा अर्थात् यात्रा करनी चाहिये। संविज्ञ चित्तवाले साधुओं का संसर्ग करना चाहिये। कहा भी है कि—

साधूनां दर्शनं पुण्यं, तीर्थभूता हि साधवः ।
तीर्थः फलति कालेन, साधवस्तु पदे पदे ॥१॥

भावार्थः—साधुओं का दर्शन करना पुन्यरूप है क्यों कि-साधु जंगम तीर्थरूप है। स्थावर तीर्थ तो काल के आने पर फलदायक होता हैं परन्तु जंगम तीर्थ साधु तो पद पद पर फलदायक है।

इस प्रकार सतीर्थ की सेवा से बड़ा भारी लाभ होता है परन्तु अप्रशस्त तीर्थ की सेवा से कोई लाभ नहीं होता। इस पर एक दृष्टान्त कहा गया है कि—

लौकिक तीर्थसेवा पर तुंबडी का दृष्टान्त

न श्लाघ्यतीर्थैरमलीभवन्ती,
जीवादुरन्तैर्दुरितः प्रलिप्ताः ।
मीष्ठा सुतीर्थे स्नपितापि,
मातुर्वाग्भिस्तनूजेन न तुंबिकासीत् ॥ १ ॥

भावार्थः—दुरन्त पापों से लिप्त हुए जीव प्रशस्त तीर्थों के करने से भी निर्मल नही होते । माता की आज्ञानुसार पुत्रने तुंबडी को सुतीर्थ में स्नान कराया परन्तु फिर भी वह मीठी नहीं हुई ।

विष्णुस्थल नगर में गोमती नामक एक सार्थवाह की स्त्री परम श्राविका थी । उसके गोविन्द नामक एक पुत्र था । वह बड़ा भारी मिथ्यात्वी था । माताने उसे जैनधर्म की शिक्षा देने का अत्यन्त परिश्रम किया परन्तु उसने मिथ्यात्व का त्याग नहीं किया । एक बार गोविंद तीर्थयात्रा करने को तैयार हुआ तो उसकी माताने उससे कहा कि—हे वत्स ! गंगा, गोदावरी, त्रिवेणीसंगम, प्रयाग आदि लौकिक तीर्थों में जल, दर्भ और मिट्टी आदिद्वारा स्नान करने से हिंसा, असत्य, चोरी आदि से उपार्जन किये हुए पाप का नाश नहीं होता है । इस प्रकार अनेक प्रकार से समझाने बुझाने पर भी जब उस पुत्रने अपना हठ नहीं छोड़ा तो उसको

बोध करने के लिये उसने एक कड़वी तुंबड़ी देकर कहा कि–हे पुत्र ! मेरा एक बचन अवश्य स्वीकार सब तीर्थों में फिरना कि–तेरे साथ साथ विधिपूर्वक इस तुम्बड़ी को भी स्नान कराना। यह सुन कर माता की आज्ञा सिरोधार्य कर गोविन्द अपनी इच्छानुसार तीर्थयात्रा को निकला और अनेकों तीर्थों में जाकर माता के कथनानुसार अपने साथ साथ उस तुम्बड़ी को भी विधिपूर्वक स्नान कराया और अनेक स्थान पर मुंडन करा, हाथों पर अनेकों छापें लगवा अपने ग्राम को लौटा और अपने घर आकर माता को विनयपूर्वक वन्दना कर तुम्बड़ी का सब वृत्तान्त कह कर उसे लौटा दिया। भोजन करने के समय गोविन्द जब भोजन करने बैठा तो उसकी माताने उस कड़ी तुम्बड़ी का शाक बना कर रक्खा। गोविन्दने उस शाक में से लेशमात्र ही चखा कि–शीघ्र ही चिल्ला उठा अरे ! यह शाक तो विष तुल्य कड़वा है, यह नहीं खाया जा सकता। इस पर माताने उत्तर दिया कि–है पुत्र ! जिस तुम्बड़ी को तूने सर्व तीर्थों में स्नान कराया है उस में कडुवापन क्यों कर रह सकता है ? गोविन्दने उत्तर दिया कि–हे माता ! जल में स्नान कराने से इसके अन्दर का कडुवापन क्यों कर दूर हो सकता है ? माताने पूछा कि–हे वत्स ! जब इसका कडुवापन का दोष नहीं गया तो फिर हिंसा, मृषावाद, चोरी, मैथुन आदि आत्मा को लगे हुए पापसमूह केवल

स्नान मात्र से क्यों कर दूर हो सकते है ? इस प्रकार माता के वचनों की सत्यता से आकर्षित होकर गोविन्दने माता के साथ गुरु के पास जा श्रावक धर्म अंगीकार किया और अन्त में शत्रुंजय तीर्थ पर सिद्धिसुख को प्राप्त किया।

इस प्रसंग पर एक और निम्नस्थ दृष्टान्त है—

सुतीर्थ की यात्रा पर त्रिविक्रम की कथा

श्रावस्ती नगरी में त्रिविक्रम नामक राजा था। वह एक बार अरण्य में गया तो वहां एक पक्षी को अपने गोसलें से विरल शब्द करते सुना उसे अपशुकन समझ राजाने उस पर बाण का प्रहार किया जिसके फलस्वरूप वह शीघ्र ही पृथ्वी पर आ गिरा और छटपटाने लगा जिसको देख कर राजा को बड़ा रहम आया अतः वह पश्चात्ताप करता हुआ वहां से आगे बढ़ा। थोड़ी दूर जाने पर उसने एक महामुनि को देखा तो उनको नमन कर उनके सामने बैठ गया। मुनिने जब उसको अहिंसा धर्म का उपदेश किया तो राजाने विचार किया कि—अहो ! मैने जो हिंसक कर्म किया है उसको किसीने नहीं देखा फिर भी इस मुनिने जान लिया है अतः उस पाप का नाश करने के लिये मुझे ऐसे ज्ञानी मुनि के पास दीक्षा ग्रहण कर लेना चाहिये। ऐसा विचार कर राज्य का तृणवत् त्याग कर राजाने उस मुनि के पास दीक्षा ग्रहण की। अनुक्रम से उग्र तपस्या करने पर

उस राजर्षि को तेजोलेश्या उत्पन्न हुई और वह पृथ्वी पर यथेष्ट विहार करने लगा।

वह पक्षी मर कर भील हुआ। एक बार उसने उस राजर्षि को विहार करते देख कर पूर्व भव के वैर के कारण उस पर क्रोधित हो यष्टिप्रहार किया, इस पर राजर्षिने मुनिपन का भान भूल कर उसे तेजोलेश्याद्वारा भस्म कर दिया। वह मर कर किसी वन में सिंह बना, वहां भी वह राजर्षि को देख कर पूछ घूमाता हुआ उस पर टूट पड़ा तो उस समय भी मुनिने तेजोलेश्याद्वारा उसको जला डाला। वहां से मर कर वह हाथी हुआ। वह हाथी भी उस मुनि को देख कर उसके ऊपर झपटा तो उसको भी मुनिने जला दिया। फिर वह हाथी वन का सांढ हुआ तो उसको भी मुनिने जला दिया। वहां से वह सांढ सर्प बन मुनि को काटने को दौड़ा तो उस समय भी मुनिने उसको मार डाला, तत्पश्चात् वह सर्प ब्राह्मण हुआ और मुनि की निन्दा करने लगा तो अनुक्रम से मुनिने उसको भी भस्म कर दिया। अहो! निर्विवेकी को संवर किस प्रकार हो सकता है?

इस प्रकार ममता रहित होने पर भी मुनिने सात हत्याओं की। योगीश्वर हो कर भी ऐसे पाप कर्म किये। अहो! कर्म की कैसी विचित्र गति है? फिर वह ब्राह्मण

यथाप्रवृतिकरण के कारण शुभ कर्म के उदय से बाराणसी पुरी में महाबाहुक नामक राजा हुआ। वह राजा एक बार अपने महल की खिड़की के पास खड़ा हुआ था कि-उसने किसी मुनि को जाता हुआ देख कर इहापोह करने से उस को जाति स्मरण ज्ञान प्राप्त हो गया और उसने अपने सातों भवों को देखा, अतः विचार करने लगा कि-अहो ! मैं उस मुनि के पाप का कारण हूँ। एसा विचार कर उस मुनि की परीक्षा के लिये उसने एक लाख स्वर्णमुद्रा देने की घोषणा कराई। वह श्लोक इस प्रकार था—

विहगः शबरः सिंहो, द्वीपी संदः फणी द्विजः ।

इस अर्द्ध श्लोक को पूर्ण करने के लिये सब लोग निरन्तर चलते फिरते उसको बोलते रहते थे परन्तु कोई भी उस श्लोक की पूर्ति नहीं कर सके। अन्त में वे ही राजर्षि घूमते फिरते बाराणसी नगरी में आये और ग्राम के बाहर किसी ग्वाल के मुंह से उस अर्द्ध श्लोक को उच्चारण करते हुए सुना अतः क्षणवार विचार कर उस मुनिने इस प्रकार उसका उत्तरार्द्ध पूर्ण किया कि—

येनामी निहनाः कोपात्, स कथं भविता हहा ॥

यह उत्तरार्द्ध सुन कर उस ग्वालने राजा के पास जा उस श्लोक की पूर्ति की और धृष्टतापूर्वक राजा से कहा कि-यह समस्या मैंने ही पूर्ण की है। यह सुन कर राजाने

विस्मित हो जब उसको धमका कर पूछा तो उसने उस मुनि का नाम बतला कर सब बात सत्य सत्य वर्णन की। यह सुन कर राजा उस मुनि के पास गया और उनसे क्षमा याचना की। राजाने उसको सातों भवों का वृत्तान्त सुनाया अतः मुनिने भी उसको खमाया। इस प्रकार दोनों ही परस्पर अपने अपराध की निंदा गर्हा करते हुए चिरकाल तक प्रीति से बातें करते रहे।

उस समय उस नगरी में कोई केवलज्ञानी मुनि पधारे जिनको वन्दना कर उन दोनोंने अपने अपनी पाप की आलोयणा मागी, इस पर केवलीने उत्तर दिया कि–तुम्हारे पाप का विना शत्रुंजय तीर्थ की यात्रा किये उग्र तपों से भी नाश नहीं होगा। यह सुन कर राजाने भी दीक्षा ग्रहण की। फिर उन दोनोने शत्रुंजय तीर्थ की यात्रा कर, भाव से संयम का पालन कर, हत्यादिक पाप का नाश कर, शत्रुंजय तीर्थ पर सिद्धिपद को प्राप्त किया।

इस प्रकार समकित के अन्तिम भूषण–तीर्थसेवा की प्रशंसा सुना कर हे भव्य जीवो! तुम को भी कुविकल्प समूह का त्याग कर सुतीर्थ की सेवा करनी चाहिये।

इत्युपदेशप्रासादे तृतीयस्तंभे चत्वारिंशत्तमं व्याख्यानम् ॥ ४० ॥

व्याख्यान ४१ वां

समकित के पांच लक्षणों में से प्रथम शम नामक लक्षण.

शमैः शाम्यति क्रोधादीन्नपकारे महत्यपि ।
लक्ष्यते तेन सम्यक्त्वं, तदाद्यं लक्षणं भवेत् ॥१॥

भावार्थः—अपने बड़े अपकार करनेवाले पर भी शम-भाव रख कर क्रोधादिक को शान्त रखना शम नामक प्रथम लक्षण कहलाता है। इसी से समकित की पहचान होती है अर्थात् जिस में ऐसा शम हो वह समकितवंत कहलाता है।

इस प्रसंग पर निम्नलिखित कुरगडु मुनि का दृष्टान्त प्रसिद्ध है—

कुरगडु मुनि की कथा

विशाला नगरी में किसी आचार्य का शिष्य मासक्षपण के पारणे के समय किसी एक क्षुल्लक साधु के साथ स्थंडिल जाते थे। मार्ग में प्रमाद के कारण उस तपस्वी के पैर के नीचे एक छोटे मेढ़क के आजाने से वह मारा गया, जिसको देख कर क्षुल्लक साधु उस समय चुप हो रहें। प्रतिक्रमण के समय जब उस तपस्वी साधुने उस पाप की आलोयणा नहीं ली तो उस क्षुल्लक साधुने स्मरण दिलाया कि—हे तपस्वी! तुम उस पाप की त्रिकरण शुद्धिपूर्वक आलोचना

क्यों नहीं करते ? यह सुन कर उस तपस्वीने बिचार किया कि-यह दुष्टबुद्धि क्षुल्लक साधु सर्व साधुओं के समक्ष मेरा तिरस्कार करता है अतः मुझे इसे इसका फल चखाना चाहिये। ऐसा विचार कर वह उसे मारने को दौड़ा। क्रोध से अन्धे उस तपस्वी व क्षुल्लक साधु के बीच में एक स्थंभ के आजाने से वह जोर से उसके साथ टकराया और तुरन्त ही पृथ्वी पर गिर मूर्छा खाकर मृत्यु को प्राप्त हुआ। क्रोध-वश व्रत की विराधना करने से वह मर कर ज्योतिषी देवता हुआ जहां से आयुष्य के पूर्ण होने पर चव कर दृष्टिविष सर्प के कुल में देवताधिष्ठित सर्प हुआ। उस सर्प के कुल में अन्य सर्व सर्प पूर्वभव के पाप की आलोचना नहीं करने से ही उत्पन्न हुए थे जो जातिस्मरण उत्पन्न होने से आहारशुद्धि करते थे। उनको देख कर इस नये सर्प को भी पूर्व मुनि के भव में की हुई आहार गवेषणा का स्मरण करते हुए जाति-स्मरण ज्ञान प्राप्त हो गया, अतः मेरी दृष्टि से किसी भी जीव का नाश न हो ऐसा विचार कर वह सर्प सारे दिन अपने बिल में ही मुंह छुपा कर पड़ा रहता था और रात्रि में केवल प्रासुक वायु का ही सेवन करता रहता था।

एक बार कुंभ नामक राजा का पुत्र सर्पदंश से मृत्यु प्राप्त हो गया इससे वह सर्प जाति पर क्रोधित होकर सर्प मात्र को मारने लगा। उसने घोषणा की कि-जो कोई

पुरुष जितने सर्प मारेगा उसको उसके बदले में उतनी ही स्वर्णमुद्रा इनाम दी जायगी। कई पुरुषोंने धन के लोभ से सर्प को आकर्षण करने की विद्या (मंत्र) का अभ्यास किया। एक बार कोई पुरुष उस दृष्टिविष सर्प के बिल के समीप जाकर सर्पविद्या के मंत्र का उच्चारण करने लगा इससे उस सर्प का बिल में रहना अशक्य होने से उसने विचार किया कि–मेरे को देख कर अन्य जीवों का नाश नहीं होना चाहिये। ऐसा विचार कर उसने अपना मुंह बिल ही में रख कर केवल पूछ को बाहर की ओर निकाला जिसको हिंसकोने काट डाला। इस पर अपना वह पीछे का भाग शनैः शनैः बाहर निकालने लगा परन्तु उसको हिंसकोने काट डाला। इस प्रकार करते हुए उन्होंने सर्प के सम्पूर्ण शरीर के टुकड़े टुकड़े कर दिये। उस समय सर्पने विचार किया कि–हे चेतन! तेरे इस देह के टुकड़े होने के मीष तेरे दुष्कर्म के ही टुकडे हो रहे हैं अतः हे जीव! परिणाम में हितकर इस व्यथा को तू समतापूर्वक सहन कर। इस प्रकार शुभ ध्यान को ध्याते हुए वह सर्प मृत्यु को प्राप्त कर उसी कुंभ राजा की राणी की कुक्षी में अवतृत हुआ।

नागदेवताने राजा को स्वप्न में आकर कहा कि–हे राजा! अब तू सर्पों का घात न कर, तेरे एक पुत्ररत्न उत्पन्न होगा। इस पर राजाने सर्पों की हिंसा का त्याग किया

और अनुक्रम से समय के पूर्ण होने पर रानीने पुत्र प्रसव किया। राजाने स्वप्न के अनुसार उसका नाम नागदत्त रक्खा। उसके युवावस्था को प्राप्त होने पर एक बार वह जब अपने महल की खिड़की के समीप खड़ा हुआ था उस समय उसको एक मुनि का उस ओर जाते देख कर जातिस्मरण ज्ञान हो गया, अतः उसने वैराग्य उत्पन्न होने से आग्रहपूर्वक माता पिता की आज्ञा लेकर सुगुरु के समीप जा दीक्षा ग्रहण की।

उस साधु के तिर्यंचयोनी से आने के कारण व क्षुधा-वेदनीय का उदय होने से पोरिसी का भी प्रत्याख्यान नहीं कर सकते थे अतः गुरुने उनसे कहा कि-"हे वत्स! तू केवल क्षमा का फल ही पूर्णरूप से पालन कर जिससे तुझे सर्व तप का फल प्राप्त हो सकेगा।" यह सुन कर वह गुरु की आज्ञानुसार चलने लगा। वह साधु सदैव प्रातःकाल होते ही एक गडुक प्रमाण कूर (चांवल) लाकर अपने उपयोग में लाते थे तब ही उनको शांति मिलती थी, अतः लोक में वे कूरगडु का नाम से प्रसिद्ध हुए।

उस गच्छ में चार तपस्वी साधु थे। जिन में पहेले साधु मासोपवासी थे, दूसरे दो मास के उपवासी थे, तीसरे तीन मास के उपवासी थे और चोथे चार मास के उपवासी थे। वे चारों तपस्वी कूरगडु मुनि को नित्यभोगी कह कर

उसकी निन्दा किया करते थे। एक बार शासनदेवीने वहां आकर कूरगडुक मुनि को वन्दना कर तथा अनेक प्रकार से उनकी वन्दना कर सर्व साधुओं के समक्ष कहा कि-"इस गच्छ में आज से सातवें दिन प्रथम एक मुनि को केवलज्ञान प्राप्त होगा।" यह सुन कर उन चारों साधुओंने कहा कि-"हे देवी ! हमारा अनादर कर तूने इस कूरगडुक साधु को वन्दना क्यों की है?" इस पर देवीने उत्तर दिया कि-"मैं भाव तपस्वी को वन्दना करती हूँ।" बाद वह अन्तर्ध्यान होगई।

सातवें दिन कूरगडु मुनिने जब शुद्ध आहार लाकर गुरु तथा उन तपस्वियों को दिखाया तो उस तपस्वियों के मुंह से श्लेष्म आया जिसको उन्होंने उस आहार में फेंक दिया। इस पर कूरगडुने विचार किया कि—

धिङ्मां प्रमादिनं स्वल्पतपःकर्मोज्झितः सदा।
वैयावृत्यमपि ह्येषां, मया कर्तुं न शक्यते ॥१॥

भावार्थः—"मुझ प्रमादी को धिक्कार है कि-मैं निरन्तर अल्प मात्र तपस्या से भी वंचित रहता हूँ अपितु इन तपस्वियों की वैयावच्च तक नही कर सकता।" इस प्रकार आत्मनिन्दा करते हुए तथा निःसंकोच होकर आहार करते हुए शुक्लध्यान में आरुढ़ होने से उस मुनि को केवलज्ञान

प्राप्त हो गया। देवताओंने उसकी महिमा का बखान किया जिसको देख कर उन चारों तपस्वियोंने विचार किया कि–"अहो! सचमुच यह मुनि ही भावतपस्वी है जब कि–हम चारे द्रव्य तपस्वी है" ऐसा विचार कर उन चारों तपस्वियोंने उस केवली से क्षमा याचना की। उस समय मन, वचन और काया की शुद्धि से खमाते हुए उन चारों को भी एक ही साथ चरमज्ञान (केवलज्ञान) प्राप्त हो गया और अनुक्रम से उन पांचों केवलीने मोक्षपद को प्राप्त किया।

शांति, क्षमा, क्षांति, शम आदि नामोंने इस गुण के सूत्रों में समकित का प्रथम लक्षण कहा गया है। यह शम गुण धर्म प्रथम गुण होकर अन्तिमज्ञान को देनेवाला है, अतः भव्य जीवो! तुम्हे इस शमता गुण को धारण करना चाहिये।

इत्युपदेशप्रासादे तृतीयस्तंभे एकचत्वारिंशत्तमं व्याख्यानम् ॥ ४१ ॥

व्याख्यान ४२ वां

समता का दूसरा संवेग नामक लक्षण

दुःखत्वेनानुमन्वानः, सुरादिविषयं सुखम् ।
मोक्षाभिलाषसंवेगाञ्चितो हि दर्शनी भवेत् ॥१॥

भावार्थः—जो पुरुष देवादिक के सुखों को भी दुःख सदृश समझते हैं, और मोक्ष के अभिलाषारूप संवेग सहित हों उनको समकितवंत कहते हैं।

इस सम्बन्ध में निर्ग्रन्थ मुनि का प्रबन्ध बतलाया है—

निर्ग्रन्थ (अनाथी) मुनि की कथा

राजगृह नगर में श्रेणिक राजा राज्य करते थे। उसने ग्राम के बाहर उद्यान में क्रीडा करते समय एक अत्यन्त कोमल शरीरवाले तथा जगत को विस्मय करनेवाले अत्यन्त रूपवान मुनि को समाधि में तत्पर देख कर विचार किया कि—

अहो अस्य मुने रूपमहो लावण्यवर्णिका ।
अहो सौम्यमहो क्षान्तिरहो भोगेष्वसंगता ॥१॥

भावार्थः—अहो! इस मुनि का स्वरूप! अहो! इसके लावण्य की कर्णिका! अहो! इसकी सौम्यता! अहो! इसकी क्षमा! और अहो! इसकी भोग में भी असंगति अर्थात् ये सर्व अप्रतिम है।

इस प्रकार विचार कर उसको ध्यान में मग्न देख राजाने उसके चरणकमलों में झुका प्रणाम कर पूछा कि-"हे पूज्य ! ऐसी युवावस्था में आपने ऐसा दुष्कर व्रत क्योंकर ग्रहण किया ? मुझे इसका कारण बतलाइये।" इस पर मुनिने उत्तर दिया कि—

मुनिराह महाराज ! अनाथोऽस्मि पतिर्न मे ।
अनुकंपाकराभावात्तारुण्येऽप्यादृतं व्रतम् ॥१॥

भावार्थः--"हे महाराज ! मैं अनाथ हूँ। मेरा कोई स्वामी नहीं है, मेरे पर अनुकंपा करनेवाले का अभाव होने से मैंने युवावस्था में ही व्रत ग्रहण किया है।"

यह सुन कर श्रेणिक राजाने हँसी उड़ाते हुए कहा कि-

वर्णादिनामुना साधो !, न युक्ता ते ह्यनाथता ।
तथापि ते त्वनाथस्य, नूनं नाथो भवाम्यहम् ॥१॥
भोगान् भुंक्ष्व यथास्वैरं, साम्राज्यं परिपालय ।
यतः पुनरिदं मर्त्यजन्मातीव हि दुर्लभम् ॥२॥

अर्थात्--"हे साधु ! तुम्हारे इस रूप आदि को देखते हुए तुम्हारे अनाथ होने की बात अयुक्त जान पड़ती है तिस पर भी यदि तुम अनाथ हो तो मैं तुम्हारा नाथ बनने को तैयार हूँ, अतः तुम यथेच्छ भोग भोगो और मेरे साम्राज्य का प्रतिपालन करो। इस मनुष्य जन्म का फिर से

प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है अर्थात् ऐसी युवावस्था को बिना भोग भोगे निष्फल जाने देना योग्य नहीं है।"

यह सुन कर मुनिने उत्तर दिया कि-"हे राजा! जब तुम स्वयं ही अनाथ हों तो फिर मेरे नाथ किस प्रकार हो सकते है?" इस प्रकार पहेले कभी भी नहीं सुने हुए वाक्यों को सुन कर आश्चर्यचकित हो राजाने फिर से प्रश्न किया कि-"हे मुनि! तुम्हारा ऐसा कहना अयोग्य है क्यों कि मैं अनेको हस्तियों, अश्वों, रथों और स्त्रियों आदि का प्रतिपालन करने से उनका स्वामी हूँ, फिर तुम मुझे अनाथ क्यों कर बतलाते हो?" इस पर मुनिने भी हँस कर उत्तर दिया कि-"हे राजा! तुम अभीतक अनाथ और सनाथ के मर्म को नहीं जानते अतः उस विषय को मैं तुम्हें मेरे दृष्टान्त से ही समझाता हूँ सो सुनिये--

कौशांबी नगरी का महीपाल राजा मेरा पिता है। मैं उसका पुत्र हूँ। मुझे बाल्यावस्था में नैत्र की पीड़ा उत्पन्न हुई और उसके द्वारा मेरे सम्पूर्ण शरीर में दाहज्वर उत्पन्न हुआ। मेरी व्यथा को दूर करने के लिये अनेकों मंत्र-वादियों तथा वैद्योंने अनेक उपाय किये परन्तु वे मेरी व्यथा को शान्त नहीं कर सके। मेरे पिताने भी मेरे लिये सर्वस्व अर्पण कर देना स्वीकार किया परन्तु मुझे दुःख से मुक्त न कर सके अतः मैं अनाथ हूँ। मेरे पिता, माता, भ्राता, बहेन,

स्त्री आदि सर्व स्वजन मेरे पास बैठ कर रुदन करते रहते थे और भोजन का भी त्याग कर निरन्तर मेरे पास ही बैठे रहते थे किन्तु फिर भी वे मेरे दुःख का अन्त नहीं कर सके अतः यह ही मेरी अनाथता है। उसके पश्चात् मैंने विचार किया कि-"इस अनादि संसार में इससे भी अधिक वेदनायें अनेक बार मैंने सहन की होगी, परन्तु आज इतनी सी वेदना भी सहन करने में अशक्त हूँ, तो फिर अब आगामीकाल में अनादि संसार में मैं ऐसी वेदना क्यों कर सहन करुंगा ? अतः यदि मैं अब क्षणभर के लिये भी इस वेदना से मुक्त हो जाउं तो शीघ्र ही प्रव्रज्या ग्रहण करलूं कि-जिससे आगामीकाल में ऐसी वेदना सहन नहीं करनी पड़े।" हे राजा ! इस प्रकार विचार करते हुए मैं सो रहा और मेरी वेदना शीघ्र ही शान्त हो गई। अतः योग को क्षेम करनेवाली होने से यह आत्मा ही नाथ हैं ऐसा निश्चय कर मैंने प्रातःकाल को सर्व स्वजनों को समझा कर, उनकी स्वीकृति लेकर चारित्र अंगीकार किया इसलिये अब मैं मेरा तथा अन्य त्रसादिक जीवों का भी नाथ बना हूँ क्यों कि-योग का क्षेम करनेवाली केवल आत्मा ही है। अपितु हे राजा ! अनाथता का एक और दूसरा कारण बतलाया गया है जिसे सुनिये-

प्रव्रज्य ये पञ्च महाव्रतानि,
न पालयन्ति प्रचुरप्रमादात् ॥

रसेषु गृद्धा अजितेन्द्रियाश्च,
जिनैरनाथाः कथितास्त एव ॥ १ ॥

भावार्थः—" जो प्रव्रज्या ग्रहण कर अति प्रमादवश पांच महाव्रतों का पालन नहीं करते, रसों के विषय में गृद्ध रहते हैं और इन्द्रियों को नियम में नहीं रखते उन्हीं को जिनेश्वर देवने अनाथ कहा है । "

निरर्थका तस्य सुसाधुता हि,
प्रान्ते विपर्यासमुपैति योऽलम् ॥
न केवलं नश्यति चेह—
लोकस्तस्यापरः किंतु भवो विनष्टः ॥ २ ॥

भावार्थः—जो साधु अन्त में विपरीत आचरण करते हैं उनका साधुपन निरर्थक है और इससे उनका यह लोक ही नाश नहीं होता अपितु परभव भी नाश हो जाता है ।

निराश्रवं संयममात्मबुद्ध्या,
प्रपाल्य चारित्रगुणान्वितः सन् ॥
क्षिप्त्वाष्टकर्माण्यखिलानि,
साधुरुपैति निर्वाणमनन्तसौख्यम् ॥ ३ ॥

भावार्थः—" चारित्रगुणों से युक्त साधु आत्मबुद्धि

से आश्रव रहित संयम का प्रतिपालन कर समग्र अष्ट कर्मों का क्षय कर, अनन्त सुखदायक निर्वाण(मोक्ष)पद को प्राप्त करता है।"

इस प्रकार मुनि के वचन सुन कर श्रेणिकराजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ और हाथ जोड़ कर कहने लगा कि-"हे मुनिराज! आपने जो मुझे अनाथ और सनाथपन का रहस्य बतलाया है वह बिलकुल सत्य है, उसमें लेशमात्र भी असत्य नहीं है। हे मुनि! आपका मनुष्य जन्म सफल है। संसार में आपने ही उत्तम लाभ प्राप्त किया है अपितु आपने श्रीजिनेश्वरप्रणीत धर्म को अंगीकार किया है, अतः आपही सनाथ हैं और आपही बंधुयुक्त हो। सचमुच आपही जब से आपने चारित्र ग्रहण किया है तभी से स्थावर एवं जंगम अनाथ प्राणियों के नाथ बने हैं, अतः मैं अपने अपराध का नाश करने के लिये आप से क्षमा याचना करता हूँ अपितु आपके ध्यान में विघ्नकारी प्रश्न पूछ कर मैंने जो दूषण किया है तथा सांसारिक भोग भोगने के लिये जो मैंने आप को अघटित निमंत्रण दिया है उस सर्व के लिये मेरे अपराध को क्षमा कीजिये।" इस प्रकार कह कर भक्तिपूर्वक उस मुनि की स्तुति कर सर्व राजाओं में चन्द्र सदृश श्रेणिकराजा धर्म में अनुरक्त हो अपने अंतःपुर और परिवार सहित अपनी नगरी को लौटा।

अमितगुण समूह से समृद्ध उस निर्ग्रन्थमुनिने पक्षी के सदृश प्रतिबंध रहितपन से पृथ्वी पर विहार कर तीन गुप्ति से गुप्त हो, उग्र तीन दंड से विराम पाकर, मोहादिक का नाश कर, संवेग के प्रभावद्वारा अनुक्रम से अक्षय सुखदायक मोक्षपद को प्राप्त किया।

इत्युपदेशप्रासादे तृतीयस्तंभे द्विचत्वारिंशत्तमं व्याख्यानम् ॥ ४२ ॥

व्याख्यान ४३ वां

तीसरा निर्वेद नामक लक्षण

संसारकारकागार–विवर्जनपरायणा ।
प्रज्ञा चित्ते भवेद्यस्य, तन्निर्वेदकवान्नरः ॥ १ ॥

भावार्थः—"संसाररूपी कारागृह को वर्जन करने को जिसके चित्त में दृढ़ बुद्धि हो उसे निर्वेदवान पुरुष कहते है।"

सिद्धात में कहा है कि–"निव्वेएणं! भंते जीवे किं जणई" हे भगवान्! निर्वेद से जीव क्या उपार्जन करता है? भगवंत फरमाते है कि–"निव्वेएणं ते दिव्वमाणुस्सतिरिच्छएसु कामभोगेसु विरज्जमाणे निव्वेयं हव्वमागच्छइ। सव्वविसएसु विरज्जइ। सव्वविस-

एसु विरज्जमाणे आरंभपरिग्गहपरिच्चायं करोति। आरंभपरिग्गहपरिच्चायं करेमाणे संसारमग्गं वोच्छिंदंति सिद्धिमग्गपडिवन्नेय भवति।" निर्वेद से देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी कामभोग के विषयों से वैराग्य प्राप्त कर सच्चे निर्वेद को प्राप्त करता है और सर्व विषयों में विरक्ति प्राप्त होती है। सर्व विषयों में विरक्ति होने से आरंभ परिग्रह का त्याग होता है। आरंभ परिग्रह का त्याग होने से संसारमार्ग का उच्छेद होता है और सिद्धि(मोक्ष)मार्ग की प्राप्ति होती है। इस प्रसंग पर निम्नस्थ हरिवाहन का प्रबंध प्रसिद्ध है--

हरिवाहन राजा की कथा

भोगवतीपुरी में इन्द्रदत्त राजा राज्य करता था। उस के पुत्र का नाम हरिवाहन था। उसके एक सुथार पुत्र तथा एक श्रेष्ठी पुत्र दो मित्र थे। उन दोनों मित्रों के साथ हरिवाहन स्वेच्छा से क्रीड़ा किया करता था। राजा को यह बात अखरती थी, अतः उसने एक बार दुर्वचनों से उसका तिरस्कार किया। उस तिरस्कार के दुःख को सहने में असमर्थ होने से हरिवाहन अपने दोनों मित्रों सहित उसके माबाप के स्नेह का त्याग कर वहां से चल पड़ा। चलते चलते तीनों मित्र एक महान अटवी में जा पहुंचे, वहां उन्होनें एक मदोन्मत्त हाथी को अपनी सूंढ को उलालते

हुए देखा। उसे देख कर सुथार तथा वणिक पुत्र तो मारे भय के कौए के समान भग गये किन्तु राजपुत्रने शूरवीर होने से उस मदोन्मत्त हाथी को सिंहनादद्वारा चेष्टा रहित कर दिया। फिर अपने दोनों मित्रों की खोज करता हुआ वह राजपुत्र आगे बढ़ा किन्तु उसको उनका कहीं पत्ता न चला। अनुक्रम से घूमते घूमते उसे एक मनोहर सरोवर दिखलाई पड़ा। उस सरोवर में स्नान कर राजपुत्र उसके उत्तर दिशावाले उद्यान में घुसा। उस उद्यान में सुन्दर कमल से सुशोभित एक बावड़ी थी, अतः कौतुकवश वह उस बाव में उतरा। उस बाव के मध्यभाग में एक गुप्तद्वार था जिस में उसने प्रवेश किया तो वहां एक यक्ष का मंदिर देखा। उस समय रात्रि हो जाने से वह राजपुत्र उस यक्ष के मन्दिर में ही सो रहा। थोड़ीसी देर में नूपुर के रणरण शब्द करती हुई कई अप्सरायें वहां आकर यक्ष के सामने नृत्य करने लगी। नृत्य करने के पश्चात् अपने श्रम का नाश करने के लिये उन अप्सराओंने अपने अमूल्य वस्त्रों का वहीं पर त्याग कर बाव में स्नान करना आरम्भ किया। उस समय राजपुत्रने यक्षमन्दिर का द्वार खोल कर उन सब वस्त्रों को उठा लिये और मन्दिर में घुस कर द्वार बन्द कर लिये। अप्सरायें स्नान कर जब बाहर निकली तो क्या देखती है कि-उनके वस्त्र गायब है तो वे आपस में कहने लगा कि-" सचमुच हमारे वस्त्र किसी धूर्तने हर लिये है

किन्तु वह हमसे नहीं उतरता है, अतः दंड से काम निकालना अयुक्त है" ऐसा विचार कर साम (मीष्ट) वाक्योंद्वारा उसको लुभाते हुए अप्सराओंने कहा कि-"हे उत्तम पुरुष! हमारे वस्त्र दे दे।" राजकुमारने अन्दर से ही उत्तर दिया कि-"प्रचंड वायुद्वारा तुम्हारे वस्त्र हर लिये गये होगें, अतः उसके पास जाओं।" यह सुन कर उसके साहस से सन्तुष्ट होकर अप्सराओंने कहा कि-"हे वत्स! हम तुम्हारे साहस को देख कर प्रसन्न हो गई हैं, अतः यह खड्गरत्न और यह दिव्य कंचुक हम तुम्हें देतीं हैं जिन को तू ग्रहण कर और हमारे वस्त्र हम्हें लौटा दे।" यह सुन कर राजपुत्रने द्वार खोल कर उनके वस्त्र उनको लोटा दिये और क्षमा याचना की। देवीयों भी वे दोनों चिजें उसे देकर स्वस्थान को लौट गई।

तत्पश्चात् वह कुमार वहां से आगे बढ़ा तो मार्ग में एक निर्जन नगर देखा। उस नगर में कौतुकवश फिरता फिरता वह राजगृह के समीप जा पहुंचा और उसकी सातवीं भूमिका पर चढ़ गया जहां उसने कमल सदृश नैत्रवाली एक सुन्दर कन्या को देखा। उसके दिव्य स्वरूप को देख कर कुमारने विचार किया कि—

किमेषा प्रथमा सृष्टिर्विधात्रा रक्षिता ध्रुवम्।
एतां दृष्ट्वा यथा नारीमन्या नारीः सृजाम्यहम् ॥१॥

भावार्थः—"क्या विधाताने यह विचार कर कि–मैं इस नारी को देख कर अन्य नारीयों को सृजन करुंगा, इस कन्या का सृष्टि के आदि में प्रथम सृजन कर यहां रक्खा है ?" अर्थात् इस कन्या का रूप इतना सुन्दर है कि–इसको देख देख कर ही ब्रह्माने अन्य स्त्रियों को बनाया हो ऐसा जान पड़ता है, अतः अन्य स्त्रियें इससे कम रूपवंत दिखलाई पड़ती है।

इस प्रकार विचार करता हुआ वह राजपुत्र उस कन्या के समीप गया। उसने उसको योग्य आसन दिया। जिस पर बैठ कर राजपुत्रने उस कन्या को शोकातुर देख कर उस से प्रश्न किया कि–"हे भद्र ! तू शोकातुर क्यों हैं ?" इस पर उस कन्याने उत्तर दिया कि–"हे भाग्यशाली ! मैं विजय राजा की अनंगलेखा नामक पुत्री हूँ। एक बार मैं अपने महल के झरोखे में बैठी हुई थी कि–विद्याधरने मेरा हरण कर मुझे यहां लाकर, यह नगर बसा कर रखा है और वह इस समय मेरे साथ विवाह करने की अभिलाषा से विवाह की सामग्री लेने के लिये गया हुआ है। वह आज ही यहां आकर बलात्कारपूर्वक मेरे साथ विवाह करेगा परन्तु मुझे खेद इस बात का है कि–कुछ समय पूर्व मुझे एक ज्ञानी मुनिने कहा था कि–'हे राजपुत्री ! हरिवाहन नामक राजपुत्र तेरा पति होगा।' अतः उस मुनि के वचन असत्य

सिद्ध होगें।" यह सुन कर राजकुमारने उत्तर दिया कि-"हे सुन्दर भृकुटीवाली स्त्री ! तू खेद न कर।" इस प्रकार वे आपस में बातें कर ही रहे थे कि-वह विद्याधर वहां आ पहुंचा। कुमार को देख कर क्रोधित हो विद्याधर उसके साथ युद्ध करने लगा परन्तु कुमारने अप्सराओं की दी हुई जगत-जेतृ खड्ग रत्नद्वारा उसको परास्त कर दिया। इस पर उसने कहा कि-"हे साहसिकशिरोमणि ! मैं तेरे पराक्रम को देख कर अत्यन्त प्रसन्न हुआ हूँ, अतः यह स्त्री और यह नगर तेरे को भेट करता हूँ जिसका तू सुख से उपभोग करना। मैं तो मेरे स्थान को जाता हूँ।" ऐसा कह कर वह विद्याधर स्वस्थान को लौट गया। तत्पश्चात् उस विद्याधर की लाई हुई सामग्रीद्वारा हरिवाहनने उस राजकन्या के साथ विवाह कर उसको उपरोक्त दिव्य कंचुक भेट दी और उस नगर में अनेकों लोगों को बसा कर अपने राज्य का पालन करने लगा।

एक बार हरिवाहन राजा अपनी प्रिया सहित नर्मदा नदी के किनारे जाकर उत्तम वस्त्रों को किनारे पर रख जल-क्रीडा करने लगा कि-उस समय उस दिव्य कंचुक को जो कि-अन्य वस्त्रों के साथ किनारे पर ही रखा हुआ था, पद्मराग मणि की कान्तियुक्त होने से मांस की भ्रांति से किसी मत्स्यने आकर खा लिया। राजा आदि सब यह जान

कर अत्यन्त खेदित हुए। बहुत कुछ खोज की गई किन्तु जब उस मत्स्य का कहीं भी पत्ता न चला तो वे निराश हो स्वस्थान को लौट गये।

वह मत्स्य घूमता फिरता बेनातट पहुंचा जहां वह किसी मच्छुआ की जाल में पकड़ा गया। उसको चीरने पर उसके पेटे से कंचुक निकला जिसको मच्छुआने लेजा कर अपने राजा के भेट किया। जिसको देख कर राजाने विचार किया कि–"विश्व को मोहनेवाली इस कंचुक को पहननेवाली कौन होगी कि–जिसका कंचुक तक मुझे मोहित कर लेता है? वह स्त्री मुझे किस उपाय से प्राप्त हो सकती है?" आदि चिन्ता में मग्न होकर उस राजाने अपने प्रधान से कहा कि–"यदि तुम को मेरा जीवन प्रिय हो तो सात दिन के अन्दर इस कंचुक को पहेननेवाली स्त्री का पत्ता लगा कर लाओ।" यह सुन कर मंत्रीने खूब विचार कर राजेश्वरी देवी की आराधना की, इस पर देवीने प्रगट हो वरदान मांगने को कहा। मंत्रीने कहा कि–"इस कंचुक को पहिननेवाली स्त्री को लाकर मेरे राजा को सिपुर्द करो।" यह सुन कर देवीने उत्तर दिया कि–"हे सचिव!

उदेति यदि वारुण्यां, भानुश्चांगारभुक् शशी।
तथापि सा सती शीलं, प्राणान्तेऽपि न लुम्पति॥१॥

भावार्थः—यदि कदाचित सूर्य पश्चिम दिशा में भी

उदय हो जाय और कदाच चन्द्र अंगारों की वृष्टि करने लग जाय परन्तु फिर भी वह सती स्त्री अपने प्राणान्त तक अपने शील का भंग नहीं कर सकती।

तिस पर भी हे सचिव ! यदि तेरा स्वामी कदाग्रह का त्याग न करता हो तो मैं उसको ले आती हूँ परन्तु इस के बाद फिर कार्य के लिये तू मेरा स्मरण कभी भूलकर भी न करना।" ऐसा कह कर उस स्त्री के पास जा उसका हरण कर उसको राजा के समीप रख कर वह देवी अदृश हो गई। राजाने उस अनंगलेखा का स्वरूप देख कर मोहित हो उसकी अनेक प्रकार से प्रार्थना की। इस पर उसने उत्तर दिया कि-"हे राजा ! मैं प्राणान्त तक अपने शील का खंडन नहीं कर सकती।" यह सुन कर राजाने विचार किया कि-"स्त्रियें तो स्वभाववश मुंह से नहीं नहीं ही कहती रहती है परन्तु जब यह मेरे आधीन है तो मैं धीरे धीरे इसके दृढ़ चित्त को भी प्रसन्न करुंगा। नीतिशास्त्र में भी कहा कि-सहसा कोई कार्य नहीं करना चाहिये।" ऐसा विचार कर उसको ऐकान्तस्थल में रख राजा स्वस्थान को लौट गया और अनंगलेखा अपने भर्तार का स्मरण करती हुई वहीं रही।

अरण्य में हाथी के भय से त्रासित होकर भगे हुए वे दोनों मित्र जो राजकुमार से पृथक् हो गये थे उन्होंने फिरते

फिरते वन में वंश की जाल में बैठ कर मंत्र साधना करते हुए एक साधक को देखा। साधकने भी उन दोनों साहसिक पुरुषों को देख कर कहा कि–"हे कुमारों! यदि तुम मेरे उत्तरसाधक बनों तो मेरा कार्य सिद्ध हो सकता है।" यह सुन कर उन दोनोंने ऐसा करना स्वीकार किया, अतः उस साधकने उनकी सहायता से अपनी विद्या सिद्ध की। विद्या के सिद्ध होने से संतुष्ट होकर उस साधकने उन दोनों को अदृश्य अंजनी, शत्रुसैन्यमोहिनी और विमानकारिणी ये तीन विद्यायें सिखाई। वहां से घूमते फिरते वे दोनों वेनातट पहुंचे। वहां लोगों के मुंह से "अपने मित्र हरिवाहन की प्रिया को वहां के राजाने हरण कर हरिवाहन को शोकातुर कर देना" आदि बाते सुन कर मित्र का विरह दूर करने के लिये वे दोनों मित्र अंजन के प्रयोग से अदृश हो अनंगलेखा के समीप गये। उस समय अनंगलेखा पट पर चित्रित अपने पति हरिवाहन के चित्र पर दृष्टि रख बैठी हुई थी। यह देख कर उन दोनोंने उस चित्रपट को अदृश रूप से हर लिया। यह आश्चर्य देख कर अनंगलेखा नेत्रों में अश्रुभर बोली कि—

अपराद्धं मया किं ते, यच्चित्रितमपि प्रियम् ।
जहर्ष मम हत्याया, अपि त्वं न बिभेषि किम् ? ॥१॥

भावार्थः—"हे विधाता! मैने तेरा क्या अपराध

किया है कि–जिससे तूने मेरे चित्रित पति का भी हरण कर लिया हैं ? इससे मेरी आत्मा की हत्या होगी, क्या तुझे इसका भी कुछ भय नहीं है ? । "

यह सुन कर उसको दुःखी जान उन मित्रोंने प्रगट हो उसको वह चित्रपट दे अपना वृत्तान्त निवेदन किया । जिसे सुन उनको अपने पति के मित्र जान कर उसने कहा कि–"हे भाइयों ! यदि तुम सचमुच मेरे स्वामी के मित्र हो तो मुझे शोक से मुक्त करो । " यह सुन कर उन दोनोंने उसको धैर्य दे कुछ संकेत कर वहां से चल दिये । तत्पश्चात् उन्होंने सारे नगर में यह घोषणा कि–वे बड़े भारी मांत्रिक हैं और राजा के पास जाकर उन्होंने कहा कि–" हे राजा ! हम मंत्रवादी हैं, अतः हमको कोई योग्य कार्य बतला कर हमें कृतार्थ कीजिये । " राजाने उनसे कहा कि–" इस कंचुक को धारण करनेवाली रूपवती स्त्री आजन्म के लिये मेरे वशीभूत हो जाय ऐसा प्रयत्न कीजिये । " ऐसा कहने पर उन्होंने राजा के सिर पर एक तिलक कर उसको अनंगलेखा के पास जाने का कहा । जब वह उसके पास पहुंचा तो उसने पूर्व संकेतानुसार राजा को आता हुआ देख कर खड़ी होकर उसको आसन आदि देकर उसका सन्मान किया । यह देख कर उसको अपने आधीन हुई जान कर उसने बारंबार उसके साथ संभोग करने की याचना की । इस पर उसने उत्तर दिया कि–" हे

राजा ! मैं अब तुम्हारे आधीन हूँ, परन्तु मैंने अष्टापदगिरि की यात्रा करने का नियम ले रक्खा है, अतः उस नियम के पूर्ण होने पर इच्छित सुखों का भोग कर सकूंगी।" यह सुन कर उस कामान्ध राजाने मधुर वचनोंद्वारा उन मंत्र-वादियों को अष्टापद की यात्रा कराने की प्रार्थना की। इस पर उन्होंने मंत्र शक्तिद्वारा एक विमान बनाया जिसको देख कर राजाने अनंगलेखा से कहा कि-"हे प्रिया ! इस विमान में बैठ तेरा अभिग्रह पूर्ण कर, शीघ्रतया वापस आ और मेरा मनोरथ पूर्ण कर।" यह सुन कर उसने कहा कि-"हे राजा ! मैं उन अनजान पुरुषो के संग जाती हूँ, अतः तुम्हारी दो कन्याओं को मेरे साथ भेजिये कि-जिससे उनके साथ सुखपूर्वक वार्ताविनोद कर सकूं।" यह सुन कर राजाने अपनी दो कन्याओं को उसके साथ भेजा। तत्पश्चात् वह उन दोनों कन्याओं के साथ जिस विमान में वे दोनों मित्र बैठ हुए थे बैठी और शीघ्र ही विमान को आकाशगामी बनाया। थोड़ी दूर जाकर उन दोनों मित्रोंने राजा से कहा कि-"हे दुष्ट राजा ! अब तू इन तीनों स्त्रियों को वापस देखने की आशा छोड़ देना।" यह सुन कर वह राजा अत्यन्त दुःखी होकर विलाप करने लगा परन्तु उसका सब रोना चिल्लाना वृथा हुआ।

अब मित्र के दुःख का नाश करने के लिये उन दोनों मित्रोंने हरिवाहन के पास जाकर विमान को उतारा। जिस

में दोनों मित्रों तथा अपनी प्रिया को देख कर हरिवाहन के आनन्द की सीमा न रही। फिर राजा तथा मित्रोंने अपना अपना सर्व वृत्तान्त एक दूसरे को कह सुनाया। उन दोनों कन्याओं का हरिवाहनने उन दोनों मित्रों के साथ विवाह संस्कार कराया।

उधर इन्द्रदत्त राजा को उसके कुमार तथा उसके मित्रों का पत्ता चलने से उनको अपने राज्य में बुलाये और हरिवाहन कुमार को राज्यभार सोंप खुदने वैराग्यभाव उत्पन्न होने से प्रव्रज्या ग्रहण की। कुछ समय पश्चात् इन्द्रदत्त मुनि को कर्मक्षय होने से केवलज्ञान उत्पन्न हुआ, अतः वह भोगवती नगरी में समवसर्ये। उस समय हरिवाहन राजा के परिवार सहित उद्यान में जाकर केवली को वन्दना करने पर केवलीने धर्मदेशना दी कि—

विषयामिषसंलुब्धा, मन्यन्ते शाश्वतं जगत्।
आयुर्जलधिकल्लोललोलमालोकयन्ति न ॥१॥

भावार्थः—विषयरूपी मांस में लुब्ध हुए प्राणी इस संसार को शाश्वत-विनाश रहित मानता हैं, परन्तु समुद्र के कल्लोल सदृश चपल आयुष्य को न देखते हैं, न विचार ही करते हैं।

इस प्रकार धर्मदेशना सुन कर राजाने केवली से पूछा कि—"हे स्वामी! मेरा आयुष्य कितना शेष है?" केवलीने

उत्तर दिया कि–" हे राजा ! तेरा आयुष्य केवल नो पहर मात्र का अवशेष है । " यह सुन कर मृत्यु के भय से जब उस राजा का सारा अंग कांपने लगा तो मुनीश्वरने कहा कि–" हे राजा ! यदि तेरे को मृत्यु की चिन्ता का भय हो तो तू प्रव्रज्या ग्रहण कर; क्यों कि—

अंतोमुहुत्तमित्तं, विहिणा विहिया करेइ पव्वज्जा ।
दुक्काणं पज्जंतं, चिरकालकयाइ किं भणिमो ?॥१॥

भावार्थः—एक अन्तर्मुहूर्त मात्र तक भी यदि विधि-पूर्वक ग्रहण की हुई प्रव्रज्या का उत्तम रीति से पालन किया हो तो वह सर्व दुःखों का अन्त (नाश) करनेवाली होती है, तो फिर जिसने चिरकाल दीक्षा का पालन किया हो उसका तो कहना ही क्या है ? अर्थात् उसका फल तो सर्व दुःखों का नाश करनेवाला हो इस में आश्चर्य की कौनसी बात है ? ।

इस प्रकार ज्ञानी के वचन सुन कर उस राजाने स्त्री तथा मित्रों सहित शीघ्र ही दीक्षा ग्रहण कर ली । तत्पश्चात् वह राजर्षि " एगोहं नत्थि मे कोई " " मैं अकेला ही हूँ, मेरा कोई नहीं है " आदि शुभ ध्यान ध्याते हुए मृत्यु को प्राप्त कर सर्वार्थसिद्धि विमान में देवरूप से उत्पन्न हुए । वहां से चवकर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न हो मोक्षपद को प्राप्त

करेंगे। उसके मित्र तथा अनंगलेखा आदि भी देवगति पाकर अनुक्रम से मोक्षसुख को प्राप्त करेंगे।

श्रीजिनेन्द्र के मार्ग के विषय में "निर्वेद" शब्द का अर्थ "संसार पर विराग होना" ऐसा किया गया है। उस निर्वेदरूप भावसिंह का आश्रय करनेवाले हरिवाहन राजाने शीघ्रतया सर्वार्थसिद्धि विमान को प्राप्त किया उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी निर्वेद के विषय में दृढ़ श्रद्धा रखनी चाहिये।

इत्युपदेशप्रासादे तृतीयस्तंभे त्रयश्चत्वारिंशत्तमं व्याख्यानम् ॥ ४३ ॥

व्याख्यान ४४ वां

अनुकम्पा नामक चोथा लक्षण

दीनदुःस्थितदारिद्र–प्राप्तानां प्राणिनां सदा।
दुःखनिवारणे वाञ्छा, सानुकंपाभिधीयते ॥१॥

भावार्थः––दीन, दुःखी और दरिद्र प्राणियों के दुःख निवारण की निरन्तर इच्छा रखना अनुकंपा कहलाती है।

कार्या मोक्षफले दाने, पात्रापात्रविचारणा।
दयादानं तु सर्वज्ञैर्न क्वापि प्रतिषिध्यते ॥१॥

भावार्थः--मोक्ष फलदायक सुपात्रदान में तो पात्र अपात्र का विचार करना उचित है किन्तु दयादान (अनुकंपादान) के लिये तो तीर्थंकरोंने किसी भी स्थान पर निषेध नहीं किया है।

निर्गुणेष्वपि सत्त्वेषु, दयां कुर्वन्ति साधवः।
न हि संहरति ज्योत्स्नां, चन्द्रश्चंडालवेश्मनि ॥३॥

भावार्थः--"साधुजन निर्गुण प्राणियों पर भी दया करते हैं जैसे चन्द्र चन्डाल के घर से भी अपने प्रकाश को नहीं हटा लेता।" वह सब स्थान पर एकसा प्रकाश फैलाता है इसी प्रकार सज्जन पुरुष भी गुणी तथा निर्गुणी सर्व पर दया करता हैं।

इस विषय पर एक प्रबन्ध है जिसके सम्बन्ध में कहा गया है कि—

अपकारेऽपि कारुण्यं सुधीः कुर्याद्विशेषतः।
दन्दशूकं दशन्तं श्रीवीरः प्रबोधयद्यथा ॥१॥

भावार्थः--बुद्धिमान् पुरुष उनके अपकार करनेवाले पर भी विशेष रूप से अनुकम्पा करते हैं जैसे श्रीमहावीर भगवानने अपने को डसनेवाले सर्प को भी बोधित किया था। वह इस प्रकार है—

चंडकौशिक की कथा

श्रीमहावीरस्वामी छद्मस्थपन में कनकखल नामक तापसों के आश्रम में चंडकौशिक नामक सर्प को प्रतिबोध करने के लिये पधारे। उस सर्प के पूर्व भव का स्वरूप इस प्रकार है–एक तपस्वी मुनि क्षुल्लक साधु को साथ लेकर पारणे के निमित्त गोचरी करने को गये थे उस समय मार्ग में उन तपस्वी मुनि के पैर के नीचे एक छोटे से मेंढ़क के आकर दब जाने से उसकी मृत्यु हो गई किन्तु प्रतिक्रमण के समय वे उसकी आलोचना करना भूल गये, इस पर क्षुल्लक साधुने उनको स्मरण दिलाया कि–"मेंढ़क के मारे जाने की आलोचना क्यों नहीं लेते ?" इस प्रकार क्रोधित हो वह तपस्वी साधु उस क्षुल्लक साधु को मारने दौड़ा। मार्ग में एक स्थंभ के आजाने से वह तपस्वी साधु उससे टकरा कर मृत्यु को प्राप्त हुआ और ज्योतिषी में उत्पन्न हुआ। वहां से चवकर कनकखल नामक तपस्वी के आश्रम में पांच सो तपस्वियों का अधिपति चंडकौशिक नामक तपस्वी हुआ।

एक बार कुछ राजपुत्रों को उस आश्रम के फल तोड़ते देख कर क्रोध से भर उनको मारने के लिये हाथ में परशु (कुल्हाडी) लेकर वह चंडकौशिक तपस्वी उनके पिछे दौड़ा। मार्ग में एक गहरे अन्ध कूप के आजाने से वह उस में गिर कर उसी परशुद्वारा मृत्यु को प्राप्त हो उसी नाम से दृष्टिविष सर्प हुआ।

उस सर्प को प्रतिबोध करने की इच्छा से अन्य लोगों के निषेध करने पर भी प्रभु उसी रास्ते पधार कर उसी चंडकौशिक सर्प की बांमी पर कायोत्सर्ग कर खड़े रहे। उनको देख कर क्रोध से ज्वलित हो चंडकौशिक सर्प सूर्य के सन्मुख देख देख कर मुँह से ज्वाला निकालने लगा परन्तु जब उन ज्वालाओं का प्रभु पर कोई असर नहीं हुआ तो उसने प्रभु के पैर में काट लिया जिससे प्रभु के पैर में से गाय का दूध के सदृश श्वेत शोणित निकलने लगा। उसको देख कर तथा प्रभु के वचन सुन कर कि–"हे चंडकौशिक! बोध प्राप्त कर।" इहापोह करते हुए उसको जातिस्मरण ज्ञान हो आया, अतः पश्चात्ताप कर उस सर्पने प्रभु की तीन प्रदक्षिणा कर वन्दना कर अनशन ग्रहण किया। फिर अन्य जंतुओं की मेरे विष की ज्वाला से मृत्यु न हो ऐसा विचार कर उसने अपना मुह बिल के अन्दर रक्खा। लोगों को इस बात की सूचना होने पर सब लोग उस मार्ग से हो कर निकलने लगे। घी, दूध आदि को बेचने के लिये जानेवाली ग्वाल वधुओंने उस सर्प की पूजा निमित्त उस पर घृत का सिंचन किया जिसके फलस्वरूप अनेको चिटियोंने उसे घेर लिया और उसके समस्त शरीर को चलनी के समान असंख्य छिद्रवाला बना दिया। उसके दुःख से अत्यन्त पीडा सहन करते हुए भी प्रभु की दृष्टिरूप अमृत

से सिंचा हुआ वह सर्प शुभ ध्यानपूर्वक पन्द्रह दिन का अनशन ग्रहण कर मृत्यु को प्राप्त कर सहस्रार देवलोक में देवता हुआ, जहां से चव कर वह थोड़े भव में ही मोक्ष-सुख को प्राप्त करेगा।

इस विषय में एक और दृष्टान्त है जिसके सम्बन्ध में कहा गया है कि—

तथा चौरोऽन्यराज्ञीभिर्लेभे वस्त्राद्यलंकृतः ।
न रतिं लघुराज्ञया तु, प्रदत्ताभयतो यथा ॥१॥

भावार्थः—किसी चोर को छोटी रानी के दिये हुए अभयदान से जो सुख मिला वह सुख अन्य रानीयों को (सेंकड़ो रुपये-पैसे खर्च करने पर भी) वस्त्रादिक से सुशोभित होने पर भी नहीं मिल सका। इसका दृष्टान्त निम्नस्थ है—

वसन्तपुर का राजा अरिदमन एक बार अपनी चारों रानीयों के साथ महल के गवाक्ष में बैठा हुआ क्रीड़ा कर रहा था कि-उन्होंने एक चोर को वधस्थान की ओर लेजाते हुए देखा। राणियोंने पूछा कि-"इसने क्या अपराध किया है?" इसके उत्तर में एक राजसेवकने कहा कि-"इसने चोरी की है, अतः इसे वधस्थान की ओर ले जा रहे हैं।" यह सुन कर बड़ी रानीने राजा से कहा कि-"हे स्वामी! मेरा तुम्हारे पास पूर्व का एक वरदान लेना अवशेष है,

अतः उसके लिये आज एक दिन के लिये इस चोर को मुक्त कर मेरे सिपुर्द करा दीजिये।" राजाने इसे स्वीकार कर उस चोर को रानी के सिपुर्द करा दिया। रानीने एक हजार महरों का व्यय कर उस चोर का स्नान, भोजन, अलंकार और वस्त्रों आदि से सत्कार किया और संगीत आदि शब्दादिक विषयों से उसको सम्पूर्ण दिन आनन्द में रक्खा। दूसरे दिन उसी प्रकार लक्ष सुवर्ण का व्यय कर दूसरी रानीने उस चोर का पालन किया। तीसरे दिन तीसरी रानीने कोटी द्रव्य का व्यय कर उसी प्रकार उसका सत्कार किया। चोथे दिन अन्तिम छोटी रानीने राजा से वरदान मांग कर उसकी, अनुमति से अनुकंपाद्वारा उस चोर को मृत्यु के भय से मुक्त करा दिया, इसके अतिरिक्त अन्य कोई सत्कार नहीं किया। तीनो बड़ी रानीयोंने उस छोटी रानी की हँसी उड़ाई कि-"देखो! इस छोटी रानीने इसको न तो कुछ दिया ही है न इसके लिये कुछ खर्च ही किया है।" छोटी रानीने उत्तर दिया कि-"तुम तीनों के बनिस्बत मैंने इसका अधिक उपकार किया है। तुमने तो इसका कुछ भी उपकार नहीं किया।" इस प्रकार उन रानियों के बिच उपकार के विषय में जब बड़ा भारी वादविवाद होने लगा तो उनका न्याय करने के लिये राजाने उस चोर को ही बुला कर पूछा कि-"तेरे पर इन चारों में से किसने अधिक उपकार किया है?" यह सुन कर चोरने उत्तर दिया कि-

"हे महाराज ! मृत्यु के भय से भयभीत होने से मैंने स्नान, भोजनादिक सुखों का कुछ भी अनुभव नहीं किया। सिंह के सामने बांधे हुए, हरे जव को खानेवाले बकरे के सदृश मैंने तो तीनों दिन केवल दुःख का ही अनुभव किया था और आज शुष्क, निरस और तृण सदृश सामान्य आहार करने पर भी वणिक के घर में बंधे हुए गाय के बछड़े के सदृश खोये हुए जीवन के प्राप्त होने से केवल सुख का ही अनुभव किया है और इसी लिये आज हर्ष से नृत्य करता हूँ।" यह सुन कर राजाने अभयदान की अतिशय प्रशंसा की।

इस दृष्टान्त का यह तात्पर्य है कि–"जिस प्रकार राजा की छोटी रानीने चोर को मृत्यु के भय से बचा कर उसका महान उपकार किया इसी प्रकार आस्तिक पुरुषों को निरन्तर प्राणियों पर अनुकम्पा करनी चाहिये कि–जिससे समकित का चोथा लक्षण अनुकम्पा शुद्ध रीति से प्रकट हो सके।"

इत्युपदेशप्रासादे तृतीयस्तंभे चतुश्चत्वारिंशत्तमं व्याख्यानम् ॥ ४४ ॥

व्याख्यान ४५ वां

आस्तिक्यता नामक पांचवां लक्षण

प्रभुभिर्भाषितं यत्तत्तत्त्वान्तरश्रुतेऽपि हि ।
निःशंकं मन्यते सत्यं, तदास्तिक्यं सुलक्षणम् ॥१॥

भावार्थः—अन्य तत्त्व (मत) का श्रवण करते हुए भी "प्रभुने जो कहा है वह ही सत्य है" ऐसा जो बिना किसी शंका के माना जाय उसे आस्तिक्य नामक चोथा लक्षण कहते हैं। इस विषय पर पद्मशेखर राजा की कथा प्रसिद्ध है—

पद्मशेखर राजा की कथा

पृथ्वीपुर के पद्मशेखर राजाने विनयंधरसूरि से प्रतिबोध प्राप्त कर जैनधर्म अंगीकार किया था। वह जैनधर्म की आराधना में तत्पर होकर अपनी सभा के समक्ष निरन्तर गुरु का इस प्रकार वर्णन किया करता था कि—

निवर्तयत्यन्यजनं प्रमादतः,
स्वयं च निष्पापपथे प्रवर्तते ।
गृणाति तत्त्वं हितमिच्छुरङ्गिनां,
शिवार्थिनां यः स गुरुर्निगद्यते ॥ १ ॥

भावार्थः--अन्य जनों को प्रमाद से निवृत्त करनेवाला स्वयं निष्पाप मार्ग का प्रवर्त्तक तथा हित की इच्छा से मोक्ष के अभिलाषी प्राणियों को हितकारी तत्त्व का उपदेश करनेवाला सुगुरु कहलाता है।

वंदिज्जमाणा न समुक्कसंति,
हिलिज्जमाणा न समुज्जलंति ।
दमंति चित्तेण चरंति धीरा,
मुणी समुग्घाइयरागदोसा ॥ २ ॥

भावार्थः—जो वन्दना-स्तुति करने से नहीं रीझते और निन्दा करने से खेदित भी नहीं होते तथा चित्तद्वारा इन्द्रियों का दमन करते हैं, धैर्य धारण करते हैं और राग-द्वेष का नाश करते हैं उन्हीं को मुनि कहते हैं।

गुरु दो प्रकार के होते हैं, तपस्यायुक्त और ज्ञानयुक्त। तपस्यायुक्त बड़ के पत्ते के सदृश केवल अपनी आत्मा को ही भवसागर से तारते हैं और ज्ञानयुक्त वाहन के सदृश स्वयं तथा अन्य अनेकों जीवों को तारते हैं।

इस प्रकार गुरु के गुणों का वर्णन कर राजाने अनेकों लोगों को धर्मानुयायी बनाया परन्तु उस नगर में एक जय नामक नास्तिक बणिक रहता था जो इस प्रकार कहा करता

था कि–" इन्द्रिये अपने अपने विषय में स्वभाव से ही प्रवृत्त होती हैं; वे किसी से भी नहीं रोकी जासकती। तपस्या करना तो केवल मात्र आत्मा का शोषण करना है उससे कोई फल नहीं मिलता। स्वर्ग तथा मोक्ष को किसने देखा है ? ये तो सब असत्य है। कहा भी है कि—

हत्थागया इमे कामा, कालिया ते अणागया।
को जाणई परे लोए, अत्थि वा णत्थि वा पुणो ॥१॥

भावार्थः--ये कामभोग तो हाथ में आये हुए हैं और तपस्यादिक से मिलनेवाले धारे हुए सुख तो अनागत काल में प्राप्त होनेवाले हैं परन्तु कौन जानता है कि–परलोक है भी या नहीं ? अर्थात् प्राप्त चीज का त्याग कर आगे मिलेगी या नहीं, इस शंका में कौन पड़े ?

अतः जो कुछ है वह यहीं पर है। स्वर्ग, मोक्ष, पुण्य, पाप आदि सब मानने योग्य नहीं हैं। इस प्रकार उपदेश कर उस जय वणिकने अनेकों लोगों को भरमा दिया। इस प्रकार उस नगर में पुण्य और पाप के उपदेश करने में कुशल राजा और वणिक दोनों प्रत्यक्ष रूप से सुगति और दुर्गति के मार्गरूप प्रसिद्ध थे।

एक बार राजाने जय वणिक का स्वरूप जान लिया इस लिये उसको उचित शिक्षा देने के लिये उसने गुप्त रीति

से उसके सेवकद्वारा उसका लक्ष मोहर का हार उस बणिक के घर में उसके गहने के डिब्बे में रखा दिया। फिर सारे नगर में ढ़िढ़ोरा पिटवा कर सब लोगों में घोषणा कराई कि–" राजा का हार किसीने चुरा लिया है, अतः जो कोई शीघ्रतया लाकर राजा के सिपुर्द कर देगा उसको कुछ नहीं कहा जायगा परन्तु बाद में फिर किसी के घर में पाया जायगा तो उसको कठीन दंड दिया जायगा।" यह सब घोषणा सुन कर भी किसीने हार नहीं लौटा दिया। फिर राजाज्ञा से राजसेवक नगर में प्रत्येक घर की तलाशी लेने लगे। अनुक्रम से खोज करते करते जय बणिक के घर से वह हार खोज निकाला, अतः राजपुरुष उसको बांध कर राजा के समीप ले गये। राजाने जब उसके बध की आज्ञा दी तब किसीने भी उसे नहीं छुड़वाया। उसके स्वजन राजा की प्रार्थना करने लगे तब राजाने कहा कि–" यदि यह मेरे घर से तैल से लबालब भरा हुआ पात्र लेकर, उसमें से एक भी बूंद को मार्ग में न गिरने देते हुए, सारे नगर में घूम कर वापस मेरे पास लौट आवे तो मैं इसको मृत्यु दंड से मुक्त कर सकता हूँ, अन्यथा कदापि नहीं।" यह सुन कर जय-श्रेष्ठिने मृत्यु के भय से वैसा ही करना स्वीकार किया। तत्प-श्चात् पद्मशेखर राजाने नगर में घोषणा कराई कि–" मार्ग में स्थान स्थान पर वीणा, वांसुरी और मृदंग आदि बजाये जायें, अति मोह उत्पन्न करनेवाली और सुन्दर वेश धारण

करनेवाली वेश्याओं के हाव, भाव और कटाक्षपूर्वक नृत्य, गान आदि कराये जाय, तथा सर्व इन्द्रियों को सुख उत्पन्न करनेवाले प्रेक्षण स्थान स्थान पर रचाये जाय।" राजा की आज्ञानुसार सर्व नगर को अनेक प्रकार की ध्वजा वगेरे और अनेक प्रकार के नाटक आदि से मनोहर बनाया गया। तत्पश्चात् जयश्रेष्ठी के हाथ में तैल से परिपूर्ण पात्र दिया गया। वह केवल पात्र में ही एक टक देखता हुआ चलने लगा। यद्यपि वह संगीतादिक इन्द्रियों के विषयों का अत्यन्त रसिक था। उसके दोनों ओर राजा के सुभट नंगी तलवार लिये चल रहे थे और धमकी देते जाते थे कि–इस पात्र में से एक बिन्दु तैल भी नीचे गिरा नहीं कि शीघ्र ही इस खड्गद्वारा तेरा शिर धड़ से अलग कर दिया जायगा।" इस प्रकार सम्पूर्ण शहर में घूमा कर वे सुभट उसको वापस राजा के पास ले गये। उस समय राजाने हँसी करते हुए कहा कि–"हे श्रेष्ठी! मन और इन्द्रियें तो अति चपल होती हैं फिर तूने उसको किस प्रकार रोका?" श्रेष्ठीने उत्तर दिया कि–"हे स्वामी! मृत्यु के भय से रोकी गई।" राजाने कहा कि–"जब एक ही भव में मृत्यु के भय से तूने प्रमाद का त्याग कर दिया तो फिर अनन्ता मृत्यु के भय से भयभीत हुए साधु आदि उत्तम पुरुष प्रमाद किस प्रकार कर सकते है? अतः हे श्रेष्ठी मेरा हितकर वचन सुन—

अनिर्जितेन्द्रियग्रामो, यतो दुःखैः प्रबाध्यते ।
तस्माज्जयेदिन्द्रियाणि, सर्वदुःखविमुक्तये ॥ १ ॥

भावार्थः—जिस पुरुषने इन्द्रियसमूह पर विजय प्राप्त नहीं की वह ही दुःख से दुःखी होता है, अतः सर्व दुःखों से मुक्त होने के लिये इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना चाहिये ।

न चेन्द्रियाणां विजयः, सर्वथैवाप्रवर्तनम् ।
रागद्वेषविमुक्त्या तु, प्रवृत्तिरपि तज्जयः ॥ २ ॥

भावार्थः—केवल इन्द्रियों की प्रवृत्तियों का सर्वथा रोध करना ही इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना नहीं कहला सकता, परन्तु रागद्वेष का त्याग कर इन्द्रियों की प्रवृत्ति करना भी इन्द्रियजय कहलाता है ।

हताहतानीन्द्रियाणि, सदा संयमयोगिनाम् ।
अहतानि हितार्थेषु, हतान्यहितवस्तुषु ॥ ३ ॥

भावार्थः—संयमधारी योगियों की इन्द्रियों हत (रुंधी हुई) और अहत (प्रवर्तित) दो प्रकार की होती है। हितकारी कार्य के विषय में अहत और अहितकारी वस्तु के विषय में हत—रुंधी हुई होती हैं ।

ऐसा सुन कर जयश्रेष्ठी को प्रतिबोध हो गया और

उसने जिनेश्वरप्रणीत धर्म के तत्त्व को समझ कर श्रावक-धर्म अंगीकार किया। इस प्रकार अनेकों प्राणियों को धर्म में स्थापन कर पद्मशेखर राजा स्वर्ग सिधारा।

गुणवान आस्तिक पुरुषों को निर्मल अन्तःकरण से इस पद्मशेखर राजा के चरित्र को श्रवण कर जिनेश्वर के मत के विषय में शुभ आस्था (श्रद्धा) धारण करना चाहिये।

इत्युपदेशप्रासादे तृतीयस्तंभे पंचचत्वारिंशत्तमं व्याख्यानम् ॥ ४५ ॥

॥ इति तृतीयः स्तंभः ॥

॥ चतुर्थः स्तंभः ॥

व्याख्यान ४६ वां

समकित की छ यतना में से प्रथम दो यतना

अन्यतीर्थिकदेवानां, तथान्यैर्गृहीतार्हताम् ।
पूजनं वन्दनं चैव, विधेयं न कदापि हि ॥१॥

अन्यतीर्थियों के देवों तथा अन्यद्वारा ग्रहण की हुई अरिहंत की मूर्तियों का पूजन, वन्दन कदापि नहीं करना चाहिये ।

भावार्थः—अन्य तीर्थियों के शंकरादिक देवताओं का पूजन–वंदन आदि कदापि नहीं करना यह पहली यतना कहलाती हैं । तथा सांख्य, बौद्धादिक अन्य दर्शनियोंद्वारा ग्रहण की हुई जिनप्रतिमा का पूजन–वंदन आदि कदापि नहीं करना दूसरी यतना कहलाती है । अन्य मतावलम्बियोंद्वारा ग्रहण की हुई जिनप्रतिमाओं का पूजनादिक करने से अन्य

मतानुयायीओं के प्रसंगद्वारा अनेकों दोषों की वृद्धि होती है, अतः उनका वंदनादि वर्जनीय है। इस यतना पर संग्रामसूर राजा की कथा प्रसिद्ध है, जो इस प्रकार है—

संग्रामसूर राजा की कथा

पद्मिनीखंड नामक नगर में संग्रामदृढ़ राजा के संग्रामसूर नामक पुत्र था। वह सदैव आखेट कर अनेकों प्राणियों का बध किया करता था। उसके पिताने उसको बहुत कुछ समझाया बुझाया किन्तु जब उसने अपना कदाग्रह नहीं छोड़ा तो उसने उसका तिरस्कार कर अपने नगर से बाहर निकाल दिया। वह ग्राम के बाहर एक गांव बसा कर रहने लगा। वहां वह सदैव कुत्तों को साथ ले वन में जा अनेकों प्राणियों का बध कर प्राणवृत्ति करने लगा। एक बार वह कुत्तों को वहीं छोड़ किसी ग्राम को गया। उस समय उस उद्यान में किसी सूरिमहाराज का पधारना हुआ। उन्होंने उन कुत्तों को प्रतिबोध करने के लिये मधुर वचनों से कहा कि—

खणमित्तसुखकज्जे, जीवं निहणंति जे महापावा।
हरिचंदणवणखंडं, दहंति ते छारकज्जम्मि ॥१॥

भावार्थः—जो महापापी प्राणि क्षणमात्र के सुख के लिये दूसरे प्राणियों का बध करते हैं वे मानों रक्षा (राख) के लिये हरिचंदन वृक्षों के वन को जलाते हैं।

इस प्रकार सुन कर कुत्तोंने प्रबोध हो जाने से आजन्म प्राणीबध नहीं करने का नियम ग्रहण किया। संग्रामसूर जब ग्राम से वापस अपने घर को लौटा और कुत्तों को प्राणी-बध के लिये छोड़ा परन्तु जब वे कुत्ते बिलकुल आगे न बढ़ चित्र में चित्रित से स्तब्ध होकर खड़े रहे तो उसने उनके रक्षकों से इसका कारण पूछा। रक्षकोंने उत्तर दिया कि-"हे स्वामी ! हम विशेष कुछ नहीं जानते परन्तु इनकी चेष्टा से ऐसा जान पड़ता है कि-यहां जो एक साधु आया था उनके वचनों से इनको प्रतिबोध हो गया है।" यह सुन कर संग्राम-सूर विचार करने लगा कि-"अहो ! मुझे धिक्कार है कि मैं पशु से भी गया बीता हूँ।" ऐसा विचार कर वह गुरु के समीप गया, जहां उसने धर्मश्रवण किया कि—

देवो जिणोट्ठारसदोसवज्जिओ,
गुरु सुसाहु समलोट्ठकंचणो ।
धम्मो पुणो जीवदयाइ सुंदरो,
सेवेह एयं रयणत्तयं सया ॥ १ ॥

भावार्थः—अढारह दोषों से रहित जिनेश्वर भगवान को ही देव, पत्थर और कांचन में समान बुद्धि रखनेवाले सुसाधु को ही गुरु और जीवदया आदि से युक्त सुन्दर धर्म को ही धर्म समझ कर इन रत्नत्रय का सदैव सेवन करना चाहिये।

यह सुन कर संग्रामसूरने श्रावक धर्म अंगीकार किया और राजा को यह बात ज्ञात होने पर उसने उसको वापस नगर में बुला कर युवराज पद प्रदान किया।

इधर कुमार का परम मित्र मतिसागर चिरकाल से द्रव्य उपार्जन करने के निमित्त समुद्र पार गया था। वह जब बहुत-सा धन उपार्जन कर वापस लौटा तो अपने मित्र राजकुमार से मिलने को गया। उससे कुमारने कुशल वार्ता पूछ कर द्वीप समुद्र आदि में जो आश्चर्यदायक बात देखी हो उसका वर्णन करने को कहा तो मतिसागरने उत्तर दिया कि-"हे मित्र! मैं जहाज में बैठ कर जब समुद्र में जा रहा था तो मैंने भरतखंड की मर्यादा में एक ऊँचे कल्पवृक्ष की शाखा पर झुला डाल कर झुलेरूप पर्यंक पर झुलती हुई एक सुन्दर स्त्री को देखा। वह स्त्री समग्र स्त्रियों की तिलक-रूप थी। उसके संगीत शब्द से तो मानो उसने किंनरी एवं देवांगनाओं को भी किंकर(दासी)रूप बना दिया था। ऐसी रूप एवं लावण्यवती स्त्री को देख कर कौतुक से मैंने मेरा जहाज उसकी ओर खेंचा परन्तु मैं उसके पास पहुंचा इतने में तो वह मेरे मनोरथ के साथ ही साथ कल्प-वृक्ष सहित समुद्र में निमग्न होगई। वह आश्चर्य केवल तुम्हारे सामने प्रकट किया है।" यह सुन कर कामदेव के बाण से जर्जरित अंगवाला वह राजकुमार शीघ्र ही अपने

मित्र को साथ ले एक जहाज पर सवार होकर जब समुद्र के उस भाग में गया तो उसने भी दूर से उसी प्रकार क्रीड़ा करती हुई स्त्री देखी परन्तु कुमार ज्योंहिं उसके समीप पहुंचा कि-वह स्त्री श्रथम के अनुसार समुद्र में गिर कर अदृश हो गई। यह देख कर उस साहसिक राजकुमारने हाथ में नंगी तलवार लेकर उसके पीछे समुद्र में कूद पड़ा जिससे वह राजकुमार जलकांत मणि से बने हुए सप्तखंडी प्रासाद पर जा गिरा। फिर धीरे धीरे नीचे उतर कर कुमार नीचे के खंड में पहुंचा। वहां उसने कल्पवृक्ष की शाखा से बंधे हुए पर्यंक पर एक अत्यन्त सुन्दर स्त्री को सूक्ष्म वस्त्र से सम्पूर्ण शरीर को ढ़ाके हुए सोती हुई देखी। उसने उस वस्त्र को थोड़ासा हटाया कि-उस स्त्रीने तुरन्त ही खड़ी होकर उस कुमार को उसी पलंग पर बैठाया और उससे उसका कुल-नाम आदि का हाल पूछा। कुमारने उसका यथोचित उत्तर देकर जब उसने भी उसका वृत्तान्त पूछा तो वह अपना यथास्थित स्वरूप बतलाने लगी कि—

वैताढ्य पर्वत की दक्षिण श्रेणी में विद्युत्प्रभ नामक राजा है जिसकी मैं मणिमंजरी नामक पुत्री हूँ। एक बार मेरे पिताने मुझे योग्य वय में आई हुई जान कर किसी नैमित्तिक से पूछा कि-"मेरी पुत्र के योग्य वर कब मिलेगा?" इस के उत्तर में उसने कहा कि-"हे राजा! समुद्र में जल-

कांत मणि का महल बना कर कल्पवृक्ष की शाखा के साथ पलंग बांध उस पर तुम्हारी पुत्री को रक्खो। वहां सूरसेन× राजा का पुत्र संग्रामसूर आवेगा जो इसका पति होगा।" इस प्रकार उस निमित्तियें के कहने से मेरे पिताने वैसा ही कर मुझे यहां रक्खा है। यहां रहते हुए मुझे कई दिनों के पश्चात् आज तुम्हारे दर्शन हुए हैं।"

इस प्रकार वे दोनों परस्पर प्रेमवार्ता कर ही रहे थे कि उस समय हाथ में नंगी तलवार लिये हुए, तालमताल वृक्ष सदृश श्याम और भयंकर कपालवाला एक राक्षस एकाएक वहां प्रगट होकर कुमार से कहने लगा कि–"हे कुमार! मैं सात दिन से भूखा हूँ। तू मेरे भक्ष्य के साथ लग्न करने की क्यों कर अभिलाषा करता है?" ऐसा कह कर वह राक्षस मणिमंजरी को झाँझर सहित पैर से निगलने लगा जिसे देख कर कुमारने अत्यन्त जोर से उस पर खड्ग का प्रहार किया परन्तु उस खड्ग के राक्षस को किसी भी प्रकार के चोट पहुंचाये बिना ही दो टूकड़े हो गये तो कुमारने उसके साथ बाहु युद्ध आरम्भ किया जिस में भी राक्षसने कुमार को धराशायी कर बांध दिया। फिर राक्षसने उससे कहा कि–"हे राजपुत्र! यदि तुझे तेरी प्रिया को छोड़ाना हो

× राजा का नाम पहिले संग्रामदृढ़ बतलाया गया है।

तो मुझे अन्य कोई स्त्री या तेरी स्थूलकाया नामक दासी को खाने के लिये दे अथवा कदाच यह भी न कर सके तो मेरे गुरु चरक परिव्राजक को प्रणाम कर या मेरे प्रासाद में विष्णु की मूर्त्ति के साथ जिनप्रतिमा भी हैं उसको तू प्रणाम कर, पूजा कर या मेरी ही प्रतिमा करवा कर उसकी तू सदैव पूजा किया कर; अन्यथा मैं इसको पूरी की पूरी खाजाउंगा।" यह सुन कर कुमारने कहा कि-"हे राक्षस! चाहे मेरे जीवन का ही अन्त क्यों न हो जाय परन्तु मैं जिनेश्वर तथा सुसाधु के अतिरिक्त अन्य को नमस्कार कदापि नहीं कर सकता तथा बिना प्रयोजन जब मैं स्थावर जीव की भी हिंसा नहीं करता तो दूसरे जीवों की हिंसा करने देने की तो बात करना ही वृथा है। हे देव! तुझे भी इस प्रकार बोलाना अनुचित है।" यह सुन कर राक्षसने कहा कि-"हे राजपुत्र! तो तूं इस जिनालय में चल और वहां जो वीतराग का बिम्ब है उसी की तू पूजा कर।" यह बात स्वीकार कर कुमार हर्षपूर्वक उस जिनालय में गया तो उस बिम्ब को बौद्ध लोगोंद्वारा पूजा किया हुआ पाया इससे वह तुरन्त ही वहां से वापस लौट आया और बोला कि-"हे देव! चाहे मेरा शिरच्छेद क्यों न कर दिया जाय परन्तु मैं तेरे वचनों का पालन नहीं कर सकता।" उसका इस प्रकार दृढ़ निश्चय जान कर राक्षस मणिमंजरी को पैर से निगलने लगा। उस

समय वह बाला अत्यन्त करुण स्वर से विलाप करने लगी कि–" हे प्राणप्रिय ! हे नाथ ! मुझे मृत्यु से बचाओं, मेरी रक्षा करो ! " इस प्रकार विलाप करती हुई उस बाला को कंठ पर्यन्त निगल कर राक्षसने कुमार से कहा कि–" हे मूर्खशिरोमणी ! यदि तू दासी को भी नहीं देना चाहता हो तो केवल एक बकरी ही दे दे; अन्यथा मैं इस स्त्री का भक्षण कर बाद में तेरा भी भक्षण करुंगा । " यह सुन कर कुमारने उत्तर दिया कि–" जब मैं कल्पांतकाल तक भी तेरी आज्ञा का पालन नहीं कर सकता तो फिर बारंबार पूछने से क्या प्रयोजन ? " इस प्रकार उसके दृढ़ निश्चय से संतुष्ट हो कर वह राक्षस शीघ्रही अपना दिव्य स्वरूप प्रकट कर बोला कि–" हे साहसिकशिरोमणि ! देवेन्द्रद्वारा की गई तेरी प्रशंसा को न मान कर मैं यहां तेरी परीक्षा लेने निमित्त आया था किन्तु तेरे प्रसाद से मुझे भी समकित प्राप्त हो गया है । " ऐसा कह कर वह देव उसका गांधर्व लग्न कर स्वर्ग सिधारा । फिर कुमार भी मणिमंजरी से महोत्सवपूर्वक विवाह कर अपने नगर को लौट गया ।

कुमार को राज्य प्रदान कर उसके पिताने भी दीक्षा ग्रहण की । संग्रामसूर राजा भी श्रावकधर्म का प्रतिपालन कर पांचवें देवलोक में देवता हुआ जहां से चवकर एक अवतार धारण कर मोक्षपद को प्राप्त करेगा ।

राजाओं में श्रेष्ठ संग्रामसूर राजा दो यतनों के विषय में दृढ़ चित्त हो कष्ट पड़ने पर भी अहिंसादिक नियमों का पालन कर पांचवें देवलोक में सिधारा ।

इत्युपदेशप्रासादे चतुर्थस्तंभे षट्चत्वारिंशत्तमं व्याख्यानम् ॥ ४६ ॥

व्याख्यान ४७ वां

शेष चार यतना

मिथ्यात्वलिप्तचित्तानां, संलापालापवर्जनम् ।
सकृद्वा बहुवारं वा, न यच्छेदशनादिकम् ॥१॥

भावार्थः—मिथ्यात्व में लिप्त चित्तवाले चरकादिक तपस्वियों को आप कुशल हैं ? इस प्रकार स्नेह से बारंबार पूछना संलाप और एक बार पूछना आलाप कहलाता है। इन दोनों का त्याग करना तीसरी तथा चोथी यतना कहलाती है। इसी प्रकार उन मिथ्यात्वियों को एक बार या बारंबार अशनादिक भेट करना पांचवीं तथा छट्ठी यतना कहलाती है ।

उपासक दशांग सूत्र में श्रीभगवानने सामायिक ग्रहण करनेवालों को इस प्रकार वर्ताव करना कहा कि–"नो मे कप्पइ अज्जप्पभिइं अन्नउत्थिए वा अन्नउत्थियदेव-

याणि वा अन्नउत्थियपरिग्गहियाणि अरिहंतदेव-याणि वा वंदित्तए वा नमंसित्तए वा पुव्विं अणालित्तेणं आलवित्तए वा संलवित्तए वा तेसिं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पयाउं वा इत्यर्थः–आज से मेरा अन्य तीर्थिकों के हरिहरादिक देवों को तथा उनसे ग्रहण किये अरिहंत बिम्बों को वन्दन–नमस्कार करना, मिथ्यात्वियों के साथ आलाप या संलाप करना और उनको एक बार या बारंबार अशन, पान आदि देना अनुचित है।" इस प्रसंग पर सद्दालपुत्र श्रावक का दृष्टान्त उपासकदशांग सूत्र से उद्धृत कर यहाँ लिखा जाता है–

सद्दालपुत्र की कथा

पोल्लासपुर नगर में मंखलीपुत्र (गोशाला) का मतानुयायी सद्दालपुत्र नामक श्रावक रहता था। वह पांचसो कुम्हार की दुकानों का स्वामी था। उसके पास तीन करोड़ स्वर्ण मोहर था और दस हजार गायों का पोषक था। उसकी पत्नी का नाम अग्निमित्रा था। एक बार एक देवने आकाश में अदृश रह कर उसको कहा कि–"हे श्रेष्ठी! कल इस नगर में महामाहन अरिहंत सर्वज्ञ का पधारना होगा जिन की तू कल्याणकारक एवं मंगलकारक देवस्वरूप समझ कर सेवा करना।" ऐसा कह कर वह देव चला गया तब उसने विचार किया कि–सचमुच मेरा धर्मगुरु गोशाल ही महा-

माहन एवं सर्वज्ञ है अतः जब वह कल आयगा तो मैं उस-की अशनादिकद्वारा सेवा करुंगा।

दूसरे दिन प्रातःकाल को गोशाल के स्थान पर श्रीमहा-वीरस्वामी का आगमन सुन कर वह अत्यन्त हर्षित हुआ और महोत्सवपूर्वक उनको वन्दना करने निमित्त गया। दूर से ही प्रातिहार्यादिक की शोभा को देख कर ऐसा विचार कर कि–अहो ! मेरे गुरु की शक्ति अचिंत्य है। वह प्रभु के समीप पहुंच उनको वन्दना कर बैठ रहा और प्रभु की देशना को श्रवण किया। फिर प्रभुने पूछा कि–"हे सद्दालपुत्र ! कल देवताने तुझे जो बात कही क्या उसका तुझे स्मरण है ?" उसने "हो" कह कर विनंति की कि–हे प्रभु ! आप मेरी कुम्हार की दुकान पर पधारिये कि–जिससे मैं आप की सेवा कर सकूं। इस पर प्रभु वहां पधारे।

मिट्टी के बर्तनों को धूप में पड़े हुए देख कर जिनेश्वरने उससे प्रश्न किया कि–हे श्रेष्ठी ! इन बर्तनों को किस उपाय से निर्माण किया ? उसने उत्तर दिया कि–हे स्वामी ! मिट्टी का पिंड बना उसे चक्र पर चढ़ा कर ये बर्तन बनाये हैं। प्रभुने फिर प्रश्न किया कि–हे भद्र ! तू इन बर्तनों को उद्यमद्वारा बनाता है या बिना उद्यम ? इस प्रकार भगवान के प्रश्न करने पर उसके गोशाल के मतानुयायी नियतिवादी होने से यदि उद्योग से बनते हैं ऐसा उत्तर दे तो उसके मत

की क्षति और विपक्षी के मत का प्रतिपादन होता था अतः उसने उत्तर दिया कि–बिना उद्योग के बनते हैं। प्रभुने पूछा कि–हे सद्दालपुत्र ! कदाच कोई पुरुष तेरे इन बर्तनों को चुरा कर ले जाय अथवा तोड़ डाले अथवा तेरी स्त्री के साथ भोगविलास करे तो तू उसको क्या दंड देगा ? उसने उत्तर दिया कि–हे भगवान् ! मैं उसकी अत्यन्त तर्जना करुं–उसके प्राण अकाल में ही नाश करादुं। इस पर स्वामीने कहा कि–इस प्रकार उद्यम की परतंत्रता से ही सर्व कार्य करने पर भी तेरा सर्व कार्य उद्यम बिना होना कहना मिथ्या है। एकान्तरूप से माना हुआ सर्व असत्य और स्याद्वाद-द्वारा माना हुआ ही सत्य होता है। आदि भगवान् की युक्ति से प्रबोध प्राप्त कर उस श्रेष्ठीने अपनी स्त्री सहित जिनेश्वर के पास पांच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रतरूप श्राद्धधर्म स्वीकार किया। तत्पश्चात् श्रीजिनेश्वरने अन्यत्र विहार किया।

सद्दालपुत्र के भगवंत के धर्म को अंगीकार कर लेने की बात सुन कर गोशाल उसके घर पहुंचा परन्तु सद्दालपुत्र उसको देख कर मौन धारण कर बैठ रहा, खड़े होकर उसका सत्कार तक नहीं किया। उस समय मंखलीपुत्रने लज्जित होकर भगवान के गुणों का इस प्रकार वर्णन किया कि–हे देवानुप्रिय ! क्या यहां महामाहन का पधारना हुआ था ? सद्दालपुत्रने प्रश्न किया कि–तुम महामाहन किसे कहते हो ?

गोशालने उत्तर दिया कि-हे सद्दालपुत्र ! सूक्ष्म और बादर दोनों प्रकार के जीवों की हिंसा से मुक्त होने से श्रीमहावीर ही महामाहन है। हे श्रमणोपासक ! क्या यहां महागोप, महासार्थवाह, महाधर्मकथक और महानिर्यामक पधारे थे ? यह सुन कर श्रेष्ठीने पूछा कि-तुम इस प्रकार किसका वर्णन कर रहे हो ? गोशालने उत्तर दिया कि-मैं त्रिशलापुत्र श्रीमहावीरस्वामी का वर्णन कर रहा हूँ। यह सुन कर श्रेष्ठीने हर्षित हो बहुमानपूर्वक गोशाल से कहा कि-क्या तुम मेरे गुरु के साथ वाद कर सकते हो ? गोशालनें उत्तर दिया कि-हे भद्र ! मैं तेरे गुरु के साथ वाद करने में असमर्थ हूँ क्योंकि वे तो एक ही वचन से मुझे परास्त कर सकते हैं। यह सुन कर सद्दालपुत्रने कहा कि-तुमने उन सर्वज्ञ का यथार्थ वर्णन किया है, अतः मैं सत्कारपूर्वक तुम को अशन, वस्त्र आदि प्रदान करता हूँ परन्तु धर्मबुद्धि से नहीं। इस प्रकार अनेक युक्तियुक्त वाक्योंद्वारा उसको प्रभु के धर्म में दृढ़ जान कर गोशालने विलक्ष हो वहां से अन्यत्र विहार किया।

एक बार एकनिष्ठ सद्दालपुत्र श्राद्धधर्म प्राप्त कर पन्द्रहवें वर्ष में पौषध लेकर पौषधशाला में था कि-रात्री के समय कोई देव हाथ में तीक्ष्ण खड्ग ले पिशाच का रूप धारण कर वहां आकर उपसर्ग करने लगा। उसके घर से उसके एक पुत्र को लाकर शस्त्रद्वारा उसके टुकड़े टुकड़े कर उसके रुधिर को पौषधशाला में बैठे हुए उस श्रेष्ठी के शरीर पर

सिंचन करने लगा। फिर भी उस श्रेष्ठी को न तो कुछ भय ही उत्पन्न हुआ न उसके ऊपर क्रोध ही आया। यह देख कर उस पिशाचने कहा कि—हे मृत्यु की प्रार्थना करनेवाले! यदि तू अब भी धर्म का त्याग नहीं करेगा तो भी मैं तेरे समक्ष तेरी स्त्री का ही घात करुंगा। इस प्रकार उसके बारं-बार कहने पर श्रेष्ठीने विचार किया कि—सचमुच यह कोई अनार्य (पापी) जान पड़ता है, अतः मैं इसको पकड़लूं। ऐसा विचार कर जोर से चिल्ला कर वह ज्योंहि उसको पकड़ने जाता है कि—वह देव अदृश्य होजाता है। उस समय अपने पति के चिल्लाने के शब्द सुन कर उसकी स्त्री शीघ्र ही पौषधशाला में दौड़ी हुई आई और पति से चिल्लाने का कारण पूछा जिस पर उसने यथार्थ वृत्तान्त कहा वह सुन कर वह बोली कि—हे स्वामी! तुम्हारे पुत्र आदि सर्व कुटुम्ब को किसीने नहीं मारा, वे तो सब अपने घर में सुखपूर्वक सोये हुए हैं, अतः यह किसी देवताद्वारा किया हुआ उपसर्ग जान पड़ता है परन्तु तुमने जो अपने व्रत का भंग किया यह अयोग्य है, अतः उस पाप की आलोयणा कीजिये। यह सुन कर श्रेष्ठीने लगे हुए दोप की आलोयणा प्रतिक्रमण किया। अनु-क्रम से श्रावक की ग्यारह प्रतिमा का वहन कर वह सौधर्म देवलोक में चार पल्योपम के आयुष्यवाला देवता हुआ। वहां से चव कर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न हो सिद्धिपद को प्राप्त करेगा। (यह कथा उपासकदशांग से उद्धृत की गई है।)

सद्दालपुत्रने श्रीजिनेश्वर के वाक्यों से बोध प्राप्त कर गोशाला के पक्ष का त्याग कर सम्यक्त्व की यतनाओं को धारण कर स्वर्ग को प्राप्त किया है।

इत्युपदेशप्रासादे चतुर्थस्तंभे सप्तचत्वारिंशत्तमं व्याख्यानम् ॥ ४७ ॥

व्याख्यान ४८ वां

छ आगार

आगाराः षड्विधाः प्रोक्ता, अपवादे जिनादिभिः।
राजगुरुवृत्तिकान्तारगणदेवबलैर्युताः ॥ १ ॥

भावार्थः—श्रीजिनेश्वरने अपवाद मार्ग से छ आगार बतलाये हैंः-राजाज्ञा से, गुरुआज्ञा से, आजीविका के कारण, समुदाय के कहने से, देव के बलात्कार से और किसी बलवान के बलात्कार से।

समकित के विषय में आगार अपवाद मार्ग से बतलाये गये है, उत्सर्ग मार्ग से नहीं। कहा भी है कि—

उस्सग्गसुअं किंचि, किंचि अ अववायं भवे सुत्तं।
तदुभयसुत्तं किंचि, सुत्तस्स भंगा मुणेयव्वा ॥१॥

भावार्थः—कोई सूत्र उत्सर्ग का है, कोई अपवाद का

और कोई उत्सर्ग तथा अपवाद दोनों के लिये उपयोगी होता है। इस प्रकार सूत्र के भी तीन भेद समझना चाहिये।

अतः गुण का विभाग देख कर दोनों पक्ष का उपयोग करना चाहिये। कहा है कि—

तम्हा सव्वाणुन्ना, सव्वनिसेहो य पवयणे नत्थि।
आयं वयं तुलिज्जा, लाहाकंखिव्व वाणियओ ॥१॥

भावार्थः—जिनप्रवचन के विषय में किसी भी कार्य की न तो सर्वथा आज्ञा ही की गई, न निषेध ही परन्तु लाभ की आकांक्षा (इच्छा) रखनेवाले वणिक के सदृश आय और व्यय (लाभ और हानि) की तुलना कर जिस में विशेष लाभ होने की संभावना हो उसी कार्य को करना चाहिये। अर्थात् ऐसा करना चाहिये कि–जिस में व्यय से लाभ अधिक प्राप्त हो सके।

उत्सर्ग मार्ग में सर्वथा यथाख्यात चारित्रवान् को जो निरतिचार (अतिचार रहित) मार्ग है वह ही बतलाया गया है परन्तु वर्तमान समय में उस प्रकार के संघयणादिक के अभाव के कारण उस प्रकार के उत्सर्ग मार्ग का पालन करना अशक्य है अतः अपवाद मार्ग ही सेवन कर बाद में आलोयणादिकद्वारा आत्मा की शुद्धि करना चाहिये।

प्रथम राजाभियोग नामक आगार का स्वरूप बतलाया जाता है—

दक्षिण्येन क्षितीशस्य, बलाद्वा वाक्यतोऽथवा ।
कुदृष्टीनां नमस्कारो, राजाभियोग उच्यते ॥१॥

भावार्थः—राजा की दाक्षिण्यताद्वारा उसके बलात्कार से अथवा उसके वचन से कुदृष्टियों (मिथ्यात्वियों) को जो नमस्कार करना पड़ता है उसे राजाभियोग कहते हैं ।

इस प्रसंग पर निम्नलिखित कार्तिक श्रेष्ठी का दृष्टान्त बतलाया जाता हैं—

कार्तिकश्रेष्ठी का दृष्टान्त

पृथ्वीभूषण नगर में श्रीमुनिसुव्रतस्वामी से धर्म का प्रतिबोध प्राप्त करनेवाला कार्तिक नामक श्रेष्ठी रहता था । एक बार उस नगर में गैरिक नामक तपस्वी आया । वह सदैव मासोपवास कर पारणा करता था । कार्तिक श्रेष्ठी के अतिरिक्त अन्य सब उसके भक्त हो गये, अतः वह तापस कार्तिक श्रेष्ठी पर अत्यन्त क्रोधित हुआ । एक बार राजाने उस गैरिक तपस्वी को अपने यहां पारणा करने के लिये आमंत्रण किया । इस पर उसने उत्तर दिया कि–हे राजा ! यदि कार्तिक श्रेष्ठी मुझे खाना खिलाये तो मैं तुम्हारे यहां भोजन करने को तैयार हूँ । राजाने यह बात स्वीकार कर श्रेष्ठी को बुलाकर कहा कि–मेरे घर पर तू गैरिक को खाना खिला । श्रेष्ठीने उत्तर दिया कि–हे राजा ! आप की आज्ञा

का मैं पालन करुंगा। राजाभियोग आगार होने से राजाज्ञा से निषिद्ध कार्य करने में भी व्रत का भंग नहीं होता है ऐसा विचार कर श्रेष्ठीने राजाज्ञा को पालन करना स्वीकार किया। फिर गैरिक तापस को भोजन कराने के लिये जब श्रेष्ठी राजा के घर गया और भोजन परोसने लगा तो तापसने अपने नाक पर अंगुली रख कर संकेत किया कि–"तेरा नाक कट गया।" यह देख कर श्रेष्ठीने विचार किया कि– यदि मैंने प्रथम ही से दीक्षा ग्रहण की होती तो आज तापस को मेरा इस प्रकार पराभव करने का अवसर प्राप्त न होता। ऐसा विचार कर उसने एक हजार और आठ वणिकपुत्रों सहित दीक्षा ग्रहण की।

अनुक्रम से द्वादशांगी का अभ्यास कर बारह वर्ष संयम पालन कर सौधर्मेन्द्र हुआ। गैरिक तापस भी मर कर अपने धर्म के प्रभाव से उसी सौधर्मेन्द्र का ऐरावण हाथी× हुआ। उसने विभंगज्ञानद्वारा कार्तिक श्रेष्ठी को पहचान कर भगना चाहा परन्तु इन्द्रने उसको पकड़ कर उस पर स्वारी की। इन्द्र को भयभीत करने के लिये उस ऐरावणने अपने दो रूप बनाये तो इन्द्रने भी दो रूप बनाये। हाथीने चार

× देवलोक में तिर्यंच नहीं होते हैं परन्तु उस कार्य के करनेवाले आभियोगिक देव को इन्द्र की आज्ञा होने से ऐरावण हाथी का रूप बना कर अपना धर्म पालन करना पड़ता है।

रूप किये तो इन्द्रने भी चार रूप किये। अन्त में इन्द्रने जब अवधिज्ञान से देखा तो हाथी को गैरिक तपस्वी का जीव होना जान तर्जना की तो उसने अपना स्वाभाविक रूप बनाया। वहां से चव कर वह इन्द्र महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य होकर सिद्धिपद को प्राप्त करेगा। यह कथा भगवतीसूत्र में विस्तारपूर्वक कही गई है।

कई लोग राजाज्ञा होने पर भी अपने व्रत का भंग कदापि नहीं करते हैं। इस पर कोशा गणिका की कथा प्रसिद्ध है—

कोशा गणिका की कथा

पाडलीपुर में अनुपम रूप, लावण्य और कलाकुशलतादिक गुणरत्नों के कोश तुल्य कोशा नामक वेश्या रहेती थी। उसको प्रतिबोध करने के लिये गुरु की आज्ञा लेकर स्थूलभद्र मुनिने उसके घर जाकर चातुर्मास किया। वेश्याने उनको वश में करने के लिये अनेक प्रकार के हाव, भाव, नियम, विलास आदि किये परन्तु इससे उनका चित्त किंचिन्मात्र भी विचलित नहीं हुआ। अन्त में मुनिने उसको प्रतिबोध कराया जिससे उसने बारह व्रत धारण कर चोथे व्रत के लिये राजाज्ञा से आये हुए पुरुष के अतिरिक्त अन्य पुरुषों का संग नहीं करने का नियम ग्रहण किया।

एक बार कोशा के ग्रहण किये हुए व्रत का भंग करने

के लिये नन्दराजाने कामदेव के सदृश रूपवान एक कामातुर रथकार (सुथार) को उसके पास भेजा। उस रथकारने कोशा के मनोरंजन के लिये एक स्थान पर खड़ा रह कर धनुर्विद्या की निपुणता से एक एक के पश्चात् एक बाण छोड़ कर लम्बी लकड़ी के सदृश बने हुए बाण के अग्र भाग से आम के सिरे की लुंब तोड़ कर उसे अपने हाथ में ले कोशा को भेट की। उसी प्रकार अपनी वाणी की सर्व प्रकार की चतुराई तथा सर्व प्रकार का बल बतलाया यह सब देख कर विषय से विरक्त हुए कोशाने कहा कि—

वरं ज्वलदयःस्तंभपरिरंभो विधीयते ।
न पुनर्नरकद्वाररामाजघनसेवनम् ॥ १ ॥

भावार्थः—तपाये हुए लोहे के स्तंभ का आलिंगन करना श्रेष्ठ है किन्तु नरकद्वार सदृश स्त्री के जघन का सेवन करना उचित नहीं।

इस प्रकार वैराग्य के वचन बोलकर फिर उसके गर्व का नाश करने के लिये सरसव का ढ़ेर कर उस पर एक सुई रख उस सुई के अग्रभाग पर पुष्प रख कर नृत्य करती हुई वेश्याने कहा कि—

न दुक्करं अंबयलुंबतोड़नं,
न दुक्करं सारिसवनाच्चियाणं ।

तं दुक्करं तं च महाणुभावं,
जं सो मुणी पमयवणम्मी वुच्छो ॥ १ ॥

भावार्थः--आम की लुंब तोड़ना तथा सरसव के ढ़ेर पर नाच करना दुष्कर नहीं है परन्तु महानुभाव श्रीस्थूलभद्र मुनि प्रमाद तथा प्रमाद के बन में जो प्रमादी नहीं हुए यह ही एक दुष्कर है ।

गिरौ गुहायां विजने वनान्तरे,
वासं श्रयन्तो वशिनः सहस्रशः ।
हर्म्येऽतिरम्ये युवतीजनान्तिके,
वशी स एकः शकटालनंदनः ॥ २ ॥

भावार्थः--पर्वत की गुफा तथा निर्जन वन में रहने-वाले हजारों मनुष्य जितेन्द्रिय हो सकते हैं, परन्तु अति मनोहर प्रासाद में सुन्दर युवतिजन के साथ निवास कर मात्र एक शकटालमंत्री के पुत्र श्रीस्थूलिभद्र ही जितेन्द्रिय रहे हैं ।

इस प्रकार श्री स्थूलिभद्र मुनि की प्रशंसा कर उसने रथकार को प्रतिबोध किया इस से उस रथकारने विषय से पराङ्मुख हो दीक्षा ग्रहण की और अनुक्रम से स्वर्ग सुख प्राप्त किया । कोशा भी चिरकाल जैनधर्म की प्रभावना कर स्वर्ग सिधारी ।

जो कोशा वेश्या के सदृश स्वधर्म के रागी पुरुष राजाज्ञा होने पर भी स्वधर्म का त्याग न कर अन्य जनों को अपनी बुद्धि से प्रतिबोध करते हैं उन्हीं को सच्चे मुक्ति-मार्ग के मुसाफिर जानना चाहिये।

इत्युपदेशप्रासादे चतुर्थस्तंभे अष्टचत्वारिंशत्तमं व्याख्यानम् ॥ ४८ ॥

व्याख्यान ४९ वां

दूसरा गणाभियोग आगार

समुदायो जनानां हि, स एवोक्तो जिनैर्गणः ।
क्रियते तस्य वाक्येन, निषिद्धमपि सेवनम् ॥१॥
गणाभियोग आगारो, द्वितीयोऽयं निगद्यते ।
केचिदुत्सर्गपक्षस्था, नैवं मुञ्चत्यभिग्रहम् ॥२॥

भावार्थः—मनुष्यों के समुदाय को जिनेश्वरने गण कहा है। उस गण के वाक्य से निषिद्ध कार्य करने को दूसरा गणाभियोग आगार कहते हैं। उत्सर्ग पक्ष में दृढ़ कई ऐसे भी प्राणी हैं कि-जो गणाभियोग से भी अपने अभिग्रह को नहीं छोड़ते। इसके दृष्टान्तस्वरूप सुधर्म राजा की कथा कही जाती है।

सुधर्मराजा की कथा

पांचाल देश का सुधर्म नामक राजा जैनधर्म में दृढ़ था। एक बार दूतने आकर उससे कहा कि–हे देव! महाबल नामक चोर लोगों को अत्यन्त कष्ट पहुंचाता है। इस पर राजाने उत्तर दिया कि–मैं स्वयं वहां जाकर इसका निग्रह करुंगा, क्यों कि—

तावद्गर्जन्ति मातंगा, वने मदभरालसाः ।
शिरोविलग्नलाङ्गूलो, यावन्नायाति केसरी ॥१॥

भावार्थः—मद में मस्त हुए हाथी वन में तभी तक गर्जन करता हैं जब तक कि–पूछ को मस्तक पर झुलाते हुए केसरीसिंह नहीं आता।

ऐसा कह कर सैन्य भार से पृथ्वीतल को नमाते हुए सुधर्म राजा उस चोर का निग्रह करने को गया। क्रीड़ा मात्र से ही चोर का पराभव कर राजा वापस अपने नगर को लौटा तो नगर में प्रवेश करते ही नगर का मुख्य द्वार एकाएक गिर पड़ा। इसे अपशुकन समझ राजा वापस मुड़ गया और ग्राम के बाहर ही पड़ाव किया। मंत्रियोंने शीघ्रतया नया द्वार बनवाया परन्तु वह भी प्रवेशसमय टूट गया। फिर एक ओर द्वार बनवाया गया किन्तु वह भी टूट गया। यह देख कर राजाने मंत्रियों से कहा कि–यह

दरवाजा बारंबार क्यों टूट जाता है ? मंत्रीने उत्तर दिया कि–हे देव ! यदि आप अपने हाथ से एक पुरुष का वध कर बलिदान करें तो इस दरवाजे का अध्यक्ष यक्षदेव प्रसन्न हो सकता है अन्यथा अन्य प्रकार की पूजा, नैवेद्य या बलिदान से उसका प्रसन्न होना कठिन है । इस प्रकार चार्वाक मतानुयायी मंत्री के वचन सुन कर राजाने कहा कि–जिस नगर में जाने के लिये जीववध करना पड़े उस नगर में जाने से मुझे क्या प्रयोजन ? क्योंकि जिस अलंकार के पहिनने से कान ही टूट गिरे उस अलंकार को पहिनना ही क्यों ? राजनीति भी बतलाती है कि—

न कर्तव्या स्वयं हिंसा, प्रवृत्तां च निवारयेत् ।
जीवितं बलमारोग्यं, शश्वद्वाञ्छन्महीपतिः ॥१॥

भावार्थः—जीवन, बल और आरोग्यता के अभिलाषी राजा को हिंसा कभी नहीं करना चाहिये अपितु होनेवाली हिंसा का भी निवारण करना चाहिये ।

राजा के इस निश्चय को जान कर मंत्रीने समग्र पुरवासीयों को बुला कर कहा कि–" हे पुरवासीयों ! यदि राजा एक मनुष्य का वध कर बलिदान दे तो यह दरवाजा स्थिर रह सकता था अन्यथा नहीं, अतः मैंने जब राजा से ऐसा करने की प्रार्थना की तो उसने उत्तर दिया कि–मैं न

जीवहिंसा स्वयं करुंगा न कराउंगा और न करने का अनुमोदन ही करुंगा इसलिये अब तुम जैसा चाहो वैसा करो।" इस पर महाजनोंने राजा से प्रार्थना की कि–हे स्वामी! हम सब कुछ करलेगें परन्तु आप मौन ही रहना। इस पर राजाने कहा कि–प्रजा के किसी भी पाप का छट्ठा हिस्सा राजा के भाग में आता है। कहा भी है कि—

यथैव पुण्यादिसुकर्मभाजां,
षष्ठांशभागी नृपतिः सुवृत्तः ।
तथैव पापादिकुकर्मभाजां,
षष्ठांशभागी नृपतिः कुवृत्तः ॥ १ ॥

भावार्थः–जिस प्रकार पुण्यादिक सुकर्म करनेवाले मनुष्यों के पुण्य का छट्ठा भाग राजा को मिलता है उसी प्रकार पापादिक कुकर्म करनेवाले मनुष्यों के पाप का छट्ठा हिस्सा भी राजा को मिलता है।

महाजनोंने फिर कहा कि–हे स्वामी! इस पाप का सब भाग हमारे सिर पर पड़ेगा इस में आप का कोई भाग नहीं होगा आदि बाते बना कर उन्होंने महाप्रयत्न से राजा को मौन रहना स्वीकार कराया। फिर महाजन लोगोंने अपने घर से द्रव्य निकाल कर एकत्रित कर स्वर्ण का एक पुरुष बनाया। उसे गाड़ी में रख सारे नगर में फिरा कर यह घोषणा कराई कि–यदि कोई माता अपने पुत्र को अपने

हाथ से विषपान कराये और उसका पिता उसका गला घोट दे तो उसे यह स्वर्णमय पुरुष तथा एक करोड़ स्वर्णमोहर दी जायगी ।

उसी नगर में एक महादरिद्री वरदत्त नामक ब्राह्मण रहता था, जिसके रुद्रदत्ता नामक स्त्री थी। वे दोनो अत्यन्त निर्दय थे। उनके सात पुत्र थे। उपरोक्त घोषणा सुन कर वरदत्तने अपनी स्त्री से कहा कि–हे प्रिया ! छोटे पुत्र को देकर यह सर्व द्रव्य हम क्यों न लेतें क्योंकि द्रव्य का माहात्म्य लोकोत्तर हैं। कहा भी है कि—

पूज्यते यदपूज्योऽपि, यदगम्योऽपि गम्यते ।
वंद्यते यदवंद्योऽपि, तत्प्रभावो धनस्य च ॥ १ ॥

भावार्थः—अपूज्य का पूजा जाना, अगम्य का गमन होना और अवंद्य का वंदित होना यह सर्व धन का ही प्रभाव है ।

यह सुन कर निर्दयता के कारण उसने भी पति के वचनों को स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् ब्राह्मणने घोषणा करनेवाले से कहा कि–मुझे द्रव्य देकर इस पुत्र को लेजाओ। इस पर लोगोंने कहा कि–जब तेरी स्त्री इसको विषपान करावेगी और तू इसका गला घोटेगा तब ही तुझको यह द्रव्य दिया जायगा, अन्यथा नहीं। ब्राह्मणने यह बात स्वीकार की। उस समय अपने माता–पिता के यह वचन सुन कर

छोटे बालक इन्ददत्तने विचार किया कि–अहो ! संसार कैसा स्वार्थी है कि–जिस में द्रव्य के लिये माता–पिता अपने पुत्र तक को मारने को तैयार हो जाते हैं।

फिर उसने उसको पुष्पादिक से शृंगार कर राजा के पास ले गये। राजाने उस बालक को हँसते हुए आते देख पूछा कि–हे बालक ! तू क्यों हँसता है ? क्या तू मृत्यु से नहीं डरता ? इस पर उस बालकने उत्तर दिया कि–हे राजा ! सुनिये—

तावद्भयाद्बिभेतव्यं, यावद्भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं दृष्ट्वा, सोढव्यं तमशंकितैः ॥१॥

भावार्थः—जब तक भय प्राप्त न हो तब तक ही भय से भयभीत होना चाहिये परन्तु भय के उपस्थित होने पर तो उसको निशंकरूप से सहन करना चाहिये क्योंकि फिर उससे भय करना निष्फल है।

अपितु हे राजा ! लता के अंकुर से हँसों के सदृश जब शरण करने योग्य से ही भय प्राप्त हो तो फिर भग कर कहा जाना ? इस पर राजाने हँस का वृत्तान्त सुनाने को कहा तो वह बालक बोला कि—

किसी अरण्य में मानस सरोवर के तीर पर एक सीधा ऊंचा वृक्ष था जिस पर कई हंस निवास करते थे। एक बार उस वृक्ष के मूल में एक लता का अंकुर देख कर वृद्ध हंसने

दूसरे हँसो से कहा कि-" हे पुत्र पौत्रो ! इस लता के अंकुर को तुम सब चोंचद्वारा काट डालो कि-जिससे सब की मृत्यु न हों।" यह सुन कर उन युवान हंसोंने हँसते हुए कहा कि-" अहो ! यह वृद्ध मृत्यु से कितना डरता हैं ? हमेशा जीने की अभिलाषा रखता है। इस अंकुर से हमारा क्या अहित हो सकता है ?" यह जान कर वृद्ध हंसने विचार किया कि-अहो ! ये युवान कैसे मूर्ख हैं कि-जो अपने हित अहित की बातं भी नहीं जान सकते हैं। कहा भी है कि—

प्रायः संप्रति कोपाय, सन्मार्गस्योपदर्शनम् ।
निलूननासिकस्येव, विशुद्धादर्शदर्शनात् ॥ १ ॥

भावार्थः--आजकल सत्य मार्ग का उपदेश करना बहुधा क्रोध का भाजन मात्र है। जैसे नाक कटे पुरुष को निर्मल अरिसा दिखाना केवल उससे झगड़ा मोल लेना है। अपितु—

उपदेशो न दातव्यो, यादृशे तादृशे नरे ।
पश्य वानरमूर्खेण, सुगृही निर्गृही कृता ॥१॥

भावार्थः—जिस किसी को उपदेश देना व्यर्थ है क्योंकि देखिये इस प्रकार का विना विचार किये उपदेश देने में मूर्ख वानर से सुगृही को घर रहित कर दिया।

एक वृक्ष पर एक सुगृही घर बना उस में सुख से

रहती थी। एक बार वर्षाऋतु में अत्यन्त वृष्टि होने पर एक वानर इधर उधर घूमता हुआ शीतल वायु से कांपता हुआ और दांतों को कटकटाता वहां जा पहुंचा। उसको अत्यन्त दुःखी देख कर उस सुगृहीने कहा कि–'हे वानर! ऐसी वर्षाऋतु में इधर उधर क्यों दौड़ता फिरता है? हमारी तरह घर बना कर क्यों नहीं रहता?' यह सुन कर वानरने उत्तर दिया कि—

सूचीमुखे! दुराचारे!, रे रे पंडितमानिनि! ।
असमर्थो गृहारंभे, समर्थो गृहभंजने ॥ १ ॥

भावार्थः—सुई मुख के सदृश तीक्ष्ण मुखवाली, दुराचारिणी, और पंडितमानी सुगृही! मैं घर बनाने में तो असमर्थ हूँ परन्तु गृहभंजन में तो समर्थ हूँ। ऐसा कह कर एक फलांग मार कर उस वानरने उसके घरको तहसनहस कर एक एक तृण को भिन्न भिन्न दिशाओं में फैंक दिया। फिर वह सुगृही अन्यत्र जा सुख से रहने लगी।

ऐसा विचार वह वृद्ध हँस मौन धारण कर बैठ रहा। समय के व्यतीत होने पर वह लता बढ़ कर वृक्ष के आसपास लिपट चोतरफ फैल गई और अनुक्रम से वृक्ष के सिरे तक पहुंच गई। एक दिन किसी पारधीने आकर उस लता को पकड़ वृक्ष पर चढ़ सब ओर पाश फैला दिया। रात्री के होने पर सब हंस सोने के लिये उस वृक्ष पर आकर बैठे,

अतः सब उस पाश में फँस गये और पुकारे मचाने लगे तो वृद्ध हंसने कहा कि–तुमने पहले मेरे कहनेनुसार नहीं किया जिससे यह मृत्यु प्राप्त हुई है। वे बोले–हे पिता! हमने जिस लता के अंकुर को शरण के लिये रक्खा था वह ही आज हमारी मृत्यु का कारण बन गई, अब हमको इस से बचने का उपाय बतलाइयें। कहा भी है कि—

चित्तायत्तं धातुबद्धं शरीरं,
नष्टे चित्ते धातवो यान्ति नाशम् ।
तस्माच्चित्तं यत्नतो रक्षणीयं,
स्वस्थे चित्ते बुद्धयः संभवन्ति ॥ १ ॥

भावार्थः—यह सप्त धातु से बना हुआ शरीर चित्त के आधीन है, चित्त का यत्न से रक्षण करना चाहिये क्योंकि चित्त के स्वस्थ होने से बुद्धि उत्पन्न होती है।

वृद्ध हंसने कहा कि–हे पुत्रों! प्रातःकाल तुम सब मरे हुए के सदृश तद्दन स्तब्ध हो जाना, किंचित् मात्र भी हिलना–डुलना मत कि जिससे तुम को मरे हुए जान कर पारधी ऐसे के ऐसे नीचे फैक देगा; अन्यथा तुम्हारे कंठ मरोड़ कर पीछे नीचे डालेगा। सबोंने वृद्ध के कथनानुसार करना स्वीकार किया। प्रातःकाल पारधीने आकर देखा तो सब को मरे हुए जाना, अतः विश्वास से सब को जाल में से निकाल निकाल कर नीचे डाल दिया। सब हंसो के

नीचे डाल दिये जाने पर उस वृद्ध हंसने संकेत किया कि–सब उड़ उड़ कर भग गये और चिरकाल तक जीवित रहे। उस समय वृद्ध हंसने कहा कि—

दीग्घकालं वयं तत्थ, पायवे निरुवद्दवे ।
मूलाओ उट्ठिया वल्ली, जायं सरणतो भयम् ॥१॥

भावार्थः—हम दीर्घकाल तक इस उपद्रव रहित वृक्ष पर रहे किन्तु बाद में इस वृक्ष के मूल में से ही बेल उठी (जिससे हम मृत्यु के भय में आ गिरे) अतः शरणदाता से ही भय उत्पन्न हुआ।

इस प्रकार की वार्ता कह कर इन्द्रदत्तने कहा कि–हे राजा ! इस जगत का ऐसा नियम है कि–पिता से डरा हुआ पुत्र माता की शरण में जाता है, माता से उद्वेगित पुत्र पिता की शरण में जाता है, दोनों से डराया हुआ राजा की शरण में जाता है और राजा से भी उद्वेग पाया हुआ महाजनों की शरण में जाता है। अब जहां माता स्वयं ही विष देती है, पिता गला घोटता है, राजा ऐसे कार्य में प्रेरणा करता है और महाजन द्रव्य देकर ऐसा कार्य स्वयं कराते हैं तो फिर किस की शरण लेना ? क्योंकि माता–पिताने पुत्र को दे दिया, राजा शत्रु बन कर घात करने को उद्यत हो गया, देवता बलिदान के इच्छुक है तो फिर लोग क्या करें ? अतः हे राजा ! अब मुझे भय रख कर क्या

करना है ? अब तो प्रसन्नतापूर्वक यमराज का अतिथि होना ही योग्य है ।

इस प्रकार उस बालक के वचन सुन कर राजाने कहा कि–हे बालक ! मैं तुझे छोड़ता हूँ, तुझ को मारनेवाला मेरा शत्रु होगा, तू सुख से जीवित रह । मुझे इस नगर आदि से कोई प्रयोजन नहीं है । ऐसा कह कर राजाने सम्पूर्ण नगर में अपने सेवको से इसकी घोषणा कराई । इस प्रकार राजा के धैर्य को देख कर शीघ्र ही एक देवने प्रकट हो कर कहा कि–हे राजा ! शक्रद्वारा तेरे धैर्य की प्रशंसा सुन कर उस की परीक्षा करने के लिये मैंने इस दरवाजे को तीन बार तोड़ा है परन्तु तेरे धैर्य को देख कर मैं सन्तुष्ट हो गया हूँ। ऐसा कह कर राजा को प्रणाम कर दरवाजे को जैसा का तैसा बना राजा की प्रशंसा करता हुआ वह देव स्वस्थान को लौट गया ।

सुधर्म राजाने सर्व जनों के आग्रह पर भी हिंसायुक्त वाक्य ग्रहण न कर वैराग्य से चारित्र ग्रहण कर अन्त में मोक्षसुख को प्राप्त किया ।

इत्युपदेशप्रासादे चतुर्थस्तंभे एकोनपंचाशत्तमं व्याख्यानम् ॥ ४९ ॥

व्याख्यान ५० वां

वृत्तिकांतार नामक आगार

दुर्भिक्षारण्यसंपर्के, जीवनार्थं विधीयते ।
मिथ्यात्वं स च कान्तारवृत्तिनाम निगद्यते ॥१॥

भावार्थः—दुष्काल के कारण अन्नादिक के अभाव से या अरण्य में मार्ग भूल जाने पर जल, फल आदि के अभाव से यदि अपने जीवन की रक्षा के लिये मिथ्यात्व का सेवन करना पड़े तो इसे "कांतारवृत्ति" आगार कहते हैं।

उत्सर्ग अपवाद के ज्ञाता किसी संविज्ञ पुरुष को भी अपने जीवन के लिये मिथ्यात्व का सेवन करना पड़े या नियम भंग करना पड़े तो इसे वृत्तिकांतार नामक तीसरा आगार कहते हैं। कई उत्सर्ग मार्ग में दृढ़ प्राणी तो अचंकारी भट्टा के सदृश कष्ट पडने पर भी स्वधर्म को नहीं छोडते हैं।

अचंकारी भट्टा की कथा

क्षितिप्रतिष्ठित नगर के धन्ना श्रेष्ठी के भद्रा नामक स्त्री से आठ पुत्रों के पश्चात् एक भट्टा नामक पुत्री उत्पन्न हुई। श्रेष्ठीने उस पर अतिशय प्रेम होने से सर्व स्वजनों को एकत्रित कर कहा कि-इस मेरी पुत्री को कोई कुछ भी नहीं कहना। इससे सब उसको अचंकारी भट्टा कहने लगे। उस-

को मनोहर युवावस्था में आई जान कर राजा के मंत्रीने उसके पिता से उसकी याचना की। इस पर श्रेष्ठीने उत्तर दिया कि–मैं मेरी पुत्री उसी पुरुष को दूंगा कि–जो इसके वचनों का कभी उल्लंघन न करें। मंत्री के इस शर्त को स्वीकार करने पर श्रेष्ठीने शुभ दिवस को अपनी पुत्री का लग्न उसके साथ कर विषय सुख का अनुभव करते कई दिन व्यतीत हो गये। एक बार उसने मंत्री से कहा कि–हे प्राणनाथ! आप राज्य के बड़े अधिकारी हैं किन्तु यदि आप को मेरे साथ प्रीति निभाने की इच्छा हो तो सूर्यास्त के पश्चात् कहीं भी नहीं जाना, अन्यथा प्रीति का रहना कठीन है। यह सुन कर मंत्रीने उसके वचनों को सहर्ष स्वीकार किया।

एक दिन राजाने मंत्री से पूछा कि–हे मंत्री! तुम सदैव घर जल्दी क्यों चले जाते हो? इस पर मंत्रीने सब वृत्तान्त सत्य सत्य कह सुनाया। यह सुन कर राजाने विनोद के लिये किसी मिष से मंत्री को रात्री के दो पहर तक रोक कर बाद में जाने की आज्ञा दी। मंत्री घर पहुंचा तो घर का दरवाजा बंद पाया। इसलिये उसने पुकार कि–हे प्रिया! दरवाजा खोल। आज राजाज्ञा से इतना विलंब हो गया है, मेरी इच्छा से मैं नहीं ठहरा हूँ अतः मुझ पराधीन पर क्रोध न कर। इस प्रकार बारंबार पुकार करने पर भट्टाने कुपित हो एकदम द्वार खोला और मंत्री की दृष्टि

को बचाती हुई शीघ्र ही घर से बाहर निकल अपने पिता के गृह की ओर प्रयाण किया। मार्ग में चोरोंने उसको पकड़ लिया। उसके वस्त्राभूषण छीन कर उसको उनके पल्लीपति के सिपुर्द किया। पल्लीपतिने उसके मनोहर रूप को देख कर उसके साथ संभोग करने को अनेकानेक प्रार्थना की परन्तु जब उसने स्वीकार नहीं किया तो उसको अनेक प्रकार के कष्ट देने लगा। तब वह बोली कि–मेरे प्राणों का अन्त आने पर भी मैं अपने शील का खंडन नहीं करुंगी, अतः तू व्यर्थ क्यों चेष्टा करता है? ऐसा कहने पर भी जब पल्लीपति न समझा तो उसको बोध करने के लिये उसने एक कथा सुनाना आरंभ किया कि—

कोई तेजोलेश्या की सिद्धिवाला तापस किसी वृक्ष के नीचे बैठा हुआ था कि–किसी बगलीने उसके मस्तक पर पीठ कर दिया। इससे कुपित हो उस तपस्वीने अपने तेजोलेश्याद्वारा उसको भस्म कर दिया और विचार किया कि–जो कोई मेरी अवज्ञा करेगा उसीको मैं तेजोलेश्याद्वारा भस्म कर दूंगा। ऐसा विचार कर वह तपस्वी भिक्षा के लिये किसी श्रावक के घर पर गया। उस श्रावक की पतिव्रता स्त्री अपने पति की सेवा में व्यग्र थी, अतः वह उस तपस्वी को भिक्षा देने के लिये कुछ विलंब कर आई। इस से कुपित हो उस तपस्वीने उस पर अपनी तेजोलेश्या का

प्रयोग किया परन्तु शील के प्रभाव से वह भस्म न हो सकी। उस समय उसने कहा कि–हे तापस! मैं वह बगली नहीं हूँ। यह सुन कर विस्मित हो तपस्वीने उससे पूछा कि–तू ने यह हाल कैसे जान लिया? उसने उत्तर दिया कि–इस प्रश्न का उत्तर तुझे बाराणसीपुर का कुम्हार देगा। यह सुन कर तपस्वीने वहां जाकर कुम्हार से पूछा। इस पर उसने उत्तर दिया कि–उस स्त्री को तथा मुझे शील के प्रभाव से ज्ञान उत्पन्न हो गया है इससे हम दोनों इस बात को जानते हैं, अतः हे तापस! तू भी शील पालने का प्रयत्न कर। यह सुन कर तपस्वी आश्चर्यचकित हो शील की प्रशंसा करता हुआ स्वस्थान को लौट गया।

यह वार्ता सुन कर पल्लीपति भट्टा के शाप से भयभीत हो उससे विरक्त हुआ और उसको किसी पुरुष को बेंच दिया। वह पुरुष भी उसको लेजाकर बब्बर कुल की नीच जाति में बेच आया। उसने भी भोग के लिये प्रार्थना की परन्तु जब उसने स्वीकार नहीं किया तो वह कारुक कहने लगा कि–यदि तुझे अन्न–वस्त्रादि सुख की अभिलाषा हो तो मेरा कहना स्वीकार कर। यह सुन कर भट्टा को व्रत सम्बन्धी तीसरे आगार का ज्ञान होने पर भी उसने अपने निश्चय को न छोड़ा। इस पर उसने क्रोधित हो उसके शरीर में से रुधिर निकाल कर उसको एक वर्तन में डाला।

उस रुधिर में उत्पन्न हुए कृमि के रुधिर से वह वस्त्र रंगने लगा। इस प्रकार बारंबार रुधिर निकालने से उसको पांडु रोग उत्पन्न हो गया तिस पर भी उसने शील का खंडन नहीं किया।

कुछ समय पश्चात् भट्टा का भाई धनपाल व्यापार के लिये बब्बर कुल में गया। उसने फिरते फिरते अपनी बहिन को देख कर पहचान लिया और कारुक को बहुतसा द्रव्य दे उसको उससे छुड़ा उसके सहित वह अपने नगर को लौट आया। भट्टा के पतिने उसका सर्व वृत्तान्त सुन उसको अपने घर ले गया और सर्व गृहकार्य की स्वामिनी बनाया। भट्टाने भी अपने कोप का अत्यन्त कठोर फल अनुभव कर लेने से अब प्राणान्त तक कोप नहीं करने की प्रतिज्ञा की।

एक बार उस नगर के उपवन में मुनिपति नामक मुनिने कायोत्सर्ग किया। उस समय किसी प्रकार की अग्नि से उस मुनि का शरीर जल गया। जले हुए मुनि के शरीर की चिकित्सा (औषध) करने निमित्त कुंचिक श्रेष्ठीने अन्य दो मुनियों को लक्षपाक तेल लाने के लिये अचंकारी के घर भेजा। उन मुनियोंने उसके घर पर जाकर तैल की याचना की, तो अचंकारीने हर्षित हो दासी को आज्ञा दी कि–हे दासी! तैलका घड़ा ले आ। उसी समय स्वर्ग में इन्द्रने सभा समक्ष अचंकारी की प्रशंसा की कि–इस समय अचंकारी भट्टा के सदृश पृथ्वी पर कोई भी क्षमावान् नहीं है।

इन्द्र के इन शब्दों पर श्रद्धा नहीं होने से कोई नास्तिक देव उसके घर आया और दासी जो तैल का कुंभ लेकर आ रही थी उस कुंभ को दैवी शक्ति से घिरा कर फोड़ दिया। इस पर अच्चंकारीने कुछ भी क्रोध न कर दूसरा कुंभ लाने को कहा, उसको भी दैवने फोड़ दिया। इस प्रकार तीसरा कुंभ भी फोड़ दिया तो अच्चंकारी स्वयं कुंभ लाने को गई जिसको दैव उसके शील के प्रभाव से न फोड़ सका। उस घड़े में से अच्चंकारीने मुनि को तैल वहोराया। मुनिने कहा कि–हे भद्र! हमारे लिये तेरे तीन घड़े फूट गये जिससे तुझे बहुत हानि हुई है परन्तु फिर भी दासी पर कोप न करना। यह सुन कर अच्चंकारी हास्य करती हुई बोली–हे पूज्य! मैंने क्रोध तथा मान का फल इसी भव में अनुभव कर लिया है। ऐसा कह कर मुनि के पूछने पर उसने अपना सर्व वृत्तान्त कह सुनाया, जिसे सुन कर अदृश्य हुआ देव भी प्रत्यक्ष हो गया और इन्द्रद्वारा उसकी की हुई प्रशंसा का हाल बता, तोड़े हुए तीनों घड़ों को ठीक कर उसकी प्रशंसा करता हुआ स्वस्थान को गया और उस तैल से दग्ध मुनि को सज्ज किया।

अच्चंकारी भट्टा गर्व का त्याग कर, श्रावक धर्म का प्रतिपालन कर, समाधिमरण कर, देवताओं के सुख का अनुभव कर अन्त में मोक्षपद को प्राप्त करेगी।

अचंकारी की इस कथा को सुन कर जो सुबुद्धिमान् दुःख में भी धर्म का त्याग नहीं करते वे अल्पकाल ही में मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त करता हैं ।

इत्युपदेशप्रासादे चतुर्थस्तंभे पञ्चाशत्तमं व्याख्यानम् ॥ ५० ॥

व्याख्यान ५१ वां

गुरुनिग्रह नामक आगार

पितृमातृकलाचार्या, मिथ्यात्वभक्तिचेतसः ।
कारयन्ति यथेच्छं ते, तद्गुरुनिग्रहो भवेत् ॥१॥

भावार्थः—पिता, माता और कलाचार्य यदि मिथ्यात्ववासित चित्तवाले हों और वे अपनी इच्छा से कोई निषिद्ध कार्य करायें तो वह गुरुनिग्रह कहलाता है । अर्थात् गुरुनिग्रह से नियमभंग करना पड़े तो उसका कोई दोष नहीं लगता क्योंकि वह आगार रखा गया है ।

गुरुनिग्रह अर्थात् गुरु के आदेश से नियमभंगादि करना । गुरु किस को कहते हैं ?

माता पिता कलाचार्य, एतेषां ज्ञातयस्तथा ।
वृद्धा धर्मोपदेष्टारो, गुरुवर्गः सतां मतः ॥ १ ॥

भावार्थः—माता, पिता, कलाचार्य, अपना ज्ञाति-वर्ग, वृद्ध जन तथा धर्मोपदेशक–ये गुरु कहलाते है ऐसी सत्पुरुषों की मान्यता है ।

इन गुरुवर्ग में से जो मिथ्यादृष्टि के भक्त हों और उन के वाक्य से निषिद्ध कार्य भी करना पड़े तो इससे व्रत का भंग नहीं होता, फिर भी कई ऐसे भी है जो अपवाद मार्ग का त्याग कर उत्सर्ग पक्ष का ही अवलंबन करते हैं अर्थात् ऐसे गुरुवर्ग के कहने से भी ग्रहित नियमादि का भंग नहीं करते । इस सम्बन्ध में निम्न लिखित सुलस का दृष्टान्त प्रसिद्ध है—

सुलस की कथा

राजगृह नगर में अत्यन्त निर्दय, अभव्य और सदैव पांचसो पाड़ों का बध करनेवाला कालशौकरिक नामक कसाई रहता था । एक बार श्रेणिकराजाने अपनी नरकगति का निवारण करने के लिये उसको कुए में डाल दिया तो वहां भी उसने मिट्टी के पांचसो पाड़े बना कर उनका वध किया । फिर राजाने उसके हाथ पैर बांध कुए में डाला तिस पर भी उसने मन की कल्पना से सेंकडो पाड़े बना कर उनका वध किया । इस प्रकार सदैव जीवहिंसा करते हुए उसने अत्यन्त पापकर्म उपार्जन कर सातवीं नरक का आयुष्य बांधा । मृत्युकाल समीप आने पर वह कालशौकरिक रोग से अत्यन्त

पीड़ा पाने लगा तो उसके पुत्र सुलसने पिता की शान्ति के लिये मनोवाञ्छित खानपान, सुन्दर गीतगान, सुकुमार पुष्प-शय्या, और सुगंधी चन्दन के लेप आदि अनेकों उत्तम उपचार उनको किये तिस पर भी इन से उसको लेशमात्र भी सुख नहीं मिला परन्तु अधिक दाह उत्पन्न होने लगा, इससे सुलस-ने अभयकुमार के पास जाकर सारा वृत्तान्त कह सुनाया जिसे सुन कर अभयकुमारने कहा कि-तेरा पिता नरक में जानेवाला है इससे नरक की आनुपूर्वी उसके सन्मुख नाचती है जिससे सुख के उपचार मात्र दुःख के ही कारणभूत सिद्ध होते हैं। इस लिये अब निरस भोजन देने, खारा जल पिलाने, गधे और कुत्तों के शब्द सुनाने, तीक्ष्ण कांटे की शय्या पर सुलाने और अशुची का विलेपन करने आदि विरुद्ध उपचार से उसको सुख प्राप्त होगा। अभयकुमार के कहने से सुलस-ने वैसे ही उपचार किये जिससे कालशौकरिक को कुछ सुख मिला। अन्त में वह मर कर सातवीं नरक में गया। उसका पुत्र सुलस पाप का प्रत्यक्ष फल देखने से तथा अभय-कुमार के उपदेश से श्रीमहावीरस्वामी का बारह व्रतधारी श्रावक हुआ।

एक बार सुलस को उसकी माता, बहिन आदि स्व-जनोंने मिलकर कहा कि-तू तेरे पिता के सदृश पापकर्म कर। इस पर उसने उत्तर दिया कि-मैं वैसे पापकर्म कभी भी नहीं कर सकता क्योंकि उन पापों का भोक्ता मैं ही होता

हूँ। यह सुन कर उन्होंने कहा कि–धन के समान उन पाप-कर्मों को भी हम बांट लेगें। इस पर सुलसने एक कुल्हाड़ी से अपने पैर पर घाव बनाया और उसकी पीड़ा से पृथ्वी पर गिर पड़ा। फिर उसने कहा कि–तुम जो पापकर्मों को बांट लेना कहते हो तो अभी मेरी इस पीड़ा को भी बांट लो क्योंकि मुझे इससे बहुत दुःख होता है। इस पर उन्होंने उत्तर दिया कि–यह नहीं बांटी जा सकती, यह तो जो करता है उसीको भोगना पड़ता है। तिस पर सुलसने कहा कि–जब तुम इस प्रत्यक्ष पीड़ा को भी नहीं बांट सकते तो फिर पाप को क्यों-कर बांट सकोगे? ऐसा कह कर उनको निरुत्तर कर दिये और आजीवन जीववध नहीं किया। कहा भी है कि—

अवि इच्छिय मरणं, न परपीडं करंति मणसा वि।
जे सुविइयसुगइपहा, सुरियसुओ जहा सुलसो॥

भावार्थः—कालशौकरिक के पुत्र सुलस के सदृश जिन-को सुगति का मार्ग सुविदित है, वे मृत्यु की याचना चाहे भले ही करले परन्तु मन से भी दूसरों को पीड़ा नहीं पहुंचाते।

अनुक्रम से सुलस श्राद्धधर्म का प्रतिपालन कर स्वर्ग सिधारा।

इस संबन्ध में एक और दृष्टान्त प्रसिद्ध है, जो इस प्रकार है कि—

आरोग्यद्विज का दृष्टान्त

उज्जैनी नगरी में एक ब्राह्मण रहता था। उसके बाल्यावस्था से ही रोगी होने से सब उसको रोगद्विज कहा करते थे। लोगों के मुंह से अपना वह नाम सुन कर वह सदैव खेदित रहा करता था। एक बार धर्मदेशना देते हुए मुनि के मुंह से उसने सुना कि—

आयुर्गलत्याशु न पापबुद्धि-
र्गतं वयो नो विषयाभिलाषः ।
यत्नश्च भैषज्यविधौ न धर्मे,
स्वामिन्महामोहविडम्बना मे ॥ १ ॥

भावार्थः--आयुष्य जाती रहती है परन्तु पापबुद्धि नहीं जाती, युवावस्था व्यतीत हो जाती है परन्तु विषयाभिलाषा नहीं जाती और औषधि करने में यत्न किया जाता है परन्तु धर्म के विषय में यत्न नहीं किया जाता, अतः हे स्वामी! हे जिनेश्वर! मुझे यहां मोह की विडंबना है।

अनित्यानि शरीराणि, विभवो नैव शाश्वतः ।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः, कर्तव्यो धर्मसंग्रहः ॥२॥

भावार्थः—शरीर अनित्य (क्षणभंगुर) है, वैभव निरन्तर रहनेवाला नहीं और मृत्यु निरन्तर पास ही खड़ी रहती है, अतः प्राणियों को धर्म संग्रह करना चाहिये।

इस प्रकार मुनि की वाणी सुन कर प्रतिबोध पाये हुए उस ब्राह्मणने उसी समय उन मुनि से श्रावक के बारह व्रत ग्रहण किये। उन व्रतों के शुद्ध पालन करने से तथा शुद्ध श्रावक होने से बड़े बड़े लोग उसकी व्याधि के लिये अनेक प्रकार की चिकित्सा करने को कहने लगे फिर भी वह औषध न कर व्याधि की पीड़ा को सहन करने लगा। वह अपनी आत्मा को कहा करता था कि—

पुनरपि सहनीयो, दुःखपाकस्त्वयायं ।
न खलु भवति नाशः, कर्मणां संचितानाम् ॥
इति सह गणयित्वा, यद्यदायाति सम्यक् ।
सदसदिति विवेको—ऽन्यत्र भूयः कुतस्ते ॥१॥

भावार्थः—हे जीव ! तेरे को यह दुःखविपाक तो फिर भी सहन करने पड़ेंगे क्योंकि संचित कर्मों का नाश नहीं होता ऐसा विचार कर दुःख या सुख जो भी प्राप्त हो जाय उसे सम्यक् प्रकार से सहन ही कर लेना चाहिये क्योंकि-इस प्रकार के सत् असत् का विवेक तुझे दूसरे जन्म में फिर किस प्रकार से प्राप्त हो सकेगा ?

इस प्रकार के दृढ़ चित्तवाले उस ब्राह्मण की एक बार इन्द्रने प्रशंसा की कि-" अहो ! यह रोगी द्विज महासत्ववंत है क्योंकि उसके गुरुजनोंने अनेक प्रकार की चिकित्सा करना चाहा तो भी उसकी उपेक्षा कर वह रोग की व्यथा

को सहन करता है।" यह सुन कर इन्द्र के उन वचनों पर श्रद्धा नहीं होने से कोई दो देव वैद्य का स्वरूप धारण कर उसके पास जाकर बोले कि–हे रोगी ब्राह्मण ! हम तुम को रोग से मुक्त कर देगें परन्तु तुझे रात्री में मद्य, मांस, मक्खन आदि का भोजन करना पड़ेगा। इस प्रकार वैद्यों का वचन सुन कर उसने विचार किया कि–ब्राह्मणकुल में उत्पन्न होने से तथा विशेषतया जैनधर्मावलम्बी होने से मुझे ऐसे निन्दित कर्म का त्याग करना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि ऐसा कर्म लौकिक तथा लोकोत्तर दोनों स्थानों में निंद्य है। ऐसा बिचार कर उस रोगी ब्राह्मणने वैद्यों से कहा कि–हे वैद्यों ! जब मैं दूसरी औषधियों से भी चिकित्सा करने की इच्छा नहीं रखता तो फिर ऐसा सर्व धर्मों में त्याज्य पदार्थों का सेवन कर तो किसी प्रकार चिकित्सा करा ही सकता हूँ ? कहा भी है कि—

मद्ये मांसे मधुनि च, नवनीते तक्रतो बहिः ।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते, सूक्ष्माश्च जन्तुराशयः ॥१॥

भावार्थः––मध, मांस, मद्य और छास से निकले हुए मक्खन में क्षण क्षण में सूक्ष्म जन्तुओं का समूह उत्पन्न होता है और नाश होता हे ।

सप्तग्रामे च यत्पापमग्निना भस्मसात्कृते ।
तदेवं जायते पापं, मधुबिन्दुप्रभक्षणात् ॥२॥

भावार्थः—अग्निद्वारा सात ग्रामों को जला कर भस्म करने में जितना पाप होता है उतना ही पाप मद्य के एक बिन्दु मात्र भक्षण करने से होता हैं।

यो ददाति मधु श्राद्धे, मोहितो धर्मलिप्सया ।
स याति नरकं घोरं, खादकैः सह लंपटैः ॥३॥

भावार्थः—जो पुरुष धर्म की इच्छा से मोहित होकर श्राद्ध में मध खिलाता है वह उन लंपट खानेवालों के साथ ही साथ घोर नरक में जाता है।

इस प्रकार के वचन सुन कर वैद्योंने उसके स्वजनों से जब सब वृत्तान्त कहा तो उन्होंने एकत्रित होकर शास्त्रयुक्ति से उसकी चिकित्सा करने की प्रेरणा की। उन्होंने कहा कि–

शरीरं धर्मसंयुक्तं, रक्षणीयं प्रयत्नतः ।
शरीराच्छ्रवते धर्मः, पर्वतात् सलिलं यथा ॥१॥

भावार्थः—धर्म के साधनभूत शरीर की प्रयत्न से रक्षा करना चाहिये क्योंकि जैसे पर्वत से पानी श्रवित होता है उसी प्रकार शरीर से धर्म श्रवित होता है।

इस प्रकार पिता आदि स्वजनोंने उसको बहुत कुछ समझाया, फिर भी उसके धर्म में दृढ़ होने से वह बिना

देहादिक की आशा रक्खे मात्र मोक्षसुख की अभिलाषा में ही निमग्न रहा। उसने देह की पीड़ा के लिये कहा कि—

आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ १ ॥

भावार्थः—आपत्ति के लिये धन की, धन से स्त्री की और स्त्री तथा धन से भी निरन्तर आत्मा की रक्षा करना चाहिये ।

धर्मिष्ठ पुरुषों के लिये देह और धन एक समान है परन्तु आत्मा देह से विशेष है, अतः देह की पीड़ा की उपेक्षा कर के भी आत्मा का रक्षण करना चाहिये ।

इस प्रकार उस ब्राह्मण को अपनी प्रतिज्ञा में निश्चय देख कर वे दोनों देव अत्यन्त प्रसन्न हुए और अहो ! सात्विकशिरोमणि ! अहो ! सत्प्रतिज्ञावान् ! उस प्रकार कहते हुए उन दोनों देवोंने अपना रूप प्रगट किया और इन्द्रद्वारा उसकी की हुई प्रशंसा का वर्णन कर सर्व रोग-नाशक रत्नों से उसका घर भरपूर कर वे देव स्वस्थान को लौट गये। उन रत्नों के प्रभाव से बिना औषधसेवन के ही उसका शरीर आरोग्य हो गया, अतः वह सर्वत्र "आरोग्यद्विज" के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

इस प्रकार उस ब्राह्मणने गुरुनिग्रहरूप आगार को जानते हुए भी धर्म की दृढ़ता को नहीं छोड़ा और ग्रहण किये हुए

नियमों का निरतिचार पालन कर स्वर्ग सुख को प्राप्त कर अन्त में मोक्षसुख को प्राप्त करेगा।

इत्युपदेशप्रासादे चतुर्थस्तंभे एकपञ्चाशत्तमं व्याख्यानम् ॥ ५१ ॥

व्याख्यान ५२ वां

देवाभियोग आगार

कुलदेवादिवाक्येन, यन्मिथ्यात्वं विधीयते ।
स सम्यक्त्वरतानां च, भवेत्सुराभियोगकः ॥१॥

भावार्थः—कुलदेवादिक की आज्ञा से यदि मिथ्यात्व का सेवन करना पड़े तो उसे सम्यक्त्वधारी के लिये देवाभियोग आगार कहते हैं।

चूलनीपिता श्रावक के सदृश कई प्राणी तो व्रत ग्रहण करने के पश्चात् देवादिक के उपसर्ग से चलित हो जाते हैं परन्तु उनको महादोष नहीं लगता क्योंकि मिथ्यादुष्कृत आदि से उन दोषों की निवृत्ति हो जाती है जब कि—कई प्राणी उत्सर्ग मार्ग में स्थित रहने से नमि राजर्षि के सदृश चलित नहीं होते।

नमिराजर्षि की कथा

अवन्ति देश के सुदर्शन नगर में मणिरथ राजा राज्य करता था। उसका छोटा भाई युगबाहु युवराज पद पर था

जिसके मदनरेखा नामक अति रूपवान स्त्री थी। एक बार मदनरेखा को देख कर मणिरथ कामातुर हो गया और मन में बोल उठा कि—

दृष्ट्वा यद्रूपसंपत्ति, स्वात्मन्येव स्मरो ज्वलन्।
वृथा पुनः प्रवादोऽयं, लोके दग्धो हरेण यत् ॥१॥

भावार्थः--यदि स्त्री की रूपसम्पत्ति को देख कर मेरी आत्मा को ही कामदेव जलाने लगा तो फिर शंकरने कामदेव को जला दिया यह लोकोक्ति वृथा है।

फिर मणिरथ मदनरेखा को वश में करने के लिये निरन्तर अपनी दासी के साथ पुष्प, तांबूल, वस्त्र तथा अलंकार आदि उसके पास भेजने लगा। मदनरेखा भी अपने "जेठ का प्रसाद" समझ कर उसको ग्रहण करने लगी। एक बार राजाज्ञा से दासीने मदनरेखा से राजा की इच्छा प्रकट की तो मदनरेखाने कहा कि-हे दासी!

जगत्प्रसिद्धो नारीषु, शीलमेव महागुणः।
तस्मिन् लुप्ते वृथा सर्वं, गते जीव इवांगिनः ॥१॥

भावार्थः--स्त्रीयों में शीलरूप ही सब से महान गुण जगत्प्रसिद्ध है, यदि उस शील का ही लोप हो जाय तो फिर जीव रहित शरीर के सदृश स्त्रीयों का जन्म ही वृथा है।

अतः तुम्हारे पृथ्वीपति का मेरे प्रति ऐसे अयोग्य

वचन कहना अनुचित है। ऐसा कह कर उसने दासी को विदा किया। दासीने इसी प्रकार राजा को जाकर सारा वृत्तान्त कह सुनाया, जिसको सुन कर राग से लुब्ध हुए राजाने विचार किया कि–यदि मैं मेरे भाई को मारडालूं तो वह अवश्य मेरे आधीन हो जायगी, ऐसा किये बिना मेरा मनोरथ सिद्ध होना कठीन है। ऐसा विचार कर राजा उसके भाई को बध करने का उपाय सोचने लगा।

एक बार वसंतऋतु में क्रीड़ा करने के लिये युगबाहु अपनी प्रिया को साथ ले उद्यान में गया और चिरकाल क्रीड़ा कर रात्रि होने पर वहां (उद्यान में) ही कदली गृह के अन्दर प्रिया सहित सो रहा। राजाने यह सुअवसर जान कर गुप्त रीति से खड्ग ले जब उस कदली गृह में प्रवेश किया तो युगबाहु को अपनी प्रिया सहित निद्रावश पाया, अतः शीघ्र ही कुलमर्यादा का उल्लंघन कर यश, धर्म और लज्जादिक का त्याग कर खड्गद्वारा अपने भाई का शिरच्छेद कर दिया। सचमुच कामदेव का उदय ऐसा ही होता है। फिर राजाने अपने घर की ओर चल दिया। राजाने अपने भाई पर ज्योंहि खड्ग का प्रहार किया कि–मदनरेखा जग उठी। उसने देखा कि–राजाने ही यह अकृत्य किया है, अतः वह उस समय मौन रही और राजा के जाने पश्चात् अपने पति का अवसानकाल जान कर विलाप करती हुई गद् गद् कंठ से कहने लगी कि—

त्वं वृथा मा कृथाः खेदं, महाभाग! मनागपि ।
सर्वत्र प्राक्कृतं कर्म, प्राणिनामपराध्यति ॥१॥

भावार्थः—हे प्रिय ! हे महाभाग्यवान् ! तुम किंचित् मात्र भी वृथा खेद मत करना क्योंकि पूर्वकृत कर्म ही सर्वत्र प्राणी का अपराध करते हैं ।

तस्मान्मनः समाधेहि, विधेहि शरणं जिनम् ।
ममत्वं मुञ्च मैत्रीं च, कुरु सर्वेषु जन्तुषु ॥ २ ॥

भावार्थः—अतः हे प्राणेश ! तुम अपने मन को समाधि में रखो, जिनेश्वर की शरण लो, ममता का त्याग करो और सर्व जन्तुओं के विषय में मैत्रीभाव रक्खो ।

इस प्रकार प्रिया के वचनों से कोप शान्त कर पंचपरमेष्ठी मंत्र का स्मरण करता हुआ वह युगबाहु मर कर पांचवें देवलोक में देव हुआ ।

मदनरेखाने जेठ की कुनिष्ठा जान कर अपने शील का रक्षण करने के लिये अपने युवान पुत्र तथा धन आदि का त्याग कर गर्भवती होते हुए भी रात्री में ही वहां से अन्यत्र प्रयाण कर दिया । चलते चलते वह एक महाभयंकर अरण्य में आ पहुंची । उस बन में सिंह और शार्दूल आदि के भयंकर शब्द से त्रास पाती हुई उस सतीने वहां ही पुत्रप्रसव किया । बाद में उस बालक को रत्नकंबल में लपेट

कर उसके पिता के नाम की मुद्रा उस बालक की अंगुली में पहिना उसके वस्त्र तथा देह की शुद्धि करने के लिये समीपवर्ती एक सरोवर पर गई। सरोवर में रहनेवाले जल हस्तीने उसको अपनी सूंड से पकड़ कर आकाश में उछाला। उस समय आकाशमार्ग से कोई खेचरेन्द्र नंदीश्वर द्वीप की यात्रा निमित्त विमान में बैठ कर जा रहा था। उसने उसको झेल लिया और अपने विमान में बिठा लिया। उस समय उस मदनरेखाने रुदन करते हुए अपने पुत्र प्रसव तथा उस पुत्र को मार्ग में छोड़ देने की बात उस विद्याधर के राजा से कही। यह सुन कर उसने विद्या के बल से उस पुत्र का स्वरूप जान कर कहा कि–हे भद्रे! तू चिन्ता न कर, विपरीत शिक्षा पाये हुए अश्व से हरे हुए मिथिला नगरी के राजा पद्मरथने तेरे पुत्र को उठा कर उसे उसकी पुत्र रहित प्रिया को दे दिया है। अतः तू अब उस विषय का विषाद त्याग कर मुझे पतिरूप से स्वीकार कर। यह सुन कर मदनरेखाने कहा कि–हे पूज्य! पहले मुझे नंदीश्वर की यात्रा कराइये फिर मैं आपके मनोरथ को पूर्ण करने का यत्न करुंगी। यह सुन कर विद्याधरेंद्र उसको नंदीश्वर द्वीप को ले गया। वहां बावन जिनबिंबों को वन्दन कर वह विद्याधर तथा मदनरेखा वहां रहनेवाले मणिचूड़ नामक चक्रवर्ती राजर्षि के पास जा, वन्दना कर उसके समीप ही बैठे।

पांचवे देवलोक में उत्पन्न हुआ युगबाहु देव भी अवधिज्ञान से अपना पूर्व भव जान कर वहां आ पहुंचा और प्रथम मदनरेखा को वन्दना कर बाद में मुनि को वन्दना की। यह देख कर मणिप्रभ विद्याधरने उससे कहा कि- तुम्हारे विवेकी होते हुए भी प्रथम इस स्त्री को वन्दना कर बाद में मुनि को वन्दना करने का क्या कारण है ? ऐसा अयोग्य आचरण तुमने क्यों कर किया ? ऐसा कह कर उसको उपालंभ दिया तो चारणश्रमण मुनिने उस देव के पूर्व भव का स्वरूप मणिप्रभ को सुना कर कहा कि-हे विद्याधर राजा !

धर्माचार्यमनुस्मृत्य, तूर्णमत्रेयिवानयम् ।
युक्तं मुनिं विहायादौ, ननामैनां महासतीम् ॥१॥

भावार्थः—यह देव अपने धर्माचार्य का स्मरण कर शीघ्रतया यहां आया है, अतः मुनि का त्याग कर इसने जो प्रथम इस महासती को नमन किया है यह युक्त ही है क्योंकि-

यतिना श्रावकेणाथ, योऽर्हद्धर्मे स्थिरीकृतः ।
स एव तस्य जायेत, धर्माचार्यो न संशयः ॥२॥

भावार्थः—मुनि अथवा श्रावक जिसने जिसको जैनधर्म में स्थिर किया हो वह ही उसका धर्माचार्य कहलाता है। इस में लेशमात्र भी संशय नहीं है।

यह वृत्तान्त सुन कर उस विद्याधरने उस देव से क्षमा याचना की। फिर उस देवने मदनरेखा को उठा कर मिथिला नगरी में रखा। जहां अपने पुत्र को सुखी देख कर वह स्वस्थ चित्त हो वैराग्य प्राप्त कर किस प्रवर्तिनी के पास दीक्षा ग्रहण की।

मदनरेखा के पुत्र का नाम नमि रखा गया। अनुक्रम से युवावस्था के प्राप्त होने पर मिथिलापतिने उसका एक हजार और आठ कन्याओं के साथ विवाह कर अपने राज्य का स्वामी बना खुदने दीक्षा ग्रहण की।

इधर जिस रात्री को मणिरथ राजाने अपने छोटे भाई को खड्गद्वारा मारा था उसी रात को कृष्ण सर्प के दंश से वह भी रौद्रध्यानद्वारा मृत्यु प्राप्त कर चोथी नरक में गया और युगबाहु का ज्येष्ठ पुत्र चन्द्रयशा राज्य का अधिकारी हुआ।

एक बार नमि राजा का प्रधान हस्ती बंधनस्तंभ को उखेड कर भग गया। उसको कोई न पकड़ सका। वह भगता भगता चन्द्रयशा के नगर की सीमा पर आ पहुंचा, अतः चन्द्रयशाने उसको पकड़ लिया। इसकी सूचना नमिराजा को होने पर उसने अपने दूत को भेज कर चन्द्रयशा से उस हस्ती को लौटादेने को कहलाया परन्तु उसने हाथी

को लौटाने से मना किया, अतः नमिराजा वहां युद्ध करने को आया और चन्द्रयशा के नगर को घेर लिया। जब मदनरेखा आर्या को इसकी सूचना मिली तो उसने वहां आकर नमि से कहा कि–हे वत्स नमि! बड़े भाई के साथ तेरा युद्ध करना अयुक्त है। यह सुन कर नमिने विस्मित होकर पूछा कि–चन्द्रयशा मेरा बड़ा भाई क्यों कर हैं? इस पर आर्याने अपना सर्व वृत्तान्त कह सुनाया जिसे सुन कर नमिराजाने अपने पिता के नाम की मुद्रिका को देखा जिससे उसको अधिक निश्चय हो गया, अतः वह युद्ध से निवृत्त हो चन्द्रयशा के पास पहुंचा और उसको सारा वृत्तान्त कह सुनाया। फिर दोनों भाई आपस में अत्यन्त स्नेह से मिले और अनुक्रम से चन्द्रयशाने नमिकुमार को अपना राज्य सौंप कर व्रत की अभिलाषा से दीक्षा ग्रहण की।

दोनों राज्यों का अखंड पालन करते हुए नमिराजा के देह में छ मास की स्थितिवाला दाह ज्वर उत्पन्न हुआ। अनेकों वैद्योंने अनेकों औषधिये की तिस पर भी वह शान्त न हुआ। एक बार किसी वैद्य के कहने से उसके विलेपन के लिये सर्व राणिये चन्दन घिसने लगी। उस समय रानियों के कंकण के आपस में टकराने की आवाज से बहुत शब्द होने लगा जिसको सहन न कर सका, अतः रानियोंने सिर्फ एक कंकण अपने हाथ में रख शेष सब कंकणों को निकाल दिया। इस पर राजाने पूछा कि–अब कंकण का शब्द क्यों

नहीं होता ? इस पर उन रानियोंने अपना एक कंकण बतलाया जिसको देखने से चारित्रावरण कर्म के बंधन के टूट जाने से नमिराजा को ऐसा अध्यवसाय उदय हुआ कि—

बलयावलिदृष्टान्ताज्जीवो बहुपरिग्रही ।
दुःखं वेदयते नूनं, वरमेकाकिता ततः ॥ १ ॥

भावार्थः—कंकणसमूह के दृष्टान्त से यह सिद्ध होता है कि—अनेकों परिग्रह को धारण करनेवाला जीव निश्चयरूप से दुःख का ही अनुभव करता है, अतः अकेला रहना ही श्रेष्ठ है ।

इस प्रकार ऐकाकी विचरने का ध्यान करता हुआ राजा निद्रावश हो गया । स्वप्न में अपने को मेरु पर्वत पर रहते हुए तथा श्वेत हाथी पर बैठे हुए देखा । स्वप्न से जागृत होने पर ऐसा स्वर्ण पर्वत मैंने पहेले कहां देखा है इस प्रकार उहापोह करते हुए उस राजा को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया और उसने अपना पूर्व भव देखा । उस पूर्व भव में अनगिनत पुण्यवाला चारित्र पालन करने से वह अनुपम लक्ष्मीवंत पुष्पोत्तर विमान में देवता हुआ था । उस समय जिनेश्वर के जन्मकल्याणक के लिये वहां आने से उसने उस स्वर्णमय मेरुपर्वत को देखा था । इस प्रकार जातिस्मरण ज्ञान होने से उसकी चारित्र ग्रहण करने की उत्कट इच्छा उत्पन्न हुई, अतः देवताओंने उसे उसी समय

साधुवेष धारण कराया और नमिराजा प्रव्रज्या ग्रहण कर घर से निकल पड़े ।

नमिराजा के आश्चर्यकारक प्रतिबोध से रंजित हुए सौधर्मेन्द्र अवधिज्ञान से उनके स्वरूप को जानकर ब्राह्मण का वेष बना नमिराजर्षि के पास आकर कहने लगा कि–हे मुनि ! तुम्हारे नगर में लोग बहुत आक्रंद कर रहे हैं, और तुम्हारे नगर में अग्नि प्रज्वलित हो रही है । प्रव्रज्या दया पालने के लिये ग्रहण की जाती है, अतः पूर्वापर विरोधजनक तुम्हारा यह चारित्र अयोग्य है सो पहले सब को सुखी बना, फिर व्रत ग्रहण करना चाहिये । अपितु तुम जरा पीछे फिर कर देखो तो सही कि—

एष वन्हिश्च वातश्च, तवैव दहति गृहम् ।
अन्तःपुरं च तन्नाथ, त्वं किमेतदुपेक्षसे ॥ १ ॥

भावार्थः—देखिये यह अग्नि और यह वायु तुम्हारे महल तथा अन्तःपुर को ही जला कर भस्म कर रही है और तुम उसके नाथ होते हुए भी उपेक्षा दृष्टि से ऐसा होते हुए क्यों कर देख रहे हो ?

इस प्रकार शक्रद्वारा कहे जाने पर बुद्ध मुनिने उत्तर दिया कि—

सुखं वसामि जीवामि, येन मे नास्ति किञ्चन ।
मिथिलानगरीदाहे, न मे दहति किञ्चन ॥ १ ॥

भावार्थः—मैं सुख से रहता हूँ और सुखपूर्वक जीवन-निर्वाह करता हूँ क्योंकि मेरा कुछ नहीं हैं। मिथिलानगरी जलती है तो उससे मेरा क्या प्रयोजन ?

स्वार्थाय यतते सर्वस्तं विना दुःखमश्नुते ।
मयापि साध्यते स्वार्थस्तस्मान्निर्ममचेतसा ॥२॥

भावार्थः—सर्व प्राणी अपने स्वार्थ के लिये यत्न करते हैं क्योंकि बिना स्वार्थ की सिद्धि के दुःख प्राप्त होता है, अतः मैं भी ममता रहित चित्त से मेरा स्वार्थ (आत्मा का अर्थ) ही साधता हूँ ।

शक्रेन्द्रने फिर कहा कि-हे मुनि ! सोना, रुपा, मणि आदि से भंडारों की वृद्धि कर फिर व्रत ग्रहण करना चाहिये। इस पर नमि राजर्षिने उत्तर दिया कि—

सुवण्णरूप्पस्स उ पव्वय भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणंतिया ॥ १ ॥

भावार्थः—सुवर्ण तथा रूपे के कैलास पर्वत सदृश असंख्य पर्वत हों तो भी लुब्ध पुरुष को संतोष नहीं होता क्योंकि इच्छा आकाश सदृश अन्त रहित है ।

इस प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र में कहीं अनेक युक्तियोंद्वारा

मुनिने उस विप्र को निरुत्तर कर दिया। अन्त में इन्द्रने यह जान कर कि–इसका चित्त क्षोभ नहीं पासकता ब्राह्मण का रूप त्याग कर, अपना स्वरूप प्रकट कर, उनको प्रणाम कर स्तुति करने लगा कि—

अहो ते निज्जिओ कोहो, अहो माणो पराजिओ।
अहो निरक्कया माया, अहो लोहो वसंकिओ ॥१॥

भावार्थः—अहो! तुमने क्रोध को जीत लिया है, मान को पराजय कर दिया है, माया का तिरस्कार कर दिया है और लोभ को वश में कर लिया है।

आदि अनेक प्रकार से स्तुति कर स्वर्गपति स्वर्ग सिधारा और नमिराजर्षिने अनुक्रम से केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्षपद को प्राप्त किया।

प्रत्येकबुद्ध नमिराजर्षिने शक्र की युक्तियों से भी धर्म का त्याग नहीं किया अतः ज्ञातासूत्र में श्रीमहावीरस्वामीने भी उनकी प्रशंसा की है। वह राजर्षि हमे सुख प्रदान करें।

इत्युपदेशप्रासादे चतुर्थस्तंभे द्विपञ्चाशत्तमं व्याख्यानम् ॥ ५२ ॥

व्याख्यान ५३ वां

बलाभियोग नामक अन्तिम आगार

बहूनां हठवादेन, बलाद्वा त्यक्तसेवनम् ।
एवं बलाभियोगः स्यात्, षड़ेते छिंड़िका मताः ॥१॥

भावार्थः—अनेकों लोगों के हठवाद से अथवा किसी के बलात्कार से त्याग किये हुए का सेवन करना पड़े तो उसे बलाभियोग आगार कहते हैं ।

कई उत्सर्ग मार्ग के स्थित प्राणी ऐसे भी हैं कि-जो दूसरों के बलात्कार से भी अपने ग्रहण किये हुए व्रत का त्याग नहीं करते । इस विषय सुदर्शन श्रेष्ठी की कथा प्रसिद्ध है—

सुदर्शन श्रेष्ठी की कथा

चम्पापुरी में ऋषभदास नामक श्रेष्ठी रहता था । उसके अर्हद्दासी नामक शीलवती स्त्री थी । एक बार माघ महिने में सुभग नामक शेठ की भैंसे चरानेवाला नोकर शेठ के ढ़ोर चरा कर जब सायंकाल को घर को आरहा था तो उसने मार्ग में किसी वस्त्र रहित और शरदी को सहन करते मुनि को काउसग्ग ध्यान में खड़े हुए देखा । उसको देख कर उस मुनि की प्रशंसा करते हुए वह शेठ के घर को लौटा । फिर दूसरे दिन बहुत सबेरे उठ कर शेठ की भैंसे ले कर

उसने वन की ओर चल दिया। उस समय भी उसी स्थान पर उसी प्रकार कायोत्सर्ग कर खड़े हुए उस मुनि को देख कर सुभग उनके पास जा पैरों लग बैठ रहा। थोड़ी देर पश्चात् वे चारण मुनि सूर्योदय होने पर "नमो अरिहंताणं" ऐसा बोल कर आकाशगामी हो गये। उसको देख कर सुभगने यह समझ कर कि-"नमो अरिहंताणं" यह आकाशगामी विद्या का मंत्र है, उस मंत्र को याद कर लिया। फिर एक दिन वह सुभग अरिहंत के पास उस पद का ध्यान करते बैठा हुआ था कि-श्रेष्ठीने उसको देख कर पूछा कि-तूने यह मंत्र कहां से सिखा है? इस प्रकार सुभगने ऐसा कह कर कि-"मुनि के पास से" उसको सारा वृत्तान्त कह सुनाया। यह सुन कर संतुष्ट हो सुभगने उसको सारा नवकार मंत्र सिखला दिया और वह उस मंत्र का सदैव ध्यान करने लगा।

अनुक्रम से वर्षाकाल आगया उस समय भी सुभग ढ़ोर चराने के लिये जाया करता था। एक दिन अत्यन्त वृष्टि होने से पृथ्वी समुद्र सदृश जलमय हो गई। भैंसों को लेकर वापस लौटते समय मार्ग में एक बड़ी नदी आई। वह अत्यन्त जोर से चल रही थी। उसे देख कर आकाश में उड़ने की बुद्धि से नवकार मंत्र का स्मरण कर वह नदी में कूद पड़ा। उस समय एक कीसे के लगने से वह मर कर

उसी श्रेष्ठी के घर में सुदर्शन नामक पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। उसके युवावस्था को प्राप्त होने पर श्रेष्ठीने उसको अन्य श्रेष्ठी की मनोरमा नामक कन्या के साथ विवाह दिया।

सुदर्शन की राजा के पुरोहित और कपिल के साथ प्रगाढ़ मित्रता थी। एक बार कपिल के मुंह से सुदर्शन के रूपादिक गुणों की प्रशंसा सुन कर उसकी स्त्री उस पर अनुरक्त हो गई। एक बार एकान्त समय देख कर वह सुदर्शन के घर पर गई और उससे कहा कि–आज तुम्हारे मित्र का शरीर स्वस्थ नहीं है अतः उसने कहा है कि–उसकी खबर लेने के लिये तुम जल्दी से मेरे घर चले। ऐसा कह कर वह उसे अपने घर ले गई। वहां उसे गुप्त गृह में ले जाकर, दरवाजा बन्द कर, लज्जा का त्याग कर उससे भोग करने की प्रार्थना की। उस समय परस्त्री के विषय में नपुंसक जैसे सुदर्शनने अपने शील की रक्षा करने के लिये कहा कि–हे मुग्धे! मैं तो नपुंसक हूँ, तु मुझे व्यर्थ प्रार्थना क्यों करती है? ऐसा कह कर वह वहां से निकल अपने घर चला गया।

एक बार राजा पुरोहित और सुदर्शन को साथ लेकर उद्यान में क्रीड़ा करने के लिये गया। उस समय अभया रानी भी कपिला को साथ ले वाहन में बैठ कर उद्यान में गई। उस समय कपिलाने एक स्त्री को छ पुत्रों सहित मार्ग में जाते देख कर अभया रानी से पूछा कि–यह स्त्री कौन है?

उसने उत्तर दिया कि–यह तो सुदर्शन शेठ की स्त्री है। क्या तू इसे नहीं पहचानती ? ये छ ही इसके पुत्र हैं। यह सुन कर कपिलाने कहा कि–शेठ तो नपुंसक है तब फिर उसके पुत्र क्यों कर हुए ? ऐसा कह कर अपना सारा वृत्तान्त रानी से सुनाया। यह सुन कर रानीने कहा कि–तू तो मूर्ख है, उस शेठने कपट से तुझे धोखा दिया है। कपिलाने उत्तर दिया कि–हे देवी ! तुम्हारी चतुराई तो मैं जब समझुं कि–तुम उसके साथ एक बार भी क्रीड़ा करो। यह सुन कर रानीने ऐसा करना स्वीकार किया। फिर एक बार राजा आदि सर्व क्रीड़ा करने के लिये उद्यान में गये थे। अभया रानी महल में अकेली थी। उस समय उसने अपनी पंड़िता नामक धात्री को सुदर्शन को बुलालाने को कहा। वह धात्री सुदर्शन के घर गई तो उसे एक शून्य घर में कायोत्सर्ग कर खड़े हुए देखा। धात्रीने उसे उठा कर रथ में डाला और उसको उत्तम वस्त्रों से आच्छादित कर कामदेव की मूर्ति के बहाने उसे रानी के महल में लेगई। वहां एकान्त में हावभाव-पूर्वक कामविकार दिखा कर उसकी अनेकानेक प्रार्थना की परन्तु सुदर्शन का मन किंचित्मात्र भी क्षोभित नहीं हुआ। तो रानीने अपने स्तन का स्पर्श हो सके इस प्रकार उसके सम्पूर्ण शरीर का गाढ़ आलिंगन किया तिसपर भी उसका मन क्षोभित नहीं हुआ। अन्त में जब वह रानी थक गई तो उसने पुकार कर सिपाहियों को बुलवा कर कहा कि–यह

सुदर्शन मेरे साथ बलात्कार करने के लिये यहां आया है। यह सुन कर सिपाही उसे पकड़ कर राजा के पास ले गये। राजा ने सुदर्शन से पूछा परन्तु उसने रानी पर दया के भाव से कुछ नहीं कहा तो उसी को अपराधी समझ राजाने क्रोध से यह आज्ञा दी कि–इसको विडंबनापूर्वक सारे नगर में घूमा कर शूली पर चढ़ा कर मारडालो। सिपाही उसे उसी प्रकार ग्राम में फिराने लगे। उस समय सुदर्शन की स्त्री उसको उस दशा में देख कर शीघ्र ही गृहमन्दिर में जा अपने पति के कलंक रहित होने तक कायोत्सर्ग कर श्रीजिनेश्वर के सामने खड़ी हो गई। इधर राजसेवकोंने सुदर्शन को सारे नगर में घुमा कर ग्राम के बाहर ले जाकर शूली पर चढ़ाया परन्तु उसके शील के प्रभाव से वह शूली स्वर्णसिंहासन बन गई। फिर सिपाहियोंने उसका बध करने के लिये खड्ग का प्रहार करना आरंभ किया तो कंठ पर प्रहार करने पर कंठ का हार, मस्तक पर प्रहार करने पर मुकुट, कान पर प्रहार करने पर कुंडल और हाथ तथा पैरों पर प्रहार करने पर कड़े हो गये। इसे देख कर आश्चर्यचकित हो सिपाहियोंने यह सारा विस्मयकारक वृत्तान्त राजा से जाकर कहा जिसे सुन कर राजा शीघ्र ही वहां आ पहुंचा और सुदर्शन को सत्कार-पूर्वक हाथी पर बिठा कर बड़े उत्सवपूर्वक अपने घर पर ले गया। यह वृत्तान्त सुन कर उसकी स्त्रीने भी अपना कायोत्सर्ग पूर्ण किया। फिर राजाने सुदर्शन से आग्रहपूर्वक सत्य

बात सुनाने को कहा तो उसने रानी को अभय वचन दिला कर सब बात सचसच कह सुनाई। फिर राजाने सुदर्शन को हाथी पर बिठा उसके घर भेजा।

यह वृत्तान्त जानकर अभया रानीने मारे लज्जा के अपने गले में फांसी डाल शरीरान्त किया और पंड़िता पाटलिपुर में किसी वेश्या के घर जाकर रही। सुदर्शन शेठने अनुक्रम से वैराग्य प्राप्त कर दीक्षा ग्रहण की। बिहार करते हुए वे पाटलीपुर आ पहुंचे। वहां पंड़िताने वहोरने के मिष उनको अपने घर पर ले जाकर घर के सब दरवंजे बंध कर उनकी बहुत कदर्थना की परन्तु वे मुनि किंचित्मात्र भी चलित नहीं हुए अतः अन्त में सायंकाल को पंडिताने उन्हें छोड़ दिया। इस पर वे मुनि ग्राम के बाहर वन में जा स्मशान भूमि में प्रतिमा धारण कर खड़े रहे। वहां भी व्यंतरी होनेवाली अभया रानीने पूर्व भव के वैर से उन पर उनको अनुकूल तथा प्रतिकूल उपसर्ग किये, तिसपर भी उस मुनि का चित्त किंचित्मात्र भी चलित नहीं हुआ, वे तो शुभ ध्यान में ही स्थिर रहे। अन्त में शुक्लध्यान के योग से उनको केवलज्ञान प्राप्त हो गया। देवोंने केवली की महिमा की, उन्होंने देशना दी जिसको सुन कर अभया तथा पंडिता को प्रतिबोध प्राप्त होने से उन्होंने समकित धारण किया। सुदर्शन केवलीने चिरकाल तक केवलीपर्याय का पालन कर अन्त में मोक्षपद को प्राप्त किया।

सुदर्शन के सदृश जो बलाभियोग से भी स्वधर्म में दृढ़ रहते हैं वे सद्दर्शनद्वारा जगत में प्रधान होकर अल्पकाल ही में उत्कृष्ट संपत्ति को प्राप्त करते हैं ।

इत्युपदेशप्रासादे चतुर्थस्तंभे त्रिपञ्चाशत्तमं व्याख्यानम् ॥ ५३ ॥

व्याख्यान ५४ वां

समकित की छ भावनायें

मूलं द्वारं प्रतिष्ठान–माधारो भाजनं निधिः ।
द्विविधस्यापि धर्मस्य, षडेता बोधिभावनाः ॥१॥

भावार्थः—मूल, द्वार, प्रतिष्ठान, आधार, भाजन और निधि ये छ दोनों प्रकार के धर्म के लिये बोधिभावना कही गई है ।

मूलं सर्वज्ञधर्मद्रोर्द्वारं मुक्तिपुरस्य च ।
जिनोक्तधर्मयानस्य, प्रतिष्ठानं सुनिश्चलम् ॥१॥
आधारो विनयादीनां, धर्मामृतस्य भाजनम् ।
निर्धिज्ञानादिरत्नानां, सम्यक्त्वमिति भावयेत् ॥२॥

भावार्थः--समकित ही सर्वज्ञभाषित श्रावक और साधु इन दोनों प्रकार के धर्मरूप वृक्ष का मूल है क्योंकि

उस मूल के निश्चल होने पर ही स्वर्ग मोक्षादिक फल प्राप्त हो सकते हैं। यह पहली भावना है। समकित मोक्षरूप पुर का द्वार है क्योंकि समकितरूप द्वार बिना मोक्षपुर में प्रवेश नहीं किया जासकता। सामान्य नगर में भी बिना दरवाजे के प्रवेश नहीं हो सकता। यह दूसरी भावना है। जिनेश्वर-प्रणीत धर्मरूपी वाहन का समकित ही प्रतिष्ठान (निश्चल पीठ) है। इस प्रतिष्ठान के निश्चल होने पर ही धर्मरूपी यान चिरकाल तक रह सकता है, यह तीसरी भावना है। समकित विनयादि गुणों का आधार (अवस्थान) है। बिना इस आधार के विनयादि गुण स्थिर नहीं रह सकते यह चतुर्थ भावना है। समकित धर्मरूपी अमृत का पात्र है क्योंकि बिना इस पात्र के धर्मरूप अमृत नहीं रह सकता वह पांचवीं भावना है तथा समकित ज्ञान, दर्शन और चारित्र-रूपी रत्नों का निधान (भंडार) है। बिना निधान के जिस प्रकार अन्य रत्न सुरक्षित नहीं रह सकते इसी प्रकार बिना समकित के ज्ञानादिक तीनों रत्नों का सुरक्षित रहना भी कठिन है। यह छट्ठी भावना है। इस प्रकार छ भावनाओं को भाना चाहिये। इस विषय में विक्रमराजा की कथा बतलाई जाती है।

विक्रमराजा की कथा

कुसुमपुर के हरितिलक राजा के गौरी नामक रानी और विक्रम नामक पुत्र था। उस कुमार के युवा होने पर राजाने

उसका बत्तीस राजकन्याओं के साथ विवाह किया। उन स्त्रियों के साथ विक्रमकुमार दोगुंदक देव के सदृश एकान्त सुख का अनुभव करने लगा।

एक बार अशुभ कर्म के वश से कुमार को अकस्मात् खांसी, श्वास और ज्वरादिक व्याधियोंने आ घेरा जिसके निवारण के लिये अनेको मंत्र, तंत्र और औषधादिक उपचार किये परन्तु रोग की किसी भी प्रकार शान्ति नहीं हुई। अन्त में व्याधि की असह्य पीडा से उसने रोगशान्ति के लिये धनंजय यक्ष को सो पाड़े बलिदान देने की मानता की परन्तु वह भी निष्फल हुई। एक बार उस नगर के उद्यान में विमल केवली पधारें जिन के आगमन की सूचना वन-पाल के मुंह से सुनने पर जब राजा केवली को वन्दना करने को जाने के लिये तैयार हुआ तो कुमारने कहा कि–हे पिता! मुझे भी वहां ले चलिये कि–जिसे मुनि के दर्शन से मेरे रोग की शान्ति तथा पाप का क्षय हो। यह सुन कर राजा उस-को भी अपने साथ ले गये। मुनि को वन्दना कर उनके मुंह से धर्मदेशना सुनने बाद जब राजाने मुनि से उसके कुमार को महाव्याधि होने का कारण पूछा तो केवलीने उत्तर दिया कि—

पूर्व भव में यह कुमार पद्मनामक राजा था। यह अन्याय का मन्दिर था। एक बार जब यह शिकार करने को वन में गया तो इसने वहां किसी साधु को प्रतिमा धारण कर खड़े

हुए देखा और बिना किसी कारण के वैर का चिन्तन कर उस मुनि को शरद्वारा मारडाला। उस पाप कर्म को देख कर उसके धार्मिक प्रधानोंने उसे पिंजरे में बन्द कर दिया और उसके स्थान पर उसके लड़के को गादी पर बिठाया। मुनि काल कर शुभ ध्यान के योग से स्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न हुआ। कुछ दिनों पश्चात् पद्मराजा को भी पिंजरे से निकाल मुक्त किया गया। वह घूमता फिरता किसी वन में पहुंचा जहां इधर उधर फिरते हुए उसने किसी मुनि को देखा, अतः द्वेषवश उसने उसकी भी ताड़ना की। मुनिने ज्ञान से उसको दुराचारी जान कर तेजोलेश्याद्वारा भस्म कर दिया। जहां से मर कर वह सातवीं नरक में गया और वहां के आयुष्य का क्षय होने पर स्वयंभूरमण समुद्र में मत्स्यरूप से उत्पन्न हुआ। वहां से वापस सातवीं नरक में जाकर फिर मत्स्य हो छट्ठे नरक में गया। इस प्रकार प्रत्येक नरक में दो दो तीन तीन बार भ्रमण कर कुदेव में उत्पन्न हो पृथ्वी अप, तेजस् आदि में, अनन्तकायादिक में और तिर्यंच में उत्पन्न हो, महापीडाओं को सहन कर उसने पद्म राजा के जीव में अनन्ती अवसर्पिणी उत्सर्पिणीये व्यतीत की। फिर अकाम निर्जराद्वारा उसके कर्म हलके होने से वह किसी श्रेष्ठी का पुत्र हुआ। उस भव में उसने तापसी दीक्षा ली, जहां से मर कर वह तेरा पुत्र हुआ है। मात्र थोड़े से अवशेष रहे मुनिघात के पाप से इसको ये रोग उत्पन्न हुए हैं।

इस प्रकार सुनते हुए भी कंपायमान कर देनेवाले उसके पूर्व भव का वृत्तान्त सुनने से इहापोह करते कुमार को जातिस्मरण ज्ञान हो गया, अतः कुमारने मुनि से कहा कि–

मिच्छत्तमोहमूढो,
जीव तुमं कत्थ कत्थ नह भमिओ ।
छेयणभेयणपमुहं,
किं किं दुक्कं न पत्तोसि ॥ १ ॥

भावार्थः—मिथ्यात्व मोह से मूढ़ बना मेरा जीव कहां कहां नहीं भमा ? (सर्व योनियों में भमा है) और भिन्न भिन्न भवों में छेदनभेदन आदि कौन कौन से दुःख नहीं उठाये ? (सर्व दुःख उठाये हैं)।

अतः हे पूज्य ! मेरे पर कृपा कीजिये। संसाररूपी कुँए में से धर्मरूपी रज्जुद्वारा मुझे खींच निकालिये (अर्थात् मेरा उद्धार कीजिये)। यह सुन कर मुनिने दया से द्रवित हो छ भावनाओं युक्त समकित का वर्णन किया जिस से वह समकित सहित श्रावकधर्म को अंगीकार कर अपने नगर को गया।

एक बार उस यक्षने प्रकट हो कुमार से कहा कि–हे कुमार ! मेरी शक्ति से तेरी व्याधि का नाश हुआ हैं, अतः

मुझे सो पाड़े का बली दे। कुमारने हंस कर उत्तर दिया कि-मेरा रोग तो केवली भगवंत की कृपा से गया है, अतः क्या तुझे पाड़े मांगते शर्म नहीं आती ? मैं जब एक कुंथुवा की भी हिंसा नहीं करता तो फिर तू यह क्या मांगता है ? यह सुन कर यक्षने क्रोध में आकर कहा कि-अरे ! ठीक है, तो अब मैं तुझे मेरा बल दिखलाउंगा सो देखना, ऐसा कह कर वह अदृश्य हो गया ।

एक वार कुमार वन में स्थित जिनालय में जा प्रभु की पूजा कर वापस घर की ओर आ रहा था कि-मार्ग में उस यक्षने कुमार के दोनों पैर पकड़ उसको भूमि पर पछाड़ कर बोला कि-अरे ! क्या अब भी तू तेरे आग्रह को नहीं छोडेगा ? कुमारने उत्तर दिया कि-हे यक्ष ! तू जीवहिंसा करना छोड़ दे । कहा भी है कि—

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि, यदुक्तं ग्रंथकोटिभिः ।
परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम् ॥ १ ॥

भावार्थः—जो बात क्रोड़ो ग्रन्थों में कही गई है उस बात को मैं आधे श्लोक में ही कहता हूँ कि-परोपकार पुण्य के लिये है और दूसरों को पीड़ा पहुंचाना पाप है ।

हेमधेनुधरादीनां, दातारः सुलभा भुवि ।
दुर्लभः पुरुषो लोके, यः प्राणिष्वभयप्रदः ॥२॥

भावार्थः--स्वर्ण, गायों और पृथ्वी आदि का दान करनेवाला पृथ्वी पर सुलभ है, परन्तु प्राणिओं को अभय-दान देनेवाला पुरुष इस लोक में दुर्लभ है ।

इस प्रकार कुमार आ साहस देख कर यक्षने कहा कि-यदि तू जीवहिंसा नहीं करता तो केवल मुझ को प्रणाम करते ही मैं संतुष्ट हो जाउँ । यह सुन कर कुमारने कहा कि-प्रणाम कई प्रकार के होते हैं । उन में से तू किस प्रकार का प्रणाम कराना चाहता है ? प्रणाम के भेद इस प्रकार हैं-हास्य प्रणाम, विनय प्रणाम, प्रेम प्रणाम, प्रभु प्रणाम और और भाव प्रणाम । इन पांच प्रकार के प्रणामों से मश्करी या हीलना से जो प्रणाम किया जाता है उसे हास्य प्रणाम कहते हैं, पिता आदि गुरुजनों को जो प्रणाम किया जाता है उसे विनय प्रणाम कहते हैं, मित्रादिक को जो प्रणाम किया जाता है वह प्रेम प्रणाम कहलाता है, राजादिक को जो प्रणाम किया जाता है उसे प्रभु प्रणाम कहते हैं और देव गुरु को प्रणाम किया जाता है वह भाव प्रणाम कहलाता है । तू इन प्रणामों में से किस प्रणाम के योग्य हैं ? यक्षने उत्तर दिया कि-हे कुमार ! तू मुझे अन्तिम भाव प्रणाम कर क्योंकि इस जगत की उत्पत्ति, संहार और पालन तथा संसार से निस्तारण आदि सर्व मेरे हाथ में हैं । यह सुन कर कुमारने कहा कि-हे यक्ष ! प्रथम जब तूं ही भवसागर में डूबा हुआ है तो फिर दूसरों को क्यों कर तार सकता हैं ? क्योंकि--

जह लोहासिला अप्पंपि,
बोलइ तह विलग्ग पुरिसस्स ।
इय सारंभो गुरू,
परमप्पाणं च बोलेई ॥ १ ॥

भावार्थः—जिस प्रकार लोहे की शिला खुद को तथा उसके साथ बंधे हुए पुरुष को डूबा देती है उसी प्रकार आरंभी गुरु भी खुद को तथा दूसरों को इस भवसागर में डूबा देता है ।

इस प्रकार राजकुमारने जब यक्ष को प्रतिबोधित किया तो वह संतुष्ट हो कुमार पर पुष्पवृष्टि कर संकटकाल में उसको स्मरण करने को कह कर अदृश्य हो गया ।

कुमार यक्ष की सहायता से दुर्जय कलिंग देश के राजा को युद्ध में परास्त कर निष्कंटक राज्य करने लगा । कुछ काल व्यतीत होने पर एक दिन जब विक्रम राजा राजवाड़ी में घूमने निकला तो जाते समय मार्ग में एक श्रेष्ठी के घर महोत्सव होते देख अत्यन्त आनन्दित हुआ परन्तु क्रीडा कर जब वापस लोटा तो उसने उसी श्रेष्ठी के घर परपुरुषों को रुदन करते देख कर किसी से उसका कारण पूछा तो उसने उत्तर दिया कि--

हे स्वामी ! इस श्रेष्ठी के घर पर पुत्र उत्पन्न हुआ था इस से महोत्सव हो रहा था किन्तु जन्म लेने के पश्चात्

शीघ्र ही उस पुत्र के मर जाने से उसके कुटुम्बी रुदन कर रहे हैं। यह सुन कर विक्रम राजा को वैराग्य उत्पन्न हो गया। उसने विचार किया कि—

बाल्यादपि चरेद्धर्ममनित्यं खलु जीवितम् ।
फलानामिव पक्वानां, शश्वत्पतनतो भयम् ॥१॥

भावार्थः—यह जीवन अनित्य है, अतः बाल्यावस्था से ही धर्म का आचरण करना चाहिये क्योंकि पके हुए फल के सदृश जीव को निरन्तर पड़ जाने का (मृत्यु का) भय बना रहता है।

इस प्रकार विचार कर राजाने अपने पुत्र को राज्य पर बेठा कर स्वयं दीक्षा ग्रहण की और अनुक्रम से केवलज्ञान प्राप्तकर मोक्षपद को प्राप्त किया।

विक्रम राजा के सदृश शुभ भावनाओंद्वारा समकित का सेवन करना चाहिये क्योंकि वैसा करने से वैसी भावनाओं के होने पर दोनों लोक में शुभ का उदय होता है।

इत्युपदेशप्रासादे चतुर्थस्तंभे चतुष्पञ्चाशत्तमं
व्याख्यानम् ॥ ५४ ॥

व्याख्यान ५५ वां

समकित के छ स्थानक में से प्रथम दो स्थानक

अनुभवसिद्धो जीवः, प्रत्यक्षो ज्ञानचक्षुषाम् ।
ज्ञायतेऽनेकवाञ्छाभिरस्तिस्थानं तदेव हि ॥१॥

भावार्थः--ज्ञानरूपी ने नेत्रवालों को (केवलज्ञानियों को) प्रत्यक्ष जीव अनुभवसिद्ध है इसी प्रकार यह जीव अनेक प्रकार की वांछना से जाना जाता है (सिद्ध होता है)। यह पहला "अस्तिस्थान" कहलाता है ।

कई मिथ्यात्वी ऐसा मानते हैं कि–जीव है ही नहीं। उनका ऐसा अनुमान है कि–आत्मा पांचों इन्द्रियों से प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण नहीं किया जा सकता इस लिये आकाशपुष्प के समान उसका (आत्मा) भी अस्तित्व है ही नहीं। ऐसे नास्तिकवादी को आचार्य का कहना है कि–अपने ज्ञान से ही अनुभव होनेवाला आत्मा सिद्ध है क्योंकि केवलज्ञानी को तो वह प्रत्यक्ष है और छद्मस्थों को अनुमान से सिद्ध होता है। अनेक प्रकार की वांछनाओं तथा सुखदुःखादि की कल्पनाजाल से निश्चय हो सकता है कि–उस वांछनाओं तथा कल्पनाओं का कर्त्ता आत्मा ही है। उस विषय में इस प्रकार अनुमान हो सकता है। सुख, दुःख और इच्छा आदि का कारणभूत होने से आत्मा है। जो जो वस्तु कार्य और

कारणभूत हैं वे वे वस्तुएँ होती हैं। जैसे घट कार्य और उसका कारण मिट्टी का पिंड वे जैसे होनेवाली वस्तुए हैं इसी प्रकार यह आत्मा कारण और सुख दुःखादिक उसके कार्य हैं, इस से आत्मा की सिद्धि होती है। जिनकी ऐसी सम्यग् बुद्धि हो उन में सम्यक्त्व का प्रथम स्थानक समझना चाहिये। इस प्रकार जिसने जीव का अस्तित्व माना उसे प्रथम "अस्तिस्थान" कहते हैं।

अब जीव का दुसरा नित्यत्वस्थान कहा जाता हैं—

द्रव्यस्यापेक्षया नित्यो, हि व्ययोत्पादवर्जितः।
पर्यायापेक्षयाऽनित्यः, सद्भावेन च शाश्वतः ॥१॥

भावार्थः—द्रव्य की अपेक्षा से नाश और उत्पत्ति रहित आत्मा नित्य है, पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है, और सद्भावद्वारा वह आत्मा शाश्वत है।

यह आत्मा द्रव्य नय की अपेक्षा से विनाश और उत्पत्ति रहित है अर्थात् आत्मा कदापि न तो उत्पन्न ही होता है न उसका विनाश ही होता है। यहां पर यदि कीसी को शंका उत्पन्न हो कि–इतना कहने मात्र से तो आचार्यने आत्मा का नित्यपन एकान्त रूप से अंगीकार किया है तो इसके निराकरण के लिये उत्तरार्ध में कहते हैं कि–पर्याय नय की अपेक्षा से आत्मा अनित्य है और सत्तारूप से शाश्वत है क्योंकि पूर्व किये हुए तथा कराये हुए का इसको स्मरण

होता है वह इस प्रकार कि–मैंने पूर्व भव में जो अरिहंत का बिंब बनाया हुआ वह ही यह बिंब है। इस प्रकार इस जन्म में यह बिंब देखने से उसका स्मरण हो जाता है और जाति स्मरण ज्ञान हो जाता है। जीव के पर्याय बदलते रहने से दूसरे भव में गमन करनेरूप वह अनित्य जान पड़ता है अर्थात् आत्मा नित्य है और उसके पर्याय अनित्य हैं ऐसा समझना चाहिये।

अपितु द्रव्य कदापि पर्याय रहित नहीं होता। इस विषय में पूर्व सूरिने कहा है कि—

पर्यायविच्युतं द्रव्यं, पर्याया द्रव्यवर्जिताः।
कदापि केन किंरूपा, दृष्टा मानेन केन वा ॥ १ ॥

भावार्थः—पर्याय रहित द्रव्य को तथा द्रव्य रहित पर्याय को किसी भी समय किसी भी रूप में क्या किसीने देखा है? अथवा किसी भी प्रमाण से सिद्ध किया है? नहीं किया क्योंकि बिना पर्याय के द्रव्य और बिना द्रव्य के पर्याय होता ही नहीं है।

अपितु सद्भाव अर्थात् सत्ता के आश्रय से आत्मा शाश्वत है अर्थात् आद्यंत रहित केवल स्थिर स्वभावपन से ध्रुव है। इस प्रकार निश्चल किये हुए मनवाले को समकित का दूसरा स्थानक है ऐसा समझना। इस प्रसंग पर इन्द्रभूति का प्रबंध प्रसिद्ध है।

इन्द्रभूति (गौतम) का प्रबन्ध

मगधदेश के गोबर नामक ग्राम में वसुभूति नामक ब्राह्मण रहता था जिसके पृथ्वी नामक पत्नी और इन्द्रभूति नामक पुत्र था। वह अपनी बुद्धि से व्याकरण, न्याय, काव्य, अलंकार, वेद, पुराण और उपनिषद् आदि सर्व शास्त्रो में विद्वान हो गया था परन्तु उसको वेद के अर्थ विचारते हुए जीव के अस्तित्व में संशय हो गया था लेकिन वह स्वयं सर्वज्ञ होने का ढ़ोंग करता था, अतः किसी को पूछ कर इस शंका का निवारण नहीं कर सकता था।

एक बार वह इन्द्रभूति श्रीमहावीरस्वामी के समवसरण में आया तो प्रभुने उसे बुलाया और ज्ञानद्वारा उसके मन का संशय जान कर कहा कि–हे इन्द्रभूति! तू जीव का अभाव स्थापन (सिद्ध) करता है और उस में ऐसी युक्तिये लगाता है कि–घट, पट, लकुट आदि पदार्थों के सदृश जीव प्रत्यक्ष नहीं दिखाता, अतः खरगोश के सिंग के सदृश वह है ही नहीं। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से आत्मा का नहीं होना सिद्ध होता है अपितु अनुमान प्रमाण से भी आत्मा सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि अनुमान प्रमाण भी प्रत्यक्ष-पूर्वक ही प्रवृत्त होता है। प्रथम रसोई आदि में धुंआ देख कर अग्नि की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से की थी इस से इसके पश्चात् जहां धुंआ हो वहां अग्नि होगी इस व्याप्ति का ज्ञान

होता है और इसके पश्चात् किसी पर्वतादि में धुंआ दिखाई देने पर उस में अग्नि सिद्ध करने का अनुमान किया जाता है। उसी प्रकार यहां आत्मा की सिद्धि के लिये आत्मारूप लिंग के साथ उसके किसी भी लिंग (चिह्न) की प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्धि नहीं होती कि-जिस चिह्न को देख कर व्याप्ति का ज्ञान हो सके और उसके पश्चात् अनुमान किया जा सके अपितु आगम से भी आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि सर्व मत के आगम परस्पर विरुद्ध हैं। एक शास्त्र में यह भी कहा है कि--

एतावानेव लोकोऽयं, यावानिन्द्रियगोचरः।
भद्रे! वृकपदं पश्य, यद्वदन्त्यबहुश्रुताः ॥१॥

भावार्थः—किसी नास्तिकने रेती में अपने हाथ से वरु के पैर सदृश रेखायें बना कर फिर सब लोगों को यह वरु के पैर के चिह्न है ऐसे कहते सुन कर अपनी पत्नी को कहा कि-हे प्रिया! यह दुनियां जितनी इन्द्रियों से ग्राह्य है उतनी है, उस से अधिक नहीं। देखिये ये अबहुश्रुत मेरी बनाई हुई रेखाओं को वरु के पैर कहते हैं उसी प्रकार इन्हों ने शास्त्रों में ही सब कपोलकल्पित ही लिखा है अर्थात् अनेक प्रकार के त्यागनियमादिक बतानेवाले शास्त्र केवल मुग्ध जनों को भ्रम में डालने के लिये ही बनाये गये हैं। ब्राह्मणने एक और श्लोक कहा कि--

पिब खाद च चारुलोचने!
यदतीतं वरगात्रि तन्न ते ।
न हि भीरु गतं निवर्तते,
समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥ २ ॥

भावार्थः—हे सुन्दर नेत्रवाली ! तू इच्छानुसार खान पान कर। (अर्थात् उसका फिर से मिलना कठीन है) क्योंकि हे भीरु (डरनेवाले स्त्री)! गया हुआ वापस नहीं आता और यह शरीर तो मात्र पंचभूतों का समुदाय है अर्थात् शरीर का नाश होने पर सर्व का नाश हो जाता है। परलोक आदि सब असत्य है, अतः खाया, पीया और भोग किया वह है सच्चा है (इस प्रकार नास्तिक लोगों की मान्यता है)।

इसी प्रकार वेद में भी कहा है कि-"न हि वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वा संतं प्रियाप्रिये न स्पृशतः।" शरीरवाले जीव को प्रिय या अप्रिय का नाश (अभाव) नहीं है। शरीरवाले जीव को प्रिय या अप्रिय स्पर्श नहीं करते (यहां प्रिय अर्थात् सुख अथवा पुण्य और अप्रिय अर्थात् दुःख अथवा पाप समझना चाहिये)।

अपितु कपिल के मतवालों का कहना है कि-"अस्ति

पुरुषः। अकर्ता निर्गुणो भोक्ता चिद्रूपः इत्यादि" पुरुष-आत्मा है वह आत्मा अकर्त्ता है (कर्त्ता नहीं), निर्गुण है (सत्वादिक गुणवाले नहीं) परन्तु भोक्ता और चैतन्य-स्वरूप है आदि ।

इस प्रकार शास्त्र भी परस्पर विरुद्ध बात कहनेवाले होने से आत्मा सिद्ध नहीं होता है ।

इसी प्रकार इन तीनों भवनों में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं कि-जिस पदार्थ के सदृश जीव को बतला कर उपमान प्रमाण से भी आत्मा की सिद्धि की जा सके, अतः सर्व प्रमाणों से अतीत आत्मा (जीव) का नहीं होना ही सिद्ध होता है ।

हे इन्द्रभूति ! इस प्रकार जो तेरी धारणा है वह अयुक्त है । हे आयुष्मन् ! तूने आत्मा का इन्द्रियोंद्वारा अग्राह्य होने से नहीं होना कहा है परन्तु जैसे मैंने तेरे मन के संशय को जाना है उसी प्रकार मैं प्रत्यक्षरूप से सर्वत्र जीव को देखता हूँ । केवल मैं ही देखता हूँ ऐसा नहीं परन्तु तू भी "अहं" (हूँ) ऐसा शब्द बोल कर बतला रहा है कि-तेरे देह में भी आत्मा स्थित है । फिर भी जो तू उसका अभाव बतलाता है उससे "मेरी माता वंध्या है" इस वाक्य के सदृश तेरे खुद के वाक्यों में ही दोष आता है । अपितु स्मरण, कहीं भी जाने की इच्छा, किसी भी कार्य के करने की इच्छा, संशय आदि ज्ञानविशेष, ये जीव के ही गुण

हैं और इससे वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है, अतः तू इसको स्वीकार कर ।

अपितु अनुमान प्रमाण से भी आत्मा की सिद्धि होती है:–देहादिक इन्द्रियों का जो अधिष्ठाता तथा भोक्ता है वह जीव ही है । गधे की सींग के सदृश जिसका भोक्ता न हो वह भोग्या भी नहीं । यह शरीरादिक भोग्य है तो इसका कोई भोक्ता भी होना ही चाहिये । अपितु हे गौतम । तुझे जीव के विषय में संशय होने से तेरे शरीर में जीव के होने का निर्णय होता है (क्योंकि तुझे जो संशय होता है वह किसको हुआ ?) जहां जहां संशय हो, वहां वहां वह (संशय-वाला) पदार्थ भी होना चाहिये । जिस प्रकार कोई पुरुष दूर से वृक्ष का ठुँठ और मनुष्य को देखा हुआ होने से फिर से जब ऐसी कोई चीज देखता है तो वह उस में मनुष्य और वृक्ष के ढुँढ दोनों के लक्षणों को देखता है कि–क्या यह वृक्ष का ढुँढ है या पुरुष ? फिर अन्वय व्यतिरेक विचार कर पक्षी के उस पर बैठे हुए होने से यह वृक्ष का ढुँढ है ऐसा सिद्ध करता है अथवा हस्तपादादिक अवयवों से और हिलने-चलने से पुरुष है ऐसा सिद्ध करता है । इसी प्रकार आत्मा और देह इन दोनों के अस्तित्व पर ही संशय उत्पन्न हो सकता है परन्तु उन दोनों में से किसी एक के भी अभाव में संशय नहीं हो सकता । इस प्रकार अनुमान प्रमाण से भी तू जीव का अस्तित्व स्वीकार कर ।

इसी प्रकार हे गौतम ! सर्व शास्त्रों (आगमों) के परस्पर विरुद्ध होने से कौनसा प्रमाण और कौनसा अप्रमाण ? ऐसा जो तुझे संदेह होता है वह भी अयुक्त है क्योंकि सर्व आगम आत्मा के अस्तित्व को तो मानते हैं ।

शब्दप्रमाण(व्याकरण)वाले शाब्दिक कहते हैं कि–

यद्व्युत्पत्तिमत्सार्थकं शुद्धपदं तद्वस्तु भवत्येव यथा तपन । व्युत्पत्त्यादिरहितो यत् शब्दः तद्वस्तु नास्त्येव यथा डित्थडवित्थादयः ।

"जो व्युत्पत्तिवाला, सार्थक एक पद ही है वह पदार्थ होना ही चाहिये जैसे कि–तपतीति तपन–ताप उत्पन्न करे वह तपन कहलाता है । इस व्युत्पत्ति से तपन शब्द से सूर्य जैसा पदार्थ है यह सिद्ध हुआ । तथा जो व्युत्पत्ति आदि रहित शब्द हो वह पदार्थ नहीं हो सकता, जैसे डित्थडवित्थ आदि । इसी प्रकार अततीति आत्मा–भवांतर में जो निरन्तर गति करे वह आत्मा । इस प्रकार आत्मा शब्द की शब्दप्रमाण से भी सिद्धि होती है । कहा भी है कि—

परमानन्दसंपन्नं, निर्विकारं निरामयम् ।
ध्यानहीना न पश्यन्ति, निजदेहे व्यवस्थितम् ॥१॥

भावार्थः––परम आनन्द से युक्त, निर्विकार, और निरामय आत्मा अपने शरीर में रहने पर भी ध्यान रहित पुरुष उसको नहीं देख सकते ।

उत्तमा ह्यात्मचिन्ता च, मोहाचिन्ता च मध्यमा ।
अधमा कामाचिन्ता च, पराचिन्ताऽधमाधमा ॥२॥

भावार्थः—आत्मा की चिन्ता–आत्मा के हिताहित की चिंतवन–विचार करना उत्तम है। मोह की चिन्ता अर्थात् सांसारिक अनेक कार्यों की चिन्ता करना मध्यम है, काम अर्थात् इन्द्रियों के विषयादिक की चिन्ता करना अधम है और दूसरों की चिन्ता करना अधमाधम है ।

नलिन्यां च यथा नीरं, भिन्नं तिष्ठति सर्वदा ।
अयमात्मा स्वभावेन, देहे तिष्ठति सर्वदा ॥३॥

भावार्थः—नलिनी (कमलिनी) से जैसे जल सदैव अलग ही रहता है उसी प्रकार यह आत्मा भी स्वभाव से ही देह से निरन्तर दूर ही रहता है ।

इस प्रकार हे गौतम ! सर्व शास्त्रसंमत जीव का जो अभाव बतलाते हैं वे मिथ्यात्ववादी ही हैं, अतः इस विश्व को तू अनेक जीवों से भरा हुआ जान ।

अपितु हे गौतम ! आत्मा के सदृश कोई पदार्थ नहीं है, अतः उपमान प्रमाण से आत्मा सिद्ध नहीं हो सकता है–ऐसी जो तेरी मान्यता है वह भी अयोग्य है क्योंकि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये तीनों पदार्थ एक जीव के प्रदेश जितने ही प्रदेश प्रमाणवाले हैं,

अतः इनकी उपमा दी जा सकती हैं (इस विषय का श्रीहरिभद्रसूरिकृत षड्दर्शनसमुच्चय की बृहद्वृत्ति में विस्तार से निरूपण किया गया हैं जहां से पढ़िये)। अपितु हे गौतम! जैसा आत्मा तेरे देह में है वैसा ही दूसरे के देह में भी है क्योंकि हर्ष, शोक, संताप, सुख, दुःख आदि विज्ञान का उपयोग सर्व देहो में जान पड़ता है। अपितु आत्मा कुंथु सदृश होकर बड़े हाथी के सदृश भी हो जाता है। इन्द्र होकर तिर्यंच भी हो जाता है, अतः जिस की शक्ति का विचार भी नहीं किया जाय ऐसा अचिंत्य, शक्तिमान, विभू (समर्थ), कर्त्ता, भोक्ता, ज्ञाता और कर्म से भिन्नाभिन्न रूपवाला है।

अपितु विज्ञानघन आदि वेदवाक्यों के पदों का जो तू अर्थ करता है वह भी अयोग्य है। तेरा कहना है कि– "विज्ञानघन एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय (उत्पद्य) ततस्तान्येव (महाभूतान्येव) अनुविनश्यति तदा विज्ञानघन आत्मा नश्यति। अत एव न प्रेत्यसंज्ञास्ति, प्रागेव सर्वनाशं नष्टत्वात्।" अत्यन्त विज्ञानयुक्त यह आत्मा इन पंच महाभूतों से उत्पन्न होकर फिर इन्हीं महाभूतों में नाश हो जाता है अर्थात् गाढ़ विज्ञानरूप आत्मा का नाश हो जाता है, अतः परभव में जाता है ऐसी उसकी संज्ञा नहीं रहती क्योंकि पूर्व भव में ही उसका सर्वथा नाश हुआ है।" इस प्रकार जो तू अर्थ करता है वह अयुक्त

हैं। हमारे कहनेनुसार देख कि विरोध नहीं आयगा। विज्ञान अर्थात् ज्ञान और दर्शन का उपयोग। उस से घन (निबिड़-गाढ़) ऐसा जीव इस ज्ञेयभावना परिणाम को प्राप्त हुए महा-भूत (घटादिक) से उत्पन्न होकर अर्थात् घटादिक के ज्ञान-रूप उपयोगद्वारा उत्पन्न होकर, उसी उपयोग में आये हुए घटादिक का नाश होने से कालक्रम से (एक काल में एक वस्तु का उपयोग और दूसरे काल में दूसरी वस्तु का, इस प्रकार) दूसरी वस्तु का उपयोग होने पर प्रथम वस्तु का उपयोग नाश हो जाता है परन्तु आत्मा का सर्वथा नाश नहीं होता क्योंकि यह एक ही आत्मा तीन स्वभाववाला है। वह इस प्रकार है–पूर्व वस्तु के उपयोग का नाश होने से विनाशी, दूसरी वस्तु के ज्ञान का उपयोग होने से उत्पन्न स्वभाववाला और अनादिकाल से प्रवृत्त हुए सामान्य विज्ञान की संतति से अविनष्ट ध्रुव स्वभावी आत्मा है। इसी प्रकार अन्य सर्व वस्तुओं को भी तीन स्वभाववाली जानना चाहिये। अब न प्रेत्यसंज्ञास्ति अर्थात् दूसरी वस्तु के उपयोग के समय पूर्व वस्तु का ज्ञान अर्थात् संज्ञा नहीं होती क्योंकि अभी दूसरी वस्तु का उपयोग हो रहा है उसकी संज्ञा है। हे गौतम! इन युक्तियों से तू "जीव" का होना स्वीकार कर।

इस प्रकार तीनों जगत के स्वरूप को जाननेवाले भगवानने सर्व जीवों को प्रतिबोध करने के उपाय की निपुणता

से गौतम का संशय दूर किया, अतः पचास वर्ष की आयु-वाले उस गौतमने गृहस्थ धर्म का त्याग कर पांचसो शिष्यों सहित भगवान के पास दीक्षा ग्रहण की। फिर भगवानने उसे प्रथम गणधर के पद पर स्थापित किया। सात हाथ ऊँचे देहवाले, अनेक लब्धियों से युक्त, शुद्ध चारित्र के पालन करने से मनःपर्यायज्ञान को प्राप्त हुए, क्षयोपशम समकित से युक्त, यावज्जीव छट्ठ तप करनेवाले, विषय और कषायों को जय करनेरूप गुणों को पानेवाले इन्द्रभूति (गौतम) गणधरने तीस वर्ष तक श्रीमहावीरप्रभु की सेवा की।

एक बार श्रीमहावीरस्वामीने अपने निर्वाण का समय समीप आया जान कर गौतम पर अपने राग का नाश करने के लिये उसको (गौतम गणधर को) देवशर्मा नामक ब्राह्मण को प्रतिबोध करने के लिये भेजा। उसके जाने बाद प्रभुने सोलह पहर तक एक धारा से देशना दी। देशना की समाप्ति पर भगवानने अविनाशी मोक्षपद प्राप्त किया। गौतम गण-धर देवशर्मा को प्रतिबोध कर वापस जिनेश्वर के पास आ-रहे थे। मार्ग में प्रभु के मोक्षकल्याण के लिये आये हुए देव-ताओं के मुह से भगवान का निर्वाण जान वज्र के प्रहार से आघात पाये सदृश महादुःखी चित्त से विचार करने लगे कि–अहो! कृपासागर प्रभुने यह क्या किया? कि–ऐसे समय पर मुझे दूर भेज दिया? क्या मुझे अपने साथ ले

जाते तो मोक्षपथ संकड़ा हो जाता ? हे तीनों जगत के सूर्य सदृश प्रभु ! अब मेरे प्रश्नों का उत्तर कौन देगा ? आदि विचार कर वह बारंबार "महावीर महावीर" इस शब्द का उच्चस्वर से जाप करने लगा। ऐसा करने से उसके कंठ एवं तालु सूख गये, अतः बाद में "वीर" और अन्त में अकेला "वी" शब्द का ही उच्चार होने से एक "वी" शब्द का ही उच्चार होने लगा। उस समय स्वयं द्वादशांगी के जाननेवाले होने से एक "वी" शब्द ही से सर्व शास्त्रों के अर्थ को प्रकट करने की शक्ति को धारण करनेवाले श्रीगौतम गणधर का "वी" शब्द से शुरु होनेवाले अनेकों उत्तम उत्तम शब्दों का स्मरण हो आया। वे इस प्रकार हैं– हे वीतराग ! हे विबुद्ध ! हे विषयत्यागी ! हे विज्ञानी ! हे विकारजीत ! हे विद्वेषी (द्वेष रहित) ! हे विशिष्ट श्रेष्ठी ! हे विश्वपति ! हे विमोही (मोह रहित) ! आदि शब्दों के याद आने पर उन में से प्रथम "वीतराग" शब्द के अर्थ का विचार करते हुए उनके सर्व मोह–राग का अन्त हो गया और तत्काल ही उनको केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। देवताओंने केवली की महिमा की। स्वर्णकमल आदि की रचना की। फिर उन पर बैठ कर अनेक भव्य जीवों को प्रतिबोध कर बारह वर्ष तक केवली अवस्था में विचरण कर अन्त में साद्यनंत सुख (मोक्ष) को प्राप्त किया।

निर्मल केवलज्ञानद्वारा उत्तम ऐसे प्रथम गणधर गौतम-स्वामी जिन्होने जिनेश्वर से जीव का निश्चय कर प्रतिबोध प्राप्त किया, उन गणनाथ की मैं मनोहर स्तुति करता हूँ।

इत्युपदेशप्रासादे चतुर्थस्तंभे पञ्चपञ्चाशत्तमं व्याख्यानम् ॥ ५५ ॥

व्याख्यान ५६ वां

समकित का तीसरा तथा चोथा स्थानक

शुभाशुभानि कर्माणि, जीवः करोति हेतुभिः ।
तेनात्मा कर्तृको ज्ञेयः, कारणैः कुंभकृद्यथा ॥१॥

भावार्थः—जैसे कुम्हार मिट्टी, चक्र और डोर आदि कारणों से घड़े का कर्त्ता है उसी प्रकार जीव भी कषायादिक बंध के हेतुओंद्वारा शुभ और अशुभ कर्म करता है। यह जीव कर्त्ता है इसे समकित का तीसरा स्थानक समझना चाहिये।

अथ चोथा भोक्ता स्थानक बतलाया जाता है—

स्वयं कृतानि कर्माणि, स्वयमेवानुभूयते ।
कर्मणामकृतानां च, नास्ति भोगः कदापि हि ॥२॥

भावार्थः—स्वयं (आत्मद्वारा-जीवद्वारा) किये हुए कर्मों (कर्मों का फल) को तो खुद ही भोगता है क्योंकि

नहीं किये हुए कर्मों का भोग (अनुभव) कदापि नहीं होता। यह जीव भोक्ता है इसे समकित का चोथा स्थानक समझना चाहिये। इस प्रसंग पर अग्निभूति गणधर का निम्नलिखित दृष्टान्त प्रसिद्ध है—

अग्निभूति का दृष्टान्त

मगधदेश के गोबर ग्राम में वसुभूति ब्राह्मण की पृथ्वी नामक स्त्री से दूसरा अग्निभूति नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था। वह भी सोमभट्ट के घर पर यज्ञ कराने के लिये पांचसो शिष्यों सहित गया था। उस समय उससे पहिले उसका ज्येष्ठ भ्राता इन्द्रभूति जिनेश्वर के पास गया था जिसने पराजित हो प्रभु पास दीक्षा ग्रहण की। यह बात जब अग्निभूतिने सुना तो उसने विचार किया कि—मेरा भाई इन्द्रभूति तीनों भव में दुर्जय है, उसको किसीने इन्द्रजाल के बल से (कपट से) भरमा दिया जान पड़ता है और जगद्गुरु मेरे भाई का चित्त भ्रमित कर देना मालुम होता है, अतः अब मैं स्वयं जाकर उसको युक्ति से पराजय करता हूँ। अरे! मेरे भाई की यह सब से बड़ी भूल है कि—वह सर्वज्ञों में सूर्य समान मुझको यहां छोड़ कर चला गया और इन्द्रजालीने भी यह कैसा अकार्य किया कि—अपनी शक्ति को बिना जाने ही सिंह को आलिंगन किया। परन्तु अब मुझे उसके पास शीघ्रतया जाना चाहिये। इस प्रकार वाणी का आडं-

बर करते हुए अग्निभूति अपने पांचसो शिष्यों को साथ ले कर जिनेश्वर के पास गया। उस समय जिनेश्वरने उसको "हे गौतम! अग्निभूति आओ" इस प्रकार उसके नाम गोत्र कथनपूर्वक बुलाया। यह सुन कर अग्निभूतिने विचार किया कि-"मैं जगत में प्रसिद्ध हूँ फिर मुझे कोन नहीं जानता? परन्तु यह यदि मेरे मन का संशय जान कर उसका निवारण कर दे तो मुझे अवश्य विस्मय हो।" वह इस प्रकार विचार कर ही रहा था कि भगवनने कहा "हे अग्निभूति गौतम! तुझे यह संशय है कि-कर्म है या नहीं?, परन्तु तेरा यह संशय निर्मूल हैं। तू वेद के पदों का अर्थ बराबर नहीं जानता इससे तुझे यह संशय हो गया है। वे वेद के पद इस प्रकार हैं "पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति। यदेजति यन्नेजति यद्दूरे यदन्तिके यदन्तरस्य सर्वस्यास्य बाह्यत इत्यादि" इसका अर्थ तू ऐसा करता है कि-"पुरुष अर्थात् आत्मा। इसका अर्थ निश्चय है और यह कर्म की व्यावृत्ति (निषेध) के लिये है। यह सर्व प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला चेतन तथा अचेतन, जो हो गया है और होनेवाला है (मुक्ति तथा संसार) उनका अर्थ समुच्चय है। अमृतत्वस्य अर्थात् मृत्यु धर्म रहित ऐसे मोक्ष का इशान-प्रभु है। जो कोई आहारादिक से वृद्धि को प्राप्त करते हैं, पशु आदि जो कोई चलते हैं, पर्वत आदि जो नहीं चलते,

मेरु आदि जो दूर हैं और जो समीप है वे सब आत्मा ही है। जो इन चेतन और अचेतन सर्व के मध्य में तथा सर्व के बाहर है वह सर्व पुरुष (आत्मा) ही है।" इस प्रकार अर्थ कर जो तू कर्म को अभाव करता है वह अयुक्त है क्योंकि कई वेद वाक्य विधिवाद करते हैं, कई अर्थवाद करते हैं तथा कई अनुवाद करनेवाले होते हैं। उन में "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः-स्वर्ग की इच्छावाले को अग्निहोत्र करना चाहिये आदि वाक्य विधिवाद करनेवाले हैं। अर्थ-वाद के वाक्य स्तुत्यर्थक और निंदार्थक ऐसे दो प्रकार के होते हैं। उन में "पुरुष एव" आदि वाक्य आत्मा के स्तुत्यर्थक हैं और "जीवहिंसा के कारण होने से यज्ञ कर्म न करना" ये निंदार्थक वाक्य है तथा "द्वादश मासा संवत्सरोऽग्निरुष्णोऽग्निर्हिमस्य भैषजं"-बारह महिने का वर्ष है, अग्नि उष्ण है, अग्नि हिम की औषधि है, आदि वाक्य अनुवादवाले हैं, क्योंकि ये वाक्य लोकप्रसिद्ध अर्थ को ही बतलानेवाले हैं। अब "पुरुष एव" आदि स्तुत्यर्थक वाक्य जाति आदि के मद के त्याग कराने के लिये हैं और अद्वैतवाद के प्रतिपादक है अर्थात् जहां देखो वहां आत्मा ही है, अतः इसका यह तात्पर्य है कि-मद का त्याग करना चाहिये।

अपितु हे गौतम! आत्मपनद्वारा सरिखे ऐसे सर्व आत्मा का जो यह देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारकी, राजा और

रंकपनरूप विचित्रपन प्रत्यक्ष है वह निर्हेतुक नहीं है, उसका कारण होना ही चाहिये। बिना कारण यदि ऐसी विचित्रता हो तो वह सदैव एकसी ही होनी चाहिये या नहीं होनी चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं है। यह तो बदलती ही रहती हैं, अतः यह अवश्य मानना पड़ेगा कि-यह सर्व विचित्रता कर्म से ही होती है। कहा है कि—

नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा, हेतोरन्यानपेक्षणात्।

अन्य हेतु की अपेक्षा न हो तो नित्य सत्य अथवा असत्यपन होना चाहिये किन्तु ऐसा नहीं होता है, अतः इस विचित्रता का हेतु ही कर्म है।

पौराणिक भी कर्म का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि-

यथा यथापूर्वकृतस्य कर्मणः,
फलं निधानस्य इवावतिष्ठते।
तथा तथा तत्प्रतिपादनोद्यता,
प्रदीपहस्तेव मतिः प्रवर्तते ॥ १ ॥

भावार्थः—जैसे जैसे निधान के समान पूर्वार्जित कर्मों का फल प्राप्त होता जाता है तैसे उन कर्मों का प्रतिपादन करने को तैयार हुई मति मानो हाथ में दीपक लेकर आती है ऐसी प्रवृत्त होता है। अपितु

यत्तत्पुराकृतं कर्म, न स्मरन्तीह मानवाः ।
तदिदं पांडवज्येष्ट !, दैवमित्यभिधीयते ॥२॥

भावार्थः—हे युधिष्ठिर ! जिन पूर्व किये हुए कर्मों को मनुष्य इस भव में नहीं संभार सकते (मनुष्यों के स्मरण में नहीं आते), वे कर्म "देव" कहलाते हैं ।

अपितु हे अग्निभूति । ऐसा समझ कि वे कर्म मूर्तिमान हैं क्योंकि कर्म को अमूर्त मानने से आकाशादिक की तरह उनसे आत्मा को अनुग्रह, उपघात का, सुखदुःख का संभव होता है । अपितु यह भी समझ कि–इन कर्मों के साथ आत्मा का अनादिकाल से सम्बन्ध है क्योंकि यदि इन का सम्बन्ध सादि माना जाय तो युक्त जीवों को भी कर्मों का सम्बन्ध होना चाहिये। सादि सम्बन्ध मानने से संसारी जीव पहेले कर्म रहित था, और फिर अमुक काल में कर्म सहित हुआ, तो मुक्त जीव भी कर्म सहित हुए फिर उनको भी अमुक समय में कर्म का सम्बन्ध होना चाहिये और ऐसा होने से मुक्त जीव अमुक्त होगें, अतः ऐसा मानना इष्ट नहीं है इसलिये प्रवाहद्वारा जीव कर्म का सम्बन्ध अनादि है ऐसा समझ । यहां पर यदि किसी को शंका हो कि–"जब जीव कर्म का सम्बन्ध अनादि है तो फिर उनका वियोग क्यों कर हो सकता है ? क्योंकि जो अनादि होता है वह अनन्त

भी होता है। जैसे काल अनादि है वैसे ही अनन्त भी है।" इस शंका का यह उत्तर है कि–ऐसे स्वर्ण और पाषाण का सम्बन्ध अनादि है तो भी उस प्रकार की सामग्री के योग से अग्नि में रख कर धमने से स्वर्ण और पाषाण अलग अलग हो जाते हैं, इसी प्रकार जीव भी ध्यानरूपी अग्नि के योग से अनादि सम्बन्धवाले कर्म से अलग हो जाता है ऐसा सिद्ध होता है।

अपितु हे आयुष्मान्! यदि कर्म न हो तो धर्म, अधर्म, दान, अदान, शील, अशील, तप, अतप, सुख, दुःख, स्वर्ग, नरक आदि सर्व व्यर्थ हो जायें, अतः तू तेरा पक्ष छोड़ कर कर्म का होना स्वीकार कर।

यहां पर यदि किसी को शंका हो कि–जगत आदि सर्व वस्तुओं का कर्त्ता एक ईश्वर ही है तो फिर वंध्या के पुत्र के सदृश अदृष्ट कर्म की कल्पना क्यों करे? ऐसी शंका तद्दन असत्य है क्योंकि यदि जगत का कर्त्ता ईश्वर है तो वह मूर्तिमान है या अमूर्तिमान? यदि मूर्तिमान है तो वह कुंभकार आदि की तरह दिखाई क्यों नहीं देती और अमूर्त होते हुये ही यदि संसार का सृजन करता है तो शरीरादिक के अभाव में उस में जगत के सृजन करने का सामर्थ्य कैसे हो सकता है? अतः शुभाशुभ कर्म का कर्त्ता जीव ही है और भोक्ता भी जीव ही है। इस बारे में आगम में भी कहा

है कि-"जीवे णं भंते किं अत्तकडे दुक्खे परकड़े दुक्खे उभयकडे दुक्खे? गोयमा! अत्तकड़े नो परकड़े तदुभयकड़े।" हे भगवान्! क्या जीव अपने किये हुए दुःखों को भोगता है या दूसरों के किये हुए या खुद के तथा दूसरों दोनों के किये हुए दुःखों का अनुभव करता है? हे गौतम! जीव अपने खुद के किये हुए दुःखों को ही भोगता है परन्तु दुसरों के किये हुए या दोनों के किये हुए दुःखों को नहीं भोगता है।" अतः जीव अपने किये हुए कर्मों को स्वयं ही भोगता है।

अपितु हे अग्निभूति! तेरे मन का संशय जैसे मैंने जान लिया है वैसे ही मैं ज्ञानावरणादिक आठे कर्मों को प्रत्यक्ष देखता हूँ, अतः तू कर्म को स्वीकार कर। जीव, कर्म आदि कोई भी वस्तु मुझ से अदृश नहीं है इसी प्रकार वेद में भी "पुण्यं पुण्येन कर्मणा, पापं पापेन कर्मणा" शुभ कर्म से पुण्य और अशुभ कर्म से पाप होता है इस प्रकार कहा गया है, अतः आगम (वेद) से भी कर्म की सिद्धि होती है इसलिये तू इसको स्वीकार कर।"

इस प्रकार भगवान के उपदेश से प्रतिबोध पाया हुआ अग्निभूति अपना गर्व छोड़ कर विचार करने लगा कि- "अहो! मैं बड़भागी हूँ कि-जिससे मुझे विश्व के पूज्य, गाढ़ अज्ञान के हरण करने में सूर्य समान तथा अनन्त गुणों से

युक्त गुरु प्राप्त हुए हैं।" ऐसा विचार कर आनन्द से पांच सो शिष्यों सहित छियालीस वर्ष की आयु में उसने (अग्निभूतिने) प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण की। फिर दस वर्ष तक छद्मस्थपन से विहार कर केवलज्ञान प्राप्त किया और सोलह वर्ष तक केवली पर्याय को भोग कर सिद्धपद को प्राप्त किया। (यहां कर्म सिद्धि पर कई युक्तिये हैं जो विस्तार की अपेक्षावाले श्रीजिनभद्रगणि क्षमाश्रमणद्वारा की हुई महाभाष्य की बड़ी वृत्ति में पढें)।

श्रीजिनेश्वर के वाक्य से कर्म विषयक संदेह का छेदन कर दूसरे गणधर अग्निभूतिने चारित्र ग्रहण कर त्रसादिक जीवों के लिये दयामय आगम की प्ररूपणा कर मुक्तिपद को प्राप्त किया।

इत्युपदेशप्रासादे चतुर्थस्तंभे षट्पञ्चाशत्तमं व्याख्यानम् ॥ ५६ ॥

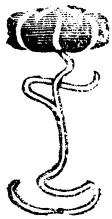

व्याख्यान ५७ वां

समकित का पांचवां तथा छट्ठा स्थानक

अभावे बन्धहेतूनां, घातिकर्मक्षयोद्भवे ।
केवले सति मोक्षः स्याच्छेषानां कर्मणां क्षये ॥१॥
सुरासुरनरेन्द्राणां, यत्सुखं भुवनत्रये ।
तत्स्यादनन्तभागोऽपि, न मोक्षसुखसंपदाम् ॥२॥
अनन्तसुखसंपूर्णं, निर्वाणपदमक्षयम् ।
नाधनन्तं प्रवाहेण, भाषितं विश्ववेत्तृभिः ॥ ३ ॥

भावार्थः—कर्म के बंध हेतुओं का अभाव होने और घातिकर्म के क्षय होने से केवलज्ञान होने पश्चात् शेष अघाति कर्म के क्षय होने पर मोक्षपद प्राप्त होता है। तीनों जगत के सुर, असुर और नरेन्द्रों को जो सुख है, उन सब सुखों को एकत्रित किया जाय तो वे मोक्षसुख की सम्पदा का अनन्तवां भाग भी नहीं हैं। विश्व के सर्व भाव को जानने-वाले जिनेश्वरोंने निर्वाण (मोक्ष) पद को अनन्त सुख से अनन्त कहा है। यह "निर्वाण है" इस नाम का पांचवा स्थानक समझना चाहिये।

अब छट्ठे मोक्षोपाय (मोक्ष का उपाय) नामक छट्ठे स्थानक का वर्णन किया जाता है।

ज्ञानादयस्त्रयः शास्त्रे, मोक्षोपायाः प्रकाशिताः ।
इति सम्यक्त्वरत्नस्य, षट्स्थानानि विचिन्तयेत् ॥

भावार्थः—शास्त्रों में ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये तीन मोक्षप्राप्ति के उपाय बतलाये गये हैं। इस प्रकार समकित-रूपी रत्न के छ स्थानों का चिन्तवन करना चाहिये। इस सम्बन्ध की पुष्टि में प्रभास गणधर का दृष्टान्त दिया जाता है।

प्रभासगणधर का प्रबन्ध

राजगृह नगर में बल नामक ब्राह्मण रहता था। जिस-को अतिभद्रा नामक स्त्री और प्रभास नामक पुत्र था। उस-के वेद, सांख्य, मीमांसा, न्याय, योगाचार आदि शास्त्रों में निपुण होने से अहंकार के मद से वह सम्पूर्ण जगत में अपने अतिरिक्त अन्य सबों को मूर्ख समझता था।

चम्पापुरी में सोम विप्र के यहां जब यज्ञ होने लगा तो उस में इन्द्रभूति आदि विद्वान गये हुए थे। वहां प्रभास भी गया। उस समय इन्द्रभूति आदि जो जो विप्र श्रीमहावीर-स्वामी के पास गये उन्होंने सिंह को देख कर मृग के सदृश अपने अहंकार का त्याग कर प्रभु के चरणरूप मानस सरो-वर में हंस बन कर रहना स्वीकार किया। यह सूचन लोगों के मुह से सुन कर प्रभास विचार करने लगा कि–"सच-मुच साक्षात् ईश्वर ही ऐसा रूप धारण कर अपने धाम से

हम को पवित्र करने के लिये यहां पधारे हों ऐसा जान पड़ता है, अन्यथा उनकी इतनी शक्ति नहीं हो सकती, अतः मैं स्वयं ही उनके पास जाकर उनकी विद्वत्ता, देहकांति और चतुराई आदि क्यों न देख आउं ? वहां जाने से मुझे तो दोनों प्रकार से लाभ है। प्रथम तो मेरी ज्ञाति के बड़े बड़े पंडित वहां गये हुए हैं, इसलिये मुझे पंक्ति भेद न रखा वहां जाना योग्य है और दूसरा कदाच किसी भी प्रकार की युक्ति से घुणाक्षर न्यायद्वारा मेरी विजय होजाय तो मुझे सर्व द्विजों में श्रेष्ठ पद मिलेगा। " इस प्रकार विचार कर वह प्रभास श्रीजिनेश्वर के पास पहुंचा। उसको देख कर प्रभुने कहा कि-" हे आयुष्यमान् प्रभास ! तेरी ऐसी धारणा है कि मोक्ष है भी या नहीं ? तुझे ऐसा संशय परस्पर विरुद्ध वेद वाक्यों के होने से हुआ है। वेद में कहा है कि-" जरामर्यं वा एतत्सर्वं यदग्निहोत्रं । तथा-सैष गुहा दुरवगाहा। तथा-द्वे ब्रह्मणी परमपरं च, तत्र परं सत्यज्ञानमनन्तरं ब्रह्मेति "। इन पदों का यह अर्थ करता है कि-अग्निहोत्र यावज्जीव करना चाहिये। यह अग्निहोत्र की क्रिया प्राणीवध के हेतुभूत होने से यह शबल अर्थात् पापव्यापाररूप है जिससे यह स्वर्ग फल ही देसकती है परन्तु मोक्षफल कदापि नहीं और इस पद में जो इसके यावज्जीव करने का कहा गया है इससे दूसरा ऐसा कोई समय शेष नहीं रहता कि-जिस में मोक्ष के हेतुभूत दूसरी

क्रिया की जा सके, अतः साधन के अभाव में साध्य (मोक्ष) का भी अभाव है ऐसा सिद्ध होता है। दूसरे वाक्य में–यह गुहा (मोक्षरूपी गुहा) संसार की आसक्तिवाले जीवों के लिये दुरवगाहा (दुःख से प्रवेश करानेवाली) है तथा ब्रह्म दो हैं। पर और अपर। उन में परब्रह्म सत्य (मोक्ष) और अपर ब्रह्म ज्ञान है। इस प्रकार वेद पदों का अर्थ कर तू ऐसा विचार करता है कि–प्रथम के वेद वाक्य से मोक्ष का नहीं होना सिद्ध होता है और दूसरे पदों से मोक्ष का होना सिद्ध होता है। इस प्रकार अर्थ करने से तुझे संशय हो गया है कि–इन वाक्यों में से किन वाक्यों को प्रमाण गिनना? परन्तु हे प्रभास! इन वेद पदों का अर्थ मैं बतलाता हूँ उस प्रकार करना चाहिये। अग्निहोत्र यावज्जीव करना चाहिये। इन में जो "वा" शब्द कहा गया है इससे यह समझना कि–मुमुक्षु पुरुषों को मोक्ष के साधनभूत क्रियानुष्ठान करना चाहिये। यह योग्य अर्थ है तथा हे सौम्य! तू जो ऐसा भी मानता है कि–जैसे दीपक बुझ जाता है वैसे ही जीव का भी निर्वाण हो जाता है। इस विषय में कई सौगते कहते हैं कि–

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपैति,
नैवावनीं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित्,
स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥ १ ॥

जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपैति,
नैवावनीं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित्,
क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥२॥

भावार्थः—जब दीपक निर्वृत्ति पाता है तब वह पृथ्वी पर किसी जगह नहीं जाता, आकाश में नहीं जाता, किसी दिशा में नहीं जाता, उसी प्रकार किसी विदेश में भी नहीं जाता परन्तु स्नेह (तैल) का नाश होने से केवल शांति को ही पाता है इसी प्रकार जब निर्वृत्ति पाता है तब वह पृथ्वी पर कहीं नहीं जाता, किसी दिशा में नहीं जाता, न विदेश में ही जाता है परन्तु क्लेश का (कर्म अथवा संसार का) क्षय होने से केवल शान्ति को ही पाता है ।

ऐसा मानना असत्य है क्योंकि जैनशासन में कहा है कि—

केवलसच्चिद्दर्शनरूपाः, सर्वार्त्तिदुःखपरिमुक्ताः ।
मोदन्ते मुक्तिर्गता जीवाः, क्षीणान्तरारिगणाः ॥१॥

भावार्थः—जिन के अभ्यन्तर शत्रुसमूह क्षीण हो गये हैं ऐसे जीव मुक्ति को प्राप्त करने पर सर्व आर्त्ति और दुःख से मुक्त होकर केवल सत्-चित्(ज्ञान)-दर्शनरूप में ही हर्ष पाते हैं ।

दीपक का उदाहरण जो सर्वथा नाशरूप से माना है वह योग्य नहीं। इसका यह कारण है कि–दीपक की अग्नि का सर्वथा नाश नहीं होता परन्तु वह अग्नि अन्य परिणाम पाती है। जैसे दूध का परिणाम दहीं आदि होता है उस प्रकार अथवा अन्य परिणाम पाकर चूर्णरूप हुए घट का जैसे सर्वथा नाश नहीं होता उसी प्रकार दीपक की अग्नि का भी सर्वथा नाश नहीं होता। यहां पर यदि किसी को यह शंका हो कि–यदि दीपक की अग्नि का सर्वथा नाश न हो तो उस अग्नि के बुझाने पर साक्षात् क्यों नहीं दिखाई देती? इसका यह उत्तर है कि–दीपक के बुझाने पर शीघ्र ही वह अग्नि अंधकार के पुद्गलरूप परिणाम को पाती है, अतः वह दिखाई नहीं देती क्योंकि वह अति सूक्ष्मतर परिणाम को प्राप्त कर लेती है। जैसे घट का अति सूक्ष्म चूर्ण होकर पृथ्वी के साथ मिलजाने पर बिलकुल दिखाई नहीं देता उस प्रकार अथवा जैसे आकाश में दिखाई देनेवाले श्याम बादल अन्य परिणाम पाकर अति सूक्ष्मतर हो जाने से दिखाई नहीं देते उसी प्रकार दीपक की अग्नि भी अन्य परिणाम पाने से दिखाई नहीं देती क्योंकि पुद्गल के परिणाम अति विचित्र है। जैसे यदि स्वर्ण के छोटे छोटे कतरे किये जाय तो वे चक्षु से देखें जासकते हैं परन्तु यदि उसको शुद्ध करने के लिये अग्नि में डाले जाय और उस स्वर्ण का रस होकर द्रुल जाने से भस्म में मिल जाय

तो वह चक्षु से दिखाई नहीं देसकता परन्तु स्पर्श से स्वर्ण का होना जाना जासकता है, उसका भी यदि अत्यन्त बारीक चूर्ण कर सूक्ष्म रज के साथ मिला दिया जाय तो वह कि़मत रहित व्यर्थ-सा हो जाता है परन्तु वास्तव में तो उस में स्वर्ण मौजुद ही है, नाश नहीं होता क्योंकि फिर यदि उसका विपरीत प्रयोग किया जाय तो वापस वह जैसे का तैसा स्वर्ण बन सकता है आदि अनेक प्रकार की विचित्रता पुद्गलों में रही हुई है जिसको अपनी बुद्धि से जाना जासकता है। दीपक के पुद्गल भी प्रथम चक्षु से ग्राह्य थे, उसके बुझाने पर वे शीघ्र ही अंधकारमय हो गये। फिर भी घ्राणेन्द्रिय (नासिका) द्वारा ग्रहण हो सकते हैं। जैसे दूसरे परिणाम को पाया हुआ दीपक निर्वाण शब्द से पुकारा जाता है उसी प्रकार जीव भी कर्म रहित होकर अकेला, मूर्ति रहित, सम्पूर्ण जीव स्वरूप की प्राप्तिरूप अव्याबाध परिणाम को पाने से निर्वाण-निवृत्ति पा गया ऐसा कहा जाता है।

यहां पर यदि किसी को शंका हो कि-शब्दादिक विषयों का उपभोग न होने तथा शरीर और इन्द्रियों के न होने से मोक्ष में भी सुख का अभाव ही होना चाहिये। उसका यह उत्तर है कि-मुक्ति पाये हुए जीवों को वचन से भी अगोचर अति उत्कृष्ट अकृत्रिम स्वाभाविक सुख है (यह अनुमान प्रमाण में प्रतिज्ञा-साधने लायक वाक्य है) प्रकर्ष ज्ञान के

होने से जन्म, जरा, व्याधि, मरण, अरति, चिन्ता और उत्कृष्टता आदि निःशेष (समग्र) बाधा से रहित है, अतः (यह हेतु है) इस प्रकार के उत्कृष्ट मुनि के सदृश (यह उदाहरण है) अब सांसारिक सुख की दुःखरूप से घटना करते हैं–इस संसार में पुष्पमाला, चन्दन, स्त्रीसंभोग आदि से उत्पन्न हुए सुख तथा चक्रवर्ती आदि की पदवी का पुण्य-फल का सुख निश्चय से देखा जाय तो दुःख ही है। (प्रतिज्ञा) वह सुख परिणाम में विनाशी होने से तथा उसी प्रकार वह सुख कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ होने से (हेतु) जैसे खुजालवाले प्राणी को खुजालने का सुख तथा रोगी मनुष्य को अपथ्य आहार का सुख परिणाम में दुःखरूप है (उदाहरण) सांसारिक सुख दुःखरूप ही है। कहा है कि–

नग्नः प्रेत इवाविष्टः, क्वणन्तीमुपगुह्य ताम् ।
गाढायासितसर्वांगः, कः सुधी रमते किल ॥१॥

भावार्थः—नग्न हो कर प्रेत से सताई हुई सदृश कामाविष्ट हो कर सीत्कार शब्द करती हुई स्त्री का आलिंगन कर सर्व अंगों को अत्यंत प्रयास करता पुरुष उसके साथ जो क्रीड़ा करता है वह क्रीड़ा कौन बुद्धिमान् करने को तैयार होगा ? क्योंकि उस में क्या सुख है ? अर्थात् कुछ नहीं। मात्र मोहाधीनपन से दुःख का अनुभव करता हुआ भी उसे सुख ही समझता है। अपितु कहा है कि—

भुक्ताः श्रियः सकलकामदुधास्ततः किं ? ।
संप्रीणिताः प्रणयिनः स्वधनैस्ततः किम् ? ।
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किं ?
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ? ॥२॥

भावार्थः—सकल मनोरथ के पूर्ण करनेवाली लक्ष्मी का कभी उपयोग किया तो क्या ? अपने धनद्वारा प्रेमी जनों को प्रसन्न किया तो क्या ? शत्रु के मस्तक पर पैर रक्खा तो क्या ? और इसी ही देहद्वारा कदाच प्रलयकाल पर्यन्त रहा (जीवित रहा) तो क्या ? क्योंकि परिणाम में तो इन सब का निष्फल और अविनाशी होना निश्चय ही है ।

इत्थं न किंचिदपि साधनसाध्यजातं,
स्वप्नेन्द्रजालसदृशं परमार्थशून्यम् ।
अत्यन्तनिर्वृतिकरं यदपेतबाधं,
तद्ब्रह्म वाञ्छत जना यदि चेतनास्ति ॥३॥

भावार्थः—इस प्रकार परमार्थ रहित और इन्द्रजाल के सदृश सुख भोग कर यदि किसी भी साधन से साध्य की सिद्धि नहीं हुई तो यह सब व्यर्थ है, अतः हे भव्य जीवों ! यदि तुम्हारे में चेतना (बुद्धि) हो तो अत्यन्त निवृत्ति करनार और बाधा रहित ब्रह्म (मोक्ष) की वांछा करो ।

इस लिये संसार के सर्व सुख तत्त्वतः दुःखरूप ही है। महाभाष्य में भी इस विषय में कहा है कि—

विसयसुहं दुक्कं चिय,
दुरकपडियारओ तिगीच्छंव ।
तं सुहमुवयाराओ,
न य उवयारो विणा तत्थ ॥ १ ॥

भावार्थः—मात्र दुःख के प्रतिकाररूप ही होने से विषय सुख दुःखरूप ही है। कोढ़, अन्तर्गल, आदि व्याधियें जैसे क्काथपान, छेदन, डंभन आदि चिकित्सा करने से मिटती है अर्थात् दुःखरूप प्रतिकार से मिटती है उसी प्रकार विषय सुख भी मात्र क्षुधा, तृषा, कामविकारादि दुःखों के प्रतिकार-रूप होने से ये दुःख ही है तिसपर भी लोक में वे सुख के नाम से ही पुकारे जाते हैं, परन्तु ऐसा उपचार पारमार्थिक सुख बिना किसी भी स्थान पर घटित नहीं होता। जैसे किसी पुरुष को सिंह आदि नाम से पुकारा जाय तो लोक-रूढीद्वारा वह उस नाम से जरुर जाना जासकता हैं परन्तु इससे उस सिंह का शब्द सुनने पर लोगों को भयादिक उत्पन्न नहीं होता इसी प्रकार विषय सुख भी वास्तविक सुख पैदा करनेवाले नहीं हैं, मात्र उनका नाम ही सुख है, सुख शब्द से वे जाने जाते हैं। पारमार्थिक सुख तो एक मोक्ष ही में

है, उस सुख को कोई उपमा नहीं दी जासकती (निरुपम है) तथा वह सुख प्रतिकार रहित सत्य ही है ।

अपितु हे प्रभास ! वेद में भी संसार और मोक्ष का स्वरूप बतलाया गया है। वह इस प्रकार है "न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति ! अशरीरं वा वसंतं प्रियाप्रिये न स्पृश्यत इति" न यह अव्यय निषेध के लिये है। ह और वै ये दोनों भी अव्यय हैं इसका अर्थ इस प्रकार होता है। शरीर के साथ रहे वह स शरीरी जीव। उस (जीव) को प्रिय अप्रिय अर्थात् दुःख सुख की अपहति अर्थात् उसका विनाश नहीं (अर्थात् शरीर के साथ रहा हुआ जीव सुख दुःख प्राप्त करता है) और शरीर रहित अर्थात् मुक्ति की अवस्था में रहे हुए को (लोकाग्र में रहे हुए को) वे प्रिय तथा अप्रिय (सुख दुःख) स्पर्श नहीं करते। (मोक्ष में प्रियाप्रिय नहीं अर्थात् वहां आत्मा स्वस्वरूप में ही रहती है)। यहां यदि कोई प्रश्न करे कि–वह मोक्ष सुख कैसे प्राप्त हो ? तो इसका यह उत्तर है कि–ज्ञान, दर्शन और चारित्र बिना अन्य किसी से भी उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इस विषय में दर्शनसप्ततिका में कहा है कि—

सम्मत्तनाणचरण–संपुन्नो मोक्खसाहणोवाओ।
ता इह जुत्तो जत्ता, ससत्तिओ नायतत्ताणं ॥१॥

भावार्थः—सम्यक्त्व, ज्ञान और संयम को संपूर्णतया प्राप्त करना ही मोक्ष साधन का उपाय है। यह उपाय इस नर भव में ही साध्य है क्योंकि तत्त्व के ज्ञाता पुरुष स्वशक्ति-द्वारा इसको यहां ही प्राप्त करते हैं।

ये धर्मशीला मुनयः
प्रधानास्ते दुःखहीना नियमे भवन्ति।
संप्राप्य शीघ्रं परमार्थतत्त्वं,
व्रजन्ति मोक्षं त्विदमेकमेव ॥ १ ॥

भावार्थः—जो धर्मशील (धर्म के प्रतिपालन करने-वाले) प्रधान मुनि होते हैं वे ही निश्चय दुःख रहित होते हैं, वे शीघ्रतया ही परमार्थ तत्त्व को प्राप्त कर एक चिद्रूप मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

इत्यादि भगवान के मुंह से युक्त वचन सुन कर प्रसन्न हुए प्रभासने अपना संशय दूर होने से अपने तीनसो शिष्यों सहित भगवान के पास दीक्षा ग्रहण की। उसने सोलह वर्ष के गृहस्थपर्याय का त्याग कर सर्वविरति अंगीकार की। फिर आठ वर्ष तक छद्मस्थ पर्याय पाल कर आवरण रहित अव्याबाध केवलज्ञान प्राप्त किया। केवली अवस्था में सोलह वर्ष विचरण कर अनेक भव्य जीवों को प्रतिबोध कर जिस सुख के लिये उद्योग किया था वह मोक्ष सुख प्राप्त किया। (इसी प्रकार संक्षेप से सर्व गणधरों का वर्णन समझना)

परिनिव्वुआ गणहरा, जीवंते णायए नवजणाओ।
इंदभूति सुहम्मो ए, रायगिहे निव्वुए वीरे ॥१॥

भावार्थः--नो गणधरों ने महावीरस्वामी की हयाती में निवृत्ति पद प्राप्त किया और इन्द्रभूति तथा सुंधर्मास्वामी ने राजगृह नगरी में वीरभगवान के निर्वाण बाद मोक्षपद प्राप्त किया (इस प्रकार आवश्यक निर्युक्ति में कहा है)।

मासं पाउवगया सव्वे वि य सव्वलद्धिसंपन्ना।
वज्जरिसहसंघयणा समचउरंसा य संठाणा ॥२॥

भावार्थः--सर्व गणधर सर्व लब्धि से युक्त, वज्रऋषभ-नाराच संघयणवाले, समचतुरस्र संस्थानवाले, और अन्त में एक मास का पादपोपगम अनशन कर मोक्षे सुख को प्राप्त करनेवाले हुए।

बाल्यावस्था (सोलह वर्ष की वय) में ही चारित्र ग्रहण कर प्रभु के पहले ही निवृत्ति सुख पानेवाले मुनिश्रेष्ठ प्रभास गणधर हमारे प्रभूत (अत्यन्त) उदय के लिये हो।

इत्युपदेशप्रासादे चतुर्थस्तंभे सप्तपञ्चाशत्तमं
व्याख्यानम् ॥ ५७ ॥

॥ सम्यक्त्व के सडसठ भेद का विवरण संपूर्ण ॥

व्याख्यान ५८ वां

समकित के कई अन्य प्रकार

सम्यक्त्वं चैकधा जीवे, तत्त्वश्रद्धानतो भवेत् ।
निश्चयव्यवहाराभ्यां, दर्शनं द्विविधं मतम् ॥१॥

भावार्थः--तत्त्व श्रद्धानरूप जीव के लिये एक प्रकार का समकित और निश्चय तथा व्यवहारद्वारा समकित दो प्रकार का माना गया है ।

पिछले व्याख्यानों में बताये हुए समकित के ६७ भेदों में से ६१ भेद व्यवहार समकित के अन्तर्गत आते है और अन्तिम छ भेद निश्चय समकित के अन्तर्गत आते हैं ।

समकित पांच प्रकार का है—

आदावौपशमिकं च, सास्वादनमथापरम् ।
क्षायोपशमिकं वेद्यं, क्षायिकं चेति पञ्चधा ॥१॥

भावार्थः--प्रथम औपशमिक, दूसरा सास्वादन, तीसरा क्षायोपशमिक, चोथा वेद्य (वेदक) और पांचवा क्षायिक । इस प्रकार पांच तरह का समकित है ।

१ औपशमिक समकित-जिसकी कर्मग्रंथी भेदी हुई है (ग्रंथीभेद किया हुआ है) ऐसे शरीर (मनुष्य) को सम्य-

क्त्व का प्रथम लाभ होते समय प्रथम अंतर्मुहूर्त में होता है। अथवा उपशम श्रेणी पर चढ़े हुए उपशांतमोही को मोह के उपशम से उत्पन्न हुआ वह भी औपशमिक समकित कहलाता है। वह भी अंतर्मुहूर्त में ही रहता है।

२ समकित के प्राप्त होने पर तत्काल अनंतानुबंधी कषाय के उदय से समकित का वमन करते उस समकित के रस का लेशमात्र आस्वाद प्राप्त होता है। यह दूसरा सास्वादन नामक समकित कहलाता है। यह समकित जघन्य से एक समय तक और उत्कृष्ट से छ आवलिका तक रहता है।

३ मिथ्यात्व मोहनीय के उदय में कई का क्षय और कई का उपशम करने से जो सम्यक्त्व गुण प्राप्त हो, वह क्षायोपशमिक समकित कहलाता है।

४ क्षपकश्रेणी पर चढ़े हुए देही को अनंतानुबंधी चार कषाय का क्षय होने पर मिथ्यात्व मोहनी और मिश्रमोहनी का ठीक तरह से परिपूर्ण क्षय होने पर सम्यक्त्व मोहनी के अन्तिम अंश को भोगते समय क्षायिक समकित के सन्मुख होनेवाला वेदक समकित होता है।

५ समकित मोहनी, मिश्रमोहनी और मिथ्यात्व मोहनी तथा अनंतानुबंधी चार कषाय। इन सात प्रकृति का क्षय

होने से जीव को तत्त्वश्रद्धा होती है वह पांचवा क्षायिक समकित है ।

यह समकित गुण से तीन प्रकार का भी है–रोचक, दीपक और कारक । इन में से सिद्धान्त के विषय में कहे हुए तत्त्वों उपर हेतु तथा उदाहरण बिना जो दृढ़ आस्था हो, वह रोचक समकित कहलाता है । इस समकित पर निम्नस्थ कृष्ण अर्धचक्री का प्रबन्ध प्रसिद्ध है—

कृष्ण वासुदेव का प्रबन्ध

द्वारका नगरी में एक बार वर्षाऋतु में श्रीनेमिनाथ भगवंत समवसर्या । उनको वन्दना कर श्रीकृष्णने पूछा कि–हे स्वामी ! मुनि वर्षाऋतु में विहार क्यों नहीं करते ? प्रभुने उत्तर दिया कि–हे कृष्ण ! वर्षाऋतु में पृथ्वी अनेकों जीवों से व्याप्त होती है, अतः उस समय विहार करने से उन जीवों का रक्षण नहीं हो सकता इस लिये मुनि विहार नहीं करते हैं । यह सुन कर कृष्ण ने भी चार मास तक अंतःपुर में रहने का निश्चय किया क्योंकि राजसभा में जाने से अनेकों सभासदों को आना पड़े जिससे घोड़ागाड़ि आदि के आनेजाने से अनेकों जीवों का मर्दन हो ।

उस नगरी में एक वीरक नामक सालवी रहता था जो कृष्ण का भक्त था । उसको कृष्ण का दर्शन कर भोजन करने का नियम था । अतः जब कृष्ण चार महिने तक,

अंतःपुर में रहे तो उनके दर्शन नहीं होने से वह वीरक सदैव वहां आ राजद्वार की पुष्पादिक से पूजा कर चला जाता, परन्तु भोजन नहीं करता, वस्त्र नहीं बदलता, हजामत नहीं बनवाता और नख भी नहीं कटाता था। ऐसा उसने चार महिने तक किया। वर्षाकाल के व्यतीत हो जाने पर जब कृष्ण अंतःपुर के बाहर आये तो वीरकने आ कर नमन किया। उसको देख कर राजाने पूछा कि–हे वीरक! तू ऐसा कृश क्यों दिखाई देता है? यह सुन कर प्रतीहार ने कहा कि–हे स्वामी! आप के दर्शन अब तक नहीं होने से भोजन आदि नहीं किया, इससे यह इतना दुर्बल हो गया है। यह सुन कर कृष्ण उस पर तुष्टमान हुए और उन्होंने वीरक को जहां वे हो वहां आने की छूट दी। फिर वे नेमिनाथ को वंदना करने को गये, वहां भगवान के मुंह से धर्मोपदेश सुन कर कृष्णने कहा कि–हे प्रभु! भागवती दीक्षा या अन्य व्रत ग्रहण करने में तो मैं समर्थ नहीं हूँ तिस पर भी मैं इतना नियम करता हूँ कि–जो कोई दीक्षा लेने को तैयार होगा उसका मैं महोत्सव करुंगा। इस प्रकार अभिग्रह लेकर कृष्ण वासुदेव अपने घर को गये।

एक बार विवाह के योग्य वय को पहुंची हुई उसकी कन्यायें कृष्ण को प्रणाम करने आई तो वासुदेवने पुत्रियों से पूछा कि–हे पुत्रियों! तुम रानियें होना चाहती हो या

दासी बनना ? तुम्हारे मन का जो मनोरथ हो बतलाओ। इस पर उन कन्याओंने उत्तर दिया कि-हे पिता ! आप के प्रसाद से हम रानियें बनना चाहती हैं। यह सुन कर कृष्णने कहा कि-हे पुत्रियों ! यदि तुम्हारी यह ही इच्छा हो तो श्रीनेमिनाथ के पास जाकर दीक्षा ग्रहण करो। यह सुन कर उन सब कन्याओंने प्रभु के पास जाकर चारित्र ग्रहण किया। एक बार एक रानीने अपनी पुत्री को सिखाया कि-जब तू तेरे पिता के पास प्रणाम करने को जाय तब यदि वह तुझे रानी या दासी होने के लिये पूछे तो तू जवाब देना कि-मैं दासी होना चाहती हूँ। बाद में जब वह कन्या प्रणाम करने गई तो कृष्णने उस पुत्री को पूछा तो उसने अपने माता के सिखाये अनुसार उत्तर दिया। यह सुन कर कृष्णने विचार किया कि-इस पुत्री की तरह अन्य पुत्रीयें भी संसार में पड़ेगी, अतः यदि मैं इसको सचमुच दासी ही बनादूँ तो फिर दूसरी पुत्रियें संसार में नहीं पड़ेगी। ऐसा विचार कर उसने ऐकान्त में वीरक सालवी से पूछा कि-हे वीरक ! यदि तूने पहले किसी भी समय कोई अद्भुत कार्य किया हो तो बतला। वीरकने उत्तर दिया कि-हे स्वामी ! मैंने कोई ऐसा अद्भुत कार्य तो नहीं किया परन्तु एक बार मैं शरीर चिन्ता करने को गया था तो वहां मैंने एक बैर के वृक्ष के सब से ऊँचे सिरे पर बैठे हुए एक सर्प को एक ही पत्थर से मार कर पृथ्वी पर गिरा दिया था। तथा वर्षाऋतु में

गाड़ी के पहिये के चीले में भरे हुए पानी को मैंने अपने बांये पैर से रोक दिया था और पैर के वापस हटा लेने पर उसका प्रवाह नदी के सदृश चलने लगा था तथा एक बार पानी के वर्तन में मक्खियें गुंजार कर रही थी उनको मैंने उस वर्तन के मुंह पर हाथ रख रोक दी थी। इस प्रकार कृष्ण कुछ हंसी उड़ाते सभा में गये। वहां सर्व सभासदो के समक्ष उन्होंने कहा कि-हे सभासदो ! वीरक सालवी का पराक्रम अति अद्भुत हैं तथा उसका कुल भी ऊँचा है। सुनो--

येन रक्तस्फटो नागो, निवसन् बदरीवने ।
पातितः क्षितौ शस्त्रेण, क्षत्रियः सैष वै महान् ॥१॥
येन चक्रकृता गंगा, वहन्ती कलुषोदकम् ।
धारिता वामपादेन, क्षत्रियः सैष वै महान् ॥२॥
येन घोषवती सेना, वसन्ती कलशीपुरे ।
धारिता वामहस्तेन, क्षत्रियः सैष वै महान् ॥३॥

भावार्थः—बद्रिका वन में रहनेवाले रक्तफणवाले नाग को जिसने शस्त्रद्वारा मार कर पृथ्वी पर गिरा दिया वह यह वीरक महाक्षत्रिय है। अपितु जिसने चक्र से बनाई हुई गंगा नदी को जो कि-मेला पानी बहा रही थी, बायें पैर से रोक दिया वह यह वीरक महाक्षत्रिय है, तथा कलशी-

पुर में (कलशा में) रहनेवाली और घोष (शब्द) करती हुई सेना को जिसने एक बांये हाथ से ही रुंध दिया वह यह वीरक सचमुच महाक्षत्रिय है। इस लिये यह मेरी केतु-मंजरी नामक पुत्री के लिये योग्य वर है। ऐसा कह कर कृष्णने उस वीरक के साथ उसकी इच्छा नहीं होने पर भी केतुमंजरी का विवाह कर दिया। वीरकने भी कृष्ण के भय से उसके साथ विवाह कर उसको अपने घेर लेजा उसकी दास के समान सेवा करने लगा। कई दिन व्यतीत हो जाने पर एक दिन कृष्णने वीरक से पूछा कि–मेरी पुत्री तेरी आज्ञा का पालन करती है या नहीं? वीरकने उत्तर दिया कि–हे राजा! मैं ही आप की पुत्री के आज्ञानुसार चलता हूँ। यह सुन कर कृष्णने कृत्रिम क्रोध कर उसको बहुत धिक्कारा, अतः उस वीरकने घर जाकर उसने कहा कि–हे स्त्री! तू क्यों बैठी हुई है? खेड़ तैयार कर, घर में से कचरा बहार निकाल, पानी भर कर ला और जल्दी रसोई तैयार कर। इस प्रकार कभी भी नहीं सुने हुए शब्द सुन कर उसने कहा कि–हे स्वामी! मैं इन में से कोई भी काम नहीं जानती। यह सुन कर वीरकने रस्से से उसको खूब पीटा जिससे वह रोती रोती उसके पिता के पास गई और उससे सारी बात निवेदन की। इस पर उसने उत्तर दिया कि–तूने दासीपन मांगा था, अतः मैंने तुझे दासीपन दिया है। उसने उत्तर दिया कि–हे पिता! अब मैं उसके घर नहीं जाउंगी परन्तु

आप के प्रसाद से रानी बनुंगी। इस पर कृष्ण ने वीरक सालवी से आज्ञा लेकर उसको प्रव्रज्या ग्रहण कराई। इस प्रकार कृष्णने कई जीवों को दीक्षा दिलाई परन्तु स्वयं अप्रत्याख्यानी कषाय के उदय से व्रतादि ग्रहण न कर सके। एक बार श्रीनेमिनाथ जिनेश्वर रैवतकगिरि पर समवसर्ये तो कृष्ण अपने परिवार सहित प्रभु को वंदना करने को गया। वहां अढारह हजार साधुओं को उसने द्वादशावर्त वंदन द्वारा वंदना की। अन्य राजा तो थक जाने से थोड़े थोड़े साधुओं को वंदना कर ठहर गये परन्तु वीरक सालवीने कृष्ण के साथ साथ अन्त तक सर्व मुनियों को द्रव्य वन्दना की। अन्त में वंदना के परिश्रम के कारण कृष्ण के गात्र पसिने से आर्द्र हो गये। सर्व मुनियों को वन्दना कर कृष्णने प्रभु के पास जाकर कहा कि-हे भगवंत! तीन सो साठ युद्ध करते हुए भी मुझे इतना श्रम नहीं हुआ। इस पर भगवानने कहा कि-हे कृष्ण! तुमको आज बहुत लाभ हुआ है। तुमने आज सात कर्म प्रकृति का नाश कर क्षायिक समकित उपार्जन किया हैं तथा आनेवाली चोवीसी में पहले से गिनते हुए बारहवा और अन्त से गिनते तेरवें अमम नामक तीर्थंकर होने का कर्म उपार्जन किया है तथा सातवी नरक का जो आयुष्य बांधा था वह तीसरी नरक का हो गया है। यह सुन कर कृष्णने कहा कि-हे भगवंत! फिर

से सर्व मुनियों को वन्दना कर तीन नरक का आयुष्य भी तोड़ डालूं। जिनेश्वरने उत्तर दिया कि-हे कृष्ण! उस समय जो तुम्हारा तद्दन निःस्पृह भाव था वह अब जाता रहा है, अतः फिर वन्दना करने से वह लाभ नहीं मिल-सकता परन्तु जगत के सर्व उत्तम पदार्थ तुझे प्राप्त है इस-लिये अब उनसे अधिक क्या चाहता है? अपितु तीसरे नरक का आयुष्य तो निदान (नियाणुं) कर बांधे हुए वासुदेव-पन के साथ ही है इसलिये उसका अभाव तो हो ही नहीं सकता। कहा भी है कि-"अनियाणकडा रामा" आदि बलदेव नियाणुं किये बिना होते हैं और वासुदेव तो नियाणुं करने से ही होते हैं। वे कम से कम तीसरा नरक में तो अवश्य जाते ही हैं, अतः तेरा तीसरे नरक का आयुष्य छूटना असंभव है। ऐसा प्रभु के मुंह से सुन कर प्रभु के वचनों को सत्य मान कृष्ण अपने घर चला गया।

यहां पर यदि किसी को शंका हो कि-तीसरे नरक का उत्कृष्ट आयुष्य सात सागरोपम का बतलाया है और नेमि-नाथ से लगा कर आनेवाली चोवीशी में बारहवें अमम जिनेश्वर हों तब तक तो अड़तालीस सागरोपम का समय होता है। तो फिर सात सागरोपमवाले एक भव में उतना समय कैसे व्यतीत हो कि-जिससे कृष्ण नरक से निकल कर तीर्थंकर बन सके? इसका यह उत्तर है कि-श्रीहेमचन्द्र-

सूरिकृत नेमिनाथ चरित्र में श्रीकृष्ण के पांच भव बतलाये गये हैं। तत्त्व तो केवली ही जानते हैं। तथा वसुदेवहिंडि नामक ग्रन्थ में ऐसा कहा है कि–कृष्ण तीसरा नरक से निकल कर भरतक्षेत्र में शतद्वार नगर का मांडलिक राजा हो दीक्षा ग्रहण कर, तीर्थंकरनामकर्म उपार्जन कर वैमानिक देवता हो वहां से चव कर, बारहवां अमम नामक तीर्थंकर होगा। इस प्रकार श्रीकृष्ण वासुदेव शुद्ध श्रद्धा गुण से भव का पार पायेंगे।

यह रोचक गुण (समकित) श्रेणिक राजा आदि को भी तीर्थंकरादि पद देनेवाला प्रसिद्ध है।

पृथ्वी पर देवता तथा मनुष्य जिन के गुणों का वर्णन करते हैं वे कृष्ण त्रिकरण शुद्धि से श्रीजैनशासन में भक्ति-वाले हुए हैं।

इत्युपदेशप्रासादे चतुर्थस्तंभेऽष्टपञ्चाशत्तमं
व्याख्यानम् ॥ ५८ ॥

व्याख्यान ५९ वां

कारक समकित

तथा कार्यं गुरोर्वाक्यं, यथा प्रवचनाच्छ्रुतम् ।
तपोव्रतादिकं सर्वं, सेवनात् कारको मतः ॥१॥

भावार्थः—इस प्रकार प्रवचन (सिद्धान्त) से सुना हो उसी प्रकार गुरु के वचनों को अंगीकार कर तप, व्रत आदि सर्व आचरण करना चाहिये। ऐसा करना कारक समकित कहलाता है। इस सम्बन्ध में नीचे लिखी काकजंघ और कोकाश की कथा प्रसिद्ध है—

काकजंघ और कोकाश की कथा

सोपारक नगर में विक्रम नामक राजा था। उसी नगर में सोमिल नामक एक रथकार (सुथार) रहता था। वह सब रथकारों का अग्रेसर (अगुआ) था। उसके देविल नामक पुत्र था तथा उसी सोमिल की दासी के ब्राह्मण से उत्पन्न हुआ कोकाश नामक पुत्र था। वह सोमिल अपने पुत्र देविल को सदैव बड़े प्रयास से अपनी विद्या सिखाया करता था। कहा हैं कि—

पितृभिस्ताडितः पुत्रः, शिष्यश्च गुरुशिक्षितः ।
घनाहतं सुवर्णं च, जायते जनमण्डनम् ॥१॥

भावार्थः—मा बाप से ताड़न किया हुआ पुत्र, गुरु से शिक्षा पाया हुआ शिष्य और घण से पीटा हुआ स्वर्ण ये तीनों लोक में शोभा पाते हैं ।

सोमिल अपने पुत्र को अत्यन्त परिश्रम कर पढाता था, परन्तु उसको कुछ भी नहीं आया और दासीपुत्र कोकाश उसका दास होने से उसके पास बैठा रहता था वह मौनपूर्वक ही सर्व कलाओं को सुनने मात्र से सीख गया तथा गुरु (सोमिल) से भी अधिक कुशल हो गया । कुछ समय पश्चात् सोमिल रथकार के मरने पर उसके स्थान पर उसके पुत्र देविल के मूर्ख होने से कोकाश को ही राजाने स्थापन किया । कहा भी है कि—

दासेरोऽपि गृहस्वाम्यमुच्चैः काममवाप्तवान् ।
गृहस्वाम्यपि दासेरमहो प्राच्यशुभाशुभे ॥ १ ॥

भावार्थः—कोकाश ने दासीपुत्र होने पर भी महान गृहस्वामीपन को प्राप्त किया और देविलने गृहस्वामी होते हुए भी दास का आधीनपन प्राप्त किया । अहो ! पूर्व के शुभाशुभ कर्म कैसे विचित्र हैं ?

बाद में कोकाश ने गुरु के मुंह से धर्मदेशना सुन कर जैनधर्म अंगीकार किया और उसका दृढ़ चित्त से आराधन करने लगा ।

मालवदेश में उज्जयिनी नगरी में विचारधवल नामक राजा था जिसके पास चार रत्न थे। उन में एक सूपकार रत्न (रसोइया) था जो खानेवाले की इच्छानुसार भोजन बनाता था तथा भोजन करने के पश्चात् उसी क्षण (तुरन्त ही), क्षणभर पश्चात् अथवा एक पहर, अथवा एक दिन, अथवा एक पक्ष, अथवा एक मास, अथवा एक वर्ष पश्चात् जब भूख लगने की इच्छा हो उसी समय भूख लगें परन्तु इससे पहिले या पश्चात् भूख नहीं लगती ऐसी रसोई व रसवती बनाता था। दूसरा रत्न शय्यापाल था। वह शय्या को ऐसी बिछाता कि-सोनेवाला के इच्छा घड़ी में, पहर में या जब जागृत होने की हो तब उसी क्षण वह सोनेवाला बिना किसी की प्रेरणा के जागृत हो जाता था। तीसरा नररत्न अंगमर्दक था। वह एक सेर तैल से लगा कर पांच सेर, दस सेर तक तैल का अंग में मर्दन कर समाता था और फिर जितना तैल समाता उतना ही वापस निकाल लेता था परन्तु समाते या निकालते समय शरीर में किंचित्मात्र भी कष्ट नहीं होने देता था। चोथा नररत्न भांडागारिक (भंडारी) था। वह भंडार इस प्रकार बनाता था कि-उस-में रक्खा हुआ धन उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी देख या ले नहीं सकता था, उसी प्रकार उस भंडार को न तो कोई खोद सकता था न उस में अग्नि ही लगा सकता था। इन चार रत्नों से चिन्तित कार्य करता हुआ विचारधवल राजा

अत्यन्त सुख में काल निर्गमन किया करता था। एक बार उसका चित्त संसार से वैराग्य पाया, अतः वह दीक्षा लेने को तैयार हुआ परन्तु उसके कोई पुत्र नहीं होने से वह किसी गोत्री को अपना राज्य दे दीक्षा ग्रहण करने का विचार करता था।

उस समय पाटलीपुत्र के राजा जितशत्रुने इन चार रत्नों को लेने की इच्छा से विचारधवल की राजधानी उज्जेयिनी नगरी को अकस्मात घेर लिया। उस समय काकतालीय न्याय से विचारधवल राजाने शूल के महारोग से कष्ट पा समाधिद्वारा मृत्यु प्राप्त की। महाशूल आदि व्याधियें बहुधा मृत्युपुरुष नाटक की नांदी समान है। कहा है कि–

शूल विस अहि विसूइअ,
पाणि अ सत्थग्गि संभमेहिं च ।
देहंतरसंकमणं,
करेइ जीवो मुहुत्तेण ॥ १ ॥

भावार्थः—शूलरोग से, विषभक्षण से, सर्पदंश से, विसूचिका से, जल में डूबने से, शस्त्र की चोट से और अग्नि के उपद्रव से तथा ससंभ्रम से जीव एक ही मुहूर्त मात्र में दूसरे देह के अन्दर संक्रमण करता है अर्थात् मर कर दूसरा देह धारण करता है।

विचारधवल राजा के मरजाने से उसके मंत्रियोने बिना नायक सैन्य को व्यर्थ जान कर जितशत्रु राजा को ही भेट के अनुसार पुरी सौंपदी, अतः जितशत्रु राजा वह राज्य भी भोगने लगा। फिर उसने उन चारों नररत्नों की परीक्षा की तो जैसा उसने सुना था वैसा ही उन रत्नों को पाया। एक बार राजाने अंगमर्दक रत्न से अंगमर्दन करा कर फिर उस में से समग्र तेल वापस निकालते समय अंगमर्दक को आज्ञा देकर अपनी एक जंघा में पांच कर्ष जितना तैल बाकी रखाया। फिर सभा में जाकर कहा कि--यदि किसी अन्य अंगमर्दक को अभिमान हो तो उसको मेरी जंघा में से बचा हुआ तैल निकाल कर बताना चाहिये। यह सुन कर अन्य अंगमर्दकोंने अनेकों उपाय किये परन्तु वे एक बिन्दु भी नहीं निकाल सके, अतः वे लज्जित हो चले गये। दूसरे दिन अंगमर्दक रत्न को राजाने जंघा का तैल निकालने की आज्ञा दी परन्तु अंगमर्दक रत्न दूसरे दिन तैल न निकाल सका। क्योंकि-उसकी शक्ति उसी दिन तैल निकालने की थी। राजा की जंघा में रहा हुआ तैल जैसे कुए की छाया कुए में ही रहती है उस प्रकार उसी जगह स्थित हो गया उससे उसकी जंघा कौऐं के वर्ण सदृश श्याम वर्ण की हो गई। तब से ही उसका नाम काकजंघ प्रसिद्ध हो गया। राजा जैसे होते है लोग ऐसे उपनाम रख देते हैं क्योंकि जगत के मुंह पर कपड़ा नहीं बांध सकते अपितु अच्छे उपनाम बुरे उप-

नामों के सदृश प्रसिद्ध नहीं होते। देखो माषतुष, कुरगडूक, सावद्याचार्य, रावण आदि नाम जैसे प्रसिद्ध हुए है वैसे अच्छे नाम नहीं।

एक बार कोकण देश में निर्धन लोगों का संहार (नाश) करने में महाराक्षस सदृश बड़ा दुष्काल पड़ा जिससे धनिक लोग भी निर्धन समान हो गये और राजा भी रंक सदृश हो गये। कहा है कि—

मानं मुञ्चति गौरवं परिहरत्यायाति दीनात्मताम्,
लज्जामुत्सृजति श्रयत्यदयतां नीचत्वमालंबते।
भार्याबन्धुसुतासुतेष्वपकृतीर्नानाविधाश्चेष्टते,
किं किं यन्न करोति निन्दितमपि प्राणी क्षुधापीडितः

भावार्थः—दुष्काल में क्षुधा से पीड़ा पाये हुए लोग मान का त्याग कर देते हैं, गौरव (उच्चपन) को छोड़ देते हैं, दीनता धारण कर लेते हैं, लज्जा का त्याग कर देते हैं, निर्दयता का आश्रय लेते हैं, नीचपन का अवलंबन करते हैं, भार्या, बंधु, पुत्र और पुत्री के विषय में अनेक प्रकार के अपकार करने की चेष्टा करते हैं अर्थात् उनके दुःख की परवाह नहीं करते। तथा क्षुधापीड़ित मनुष्य दूसरे भी कौन कौन से निन्दित कार्य नहीं करते? सर्व करते हैं।

ऐसे भयंकर दुष्काल के समय में कोकाश अपने कुटुम्ब

का निर्वाह नहीं हो सकने से स्वदेश छोड़ कुटुम्ब सहित उज्जयिनी नगरी में आ पहुंचा। वहां बिना किसी की सहायता के कोई राजा से नहीं मिल सकता था, अतः विचार कर अन्त में उस कोकाशने काष्ठ के कई कपोत बनाये। उन में कारिगीरी से ऐसी किलिये लगाई थी कि–वे कपोत उड़ कर राज्य के धान्य के कोठार में जा जीवित कपोत सदृश चोंचद्वारा चावल, दाल आदि हरेक प्रकार का अनाज अपने काष्ठ शरीर में जितना समासके उतना भर कर पीछे कोकाश के पास लौट आते थे। फिर उन में से वह अनाज निकाल उन से कोकाश अपने कुटुम्ब का भरणपोषण किया करता था। एक बार धान्य के रक्षकोंने सच्चे कपोतों समान अनाज से भरे हुए उन काष्ठ कपोतरूप चोरों को धान्य के कोठार से निकलते हुए देखलिया। इस से आश्चर्यचकित हो वे रक्षक उन कपोतों की खोज करने को उन के पीछे पीछे गये तो उन कपोतों को कोकाश के घर में प्रवेश करते देखा। इसलिये वे कोकाश को पकड़ कर राजा के पास ले गये। राजा के पूछने पर उसने सब वृत्तान्त सचसच कह सुनाया। कहा है कि—

सत्यं मित्रैः प्रियं स्त्रीभिरलीकं मधुरं द्विषा ।
अनुकूलं च सत्यं च, वक्तव्यं स्वामिना सह ॥१॥

भावार्थः--मित्र के पास सत्य बोलना, स्त्री के पास

प्रिय बोलना, शत्रु के पास असत्य भी मधुर बोलना और राजा के पास अनुकूल एवं सत्य वचन बोलना चाहिये।

उसकी कलाकुशलता देख कर राजाने हर्षित होकर उससे पूछा कि–तू दूसरी कौन कौन सी कला जानता है? कोकाशने उत्तर दिया कि–हे स्वामी! रथकार की मैं सर्व कला जानता हूँ। अपनी इच्छानुसार गति करनेवाले मोर, गरुड़, पोपट, हंस आदि पक्षी काष्ठ के ऐसे बना सकता हूँ कि–जिनके ऊपर रथ के समान बैठ कर पृथ्वी के सदृश आकाश में भी कीलिकादिक प्रयोग से आया जाया जासकता है। यह सुन कर कौतुकप्रिय राजाने कहा कि–मेरे लिये एक ऐसा गुरुड़ बना कि–जिस पर बैठ कर आकाश में रह मैं सम्पूर्ण भूमंडल की शोभा देख सकूँ। राजा की इस प्रकार आज्ञा होने पर कोकाशने वैसा गुरुड़ बनाया। उस गुरुड़ को देखने मात्र से ही राजाने प्रसन्न होकर कोकाश का सम्पूर्ण कुटुम्ब आनन्दपूर्वक निर्वाह कर सके ऐसा प्रबन्ध करा दिया। अतः वे वहां सुखपूर्वक रहने लगे। कहा है कि–

लवणसमो नत्थि रसो,
विण्णाणसमो अ बंधवो नत्थि।
धम्मसमो नत्थि निहि,
कोहसमो वेरिणो नत्थि ॥ १ ॥

भावार्थः—लवण सदृश कोई रस नहीं, विज्ञान (कला-हुन्नर) सदृश कोई बांधव नहीं, धर्म समान दूसरा कोई निधि (भंडार) नहीं और क्रोध समान दूसरा कोई वैरी नहीं है।

एक बार कोकाश को साथ लेकर राजा विष्णु के सदृश अपनी रानी सहित गरुड़ पर आरुढ़ होकर आकाशमार्ग में चला। अनेकों देशों का उल्लंघन कर भरुचपुर के ऊपर आया तो राजाने कोकाश से उस नगर का नाम पूछा। कोकाशने गुरु के मुंह से पूर्व वृत्तान्त सुना था इससे कहा कि–हे स्वामी! इस नगर का नाम भरूच है। इस पुर में पहिले श्रीमुनिसुव्रत स्वामीने साठ योजन दूर स्थित प्रतिष्ठानपुर से एक रात्रि में ही आकर यज्ञ में होमने के लिये तैयार किये हुए अश्व को, जो उनका पूर्व भव का मित्र था, प्रतिबोध कर जैनधर्म में दृढ़ किया था। जिससे वह अश्व मर कर सौधर्म देवलोक में सामानिक देवता हुआ। उसने तुरन्त ही अवधिज्ञानद्वारा पूर्व की हकीकत जान ली, अतः वह यहां आया और जिनेश्वर के समवसरण के स्थान पर उसने जिन-प्रासाद बना उस में प्रभु का बिंब पधरा उसके सन्मुख अपनी अश्वमूर्ति खड़ी की और अश्वावबोध नामक तीर्थ की स्थापना की। इस प्रकार बातें करते हुए और विविध देशों का अवलोकन करते हुए वे लंका नगरी पर आये तो राजाने

कोकाश से उसका नाम आदि पूछा। कोकाशने उत्तर दिया कि-हे स्वामी ! यह लंका नगरी है। यहां पहिले रावण नामक राजा हो गया है। उसकी समृद्धि का वर्णन लोक में (लोकिक शास्त्रों में) ऐसा सुना जाता है कि-उस रावणने नव ग्रहों अपने पलंग के साथ बांधे थे, यमराज को बांध कर पाताल में डाल दिया था, वासुदेव उसके घर कचरा बहुरा निकालता था, चारों मेघ उसके घर पर गंधयुक्त जल की वृष्टि करते थे, यमराज अपने पाड़े पर जल भर कर लाता था, सातों मातृका देवियें उसकी आरती उतारती थी, शेष-नाग उसके मस्तक पर छत्र धारण करता था, सरस्वती उस-के पास वीणा बजाती थी, रंभा नामक अप्सरा नृत्य करती थी, तुंबरु (देव) गंधर्व गायन करता था, नारद दूतपन करता था तथा ताल बजाता था, सूर्य रसोई बनाता था, चन्द्र अमृत वृष्टि करता था, मंगल (ग्रह) भैंसे दूहता था, बुध आरसी (काच) दिखाता था, गुरु (बृहस्पति) घंटा बजाता था, शुक्र (शुक्राचार्य) उसका मंत्री था, शनि उसके पृष्ठ भाग का रक्षक था, अठ्यासी हजार ऋषिगण पानी के परब की रक्षा करते थे, विष्णु उसके पास मसाल लेकर खड़ा रहता था और ब्रह्मा उसके पुरोहित थे। ऐसा समृद्धिवाला होने पर भी परस्त्री का हरण करने से वह रावण दुःखी हुआ। इस प्रकार बाते करते हुए वे वापस लौट कर अपने नगर को आये।

बाद में पश्चिम दिशा में गये। वहां सिद्धाचल और गिरनार तीर्थ को देख उसका वर्णन किया। इसी प्रकार उत्तर दिशा में गये तो कोकाशने अष्टापद नामक कैलाश पर्वत, शाश्वत सिद्धायतन का तथा जिनेश्वर के कल्याणक के स्थान दिखाये। हस्तिनापुर आने पर उसका वर्णन किया कि–हे स्वामी ! यहां सनत्कुमार आदि पांच चक्रवर्ती तथा पांच पांडव हुए थे। श्रीऋषभदेव स्वामी के वरसीतप का पारणा भी यहीं हुआ था। शान्तिनाथ आदि तीन जिनेश्वर के मोक्ष कल्याणक बिना शेष चार चार कल्याणक यहीं हुए हैं। विष्णुकुमारने उत्तरवैक्रिय शरीर यहीं पर किया था तथा कार्तिकश्रेष्ठीने एक हजार आठ पुरुषों सहित यहीं पर दीक्षा ग्रहण की थी आदि अनेक शुभ कार्य यहां पर हुए हैं। इस प्रकार सदैव नये नये तीर्थों का महात्म्य सुना कर कोकाशने राजा को जैनधर्म पर रुचिवाला बना दिया। फिर एक बार कोकाश राजा को ज्ञानी गुरु के पास ले गया। गुरुने धर्मोपदेश करते हुए कहा कि–गृहस्थियों के लिये समकित सहित पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत मिलकर बारह व्रत कहे गये हैं। अन्य धर्म के नियम ग्रहण करने से उनके फल में सामान्य वर्षा के समान कदाच संदेह रहता है परन्तु जैनधर्म का फल तो पुष्करावर्त मेघ के सदृश मिलता ही है–निष्फल नहीं जाता। आदि धर्मोपदेश सुन कर राजाने समकित सहित बारह व्रत ग्रहण किये। उन में से

छट्ठे दिग्विरतिव्रत में एक दिवस में प्रत्येक दिशा में एक सो योजन से अधिक दूर नहीं जाने का नियम लिया।

एक बार राजा यशोदेवी नामक उसकी पट्टरानी सहित काष्ठ गरुड़ पर बैठ कर फिरने जाने को तैयार हुआ था कि-यह हकिकत जान कर विजया नामक दूसरी रानीने सपत्नी (शोक्य) पर के द्वेष के कारण अपने खानगी पुरुषद्वारा उस गरुड़ की एक मूल किली निकलवा दी और उसके स्थान पर ठीक वैसी ही नई किली लगवा दी। इसका किसी को पत्ता न चला। कहा है कि—

उन्मत्तप्रेमसंरंभादारभन्ते यदंगनाः ।
तत्र प्रत्यूहमाधातुं, ब्रह्मापि खलु कातरः ॥१॥

भावार्थः—उन्मत्त प्रेम के वेग से स्त्रियें जो कार्य आरंभ करती हैं उस कार्य में विघ्न डालने में ब्रह्मा भी असमर्थ है।

फिर राजा रानी सहित गरुड़ पर बैठा और कोकाशने गरुड़ को आकाश में उडाया। बहुत दूर जाने के बाद राजा को दिग्विरति व्रत का स्मरण हो आने से कोकाश को पूछा कि-हे मित्र! हम कितने दूर आये हैं? कोकाशने उत्तर दिया कि-हे स्वामी! हम दोसो योजन दूर आये हैं। यह सुन राजाने खेदित होकर कहा कि-हे मित्र! गरुड़ को

जल्दी वापस लौटा, वापस लौटा क्योंकि जानने के बाद निषिद्ध आचरण करने से तो मूल व्रत का भंग होता है और अजाने व्रत का भंग होने से अतिचार लगता है जो प्रतिक्रमणादिक करनेद्वारा शुद्ध हो सकता है। अहो! मुझ कौतुकप्रिय को धिक्कार है कि-जिससे मैंने आत्महित भी नहीं जाना। इस प्रकार जैसे अपना सर्वस्व खो गया हो उस प्रकार राजा शोक करने लगा। उस समय कोकाशने गरुड़ को वापस घुमाने के लिये दूसरी किली को पकड़ा तो यह जान कर कि यह किली दूसरी है वह चिन्तातुर होकर बोला कि-हे देव! दुर्दैव के वश से किसी दुष्टने इस किली को बदल दिया है और इस किली के बिना गरुड़ पीछा नहीं लौट सकता है, अतः अब तो थोड़ी दूर और जाकर नीचे उतर जायें तो अधिक अच्छा होगा क्योंकि यदि यहीं पर उतरेंगे तो यह शत्रु का राज्य होने से अनर्थ का होना संभव है। यह सुन कर राजाने कहा कि-हे मित्र! अनन्त भव तक दुःख देनेवाले व्रतभंग करनेरूप वाक्य तू क्यों-कर बोलता है? अनाभोगादिक से (अजाण से) कभी निषिद्ध का सेवन हुआ हो तो व्रत के मालिन्यरूप अतिचार लगता है और जानबूझ कर जो व्रत का उल्लंघन किया जाय तो व्रत का भंग ही होता है। अतिचार से खंडित हुआ व्रत तो कच्चे घड़े के सदृश पीछा जोड़ा जासकता है परन्तु अना-चार से हुआ व्रत भंग तो पके घड़े के सदृश पीछा नहीं

जुड़ सकता, अतः यहां से एक पग भर भी आगे न बढ़। कहा है कि—

जलधूलीधरित्र्यादि–रेखावादितरे नृणाम् ।
परं पाषाणरेखेव, प्रतिज्ञा हि महात्मनाम् ॥१॥

भावार्थः—सामान्य जनों की प्रतिज्ञा जल, धूल और पृथ्वी आदि पर की हुई रेखा के समान है (तुरन्त भंग होनेवाली है) परन्तु महात्माओं की प्रतिज्ञा तो पत्थर की रेखा के समान होती है अर्थात् उसका भंग हो ही नहीं सकता है।

अपितु हे कोकाश ! व्रत के उल्लंघन का फल तो कटु द्रव्य के आस्वाद की तरह अभी प्राप्त हो गया है, अतः उसी ही किली से यदि लोट सकता हो तो लौटा ले; अन्यथा यहीं पर उतर पड़ना योग्य है। यह सुन कर राजा की दृढ़ता की बारंबार प्रशंसा करता हुआ कोकाश गरुड़ को वापस लौटाने का प्रयास करने लगा इतने में तो उस गरुड़ के दोनों पंख मिल गये और वह नीचे गिर पड़ा। परन्तु उत्तम भाग्य के योग से वह गरुड़ एक सरोवर में गिरा इससे किसी को कोई चोट न पहुंची। फिर राजा, रानी और कोकाश गरुड़ सहित सरोवर के किनारे पर आये। उसके समीप ही कांचनपुर नगर को देख कर कोकाशने राजा को सलाह

दिया कि–हे स्वामी ! आप सावधान होकर यहीं पर कोई न जान सके इस प्रकार छिप रहिये। मैं ग्राम में किसी रथकार के घर जाकर किली बना कर लाता हूँ। ऐसा कह कर भयरहित कोकाश राजा के मानेता रथकार के घर गया और उससे किली बनाने के लिये विशेष प्रकार के ओजार मांगे। वह रथकार एक रथ का पहिया बना रहा था जिसको छोड़ कर उसके मांगे हुए ओजार लाने के लिये वह अपने घर के अन्दर गया। वह ओजार लेकर आया इतनी देर में तो कोकाशने रथ का पहिया उससे भी अधिक सुन्दर दिव्य चक्र (पहिया) बना दिया कि–जो पहिया हाथ में से नीचे रखते ही बिना धक्का दिये हुए ही अपने आप चल सके। उस रथकारने ऐसी असाधारण कला देख कर मन में विचार किया कि–सचमुच यह कोकाश ही है, उसके अतिरिक्त दूसरा इस पृथ्वी पर ऐसी कला जाननेवाला कौन है ? कोई नहीं। इस प्रकार निश्चय कर वह रथकार किसी बहाने से वहां के राजा के पास पहुंचा और उससे कहा कि–हे राजा ! पुण्य के योग से मेरे घर पर अकस्मात् कोकाश आया हुआ है। यह सुन कर राजाने अपने सेवकों को भेज कर कोकाश को बुला कर पूछा कि–तेरा राजा कहां है ? तो बुद्धिमान कोकाशने मृत्यु के भय से तथा कुछ मन में विचार कर अपने राजा का पत्ता बतला दिया, अतः कनकप्रभ राजाने सैन्य सहित काकजंघ राजा के पास जाकर उसको

बांध विडंबनापूर्वक काष्ठ के पींजरे में डाल दिया। कालिंग-देश का राजा उसके वैर के कारण उसे खाने को भी कुछ नहीं देता था, अतः अनेकों पुरुषों को दया आने से राजा के भय से कौओं को बलिदान देने के बहाने वे उसको पिंड (बलिदान) देने लगे। इस प्रकार काकपिंड से प्राणवृत्ति करता हुआ और जिसने कभी भी स्वप्न में भी नहीं देखा था ऐसा काकजंघ राजा ऐसे कष्ट के समय में भी धैर्य रख अपने पूर्व कर्म की ही निन्दा करता हुआ दिवस निर्गमन करने लगा। वह अपनी आत्मा को कहता कि—

को इत्थ सया सुहिओ,
कस्स व लच्छी थिराइ पिम्माइं ।
को मच्चुणा न गहिओ,
को गिद्धो नेव विसएसु ॥ १ ॥

भावार्थः—इस विश्व में निरन्तर सुखी कौन है ? किस की लक्ष्मी और प्रेम स्थिर रहे हैं ? मृत्युने किस को नहीं पकड़ा ? और विषयों में कौन आसक्त नहीं हुआ ?

कुछ दिन बाद राजा कोकाश का बध करने को तैयार हुआ तो पुरवासियोंने राजा से कहा कि—हे स्वामी ! यह अकार्य करना आपको योग्य नहीं है। एक किली के लिये सम्पूर्ण प्रासाद को कौन तोड़े ? उत्तम पुरुष तो गुण के

विषय में पक्षपात रख कर उन में स्वपर का विभाग नहीं करते। कहा है कि--

सर्वेषां बहुमानार्हः, कलावान् स्वपरोऽपि वा ।
विशिष्य च महेशस्य, महीयो महिमासिकृत्× ॥१॥

भावार्थः--कलावान अपना हो या दूसरे का, फिर भी उसका सब को बहुमान करना चाहिये। देखिये चन्द्र के कलावान होने से शंकरने उसका विचार कर उसे अपने भालस्थल में स्थान दिया है।

इस प्रकार पुरवासियों का कहना सुन कर राजाने कोकाश का सत्कार कर उसको कहा कि-हे कलाकुशल! मेरे लिये कमल के आकार का गरुड़ के सदृश आकाशगामी घर बना, उसके सो पंखड़िये लगा और प्रत्येक पंखड़ी पर मेरे पुत्रों के रहने योग्य मन्दिर बना। उसके मध्य में कर्णिका के स्थान पर मेरे रहने योग्य भुवन बना। इस प्रकार का देवविमान जैसा भुवन बना। यह सुन कर जीवन की अभिलाषावाला कोकाशने अपने अभिप्राय को गुप्त रख कर "आप की आज्ञा का पालन किया जायगा" ऐसा कह कर अपने मनोरथ को सिद्ध करने के लिये और बाहर से राजा का चित्त प्रसन्न करने के लिये उसके कहेनुसार कमलगृह बनाया, फिर उसने काकजंघ राजा को गुप्त-

× उत्तरार्ध अशुद्ध जान पडता है।

रूप से कहा कि–हे स्वामी! तुम चिन्ता का त्याग कर श्री जिनेश्वर के ध्यान में ही तत्पर रहो। मैं थोड़े ही दिनों में शत्रु को विडंबना में डालता हूँ। ऐसा कह कर कोकाशने गुप्त रीति से काकजंघ के पुत्र को सैन्य सहित बुलाया और उसके समीप आने की खबर मिलने पर उसी दिन शुभ मुहूर्त बतला कर कनकप्रभ राजा को परिवार सहित उस कमलगृह में बैठने को कहा। राजा भी उसे देख कर गर्व से सौधर्म इन्द्र के भुवन का भी तिरस्कार करता हुआ हर्षित हुआ। फिर सब को उस पद्मगृह में बिठाकर प्रफुल्ल मुख से कोकाशने कहा कि–हे राजा! तुम सब अपने अपने स्थान पर सावधान होकर बैठ जाओ, मैं अभी किली के प्रयोग से इस विमान को आकाश में उड़ा कर तुमको कौतुक दिखाता हूँ। उसी प्रकार वे भी कौतुक देखने के लिये अपने अपने स्थान पर बैठ गये। फिर कोकाश किसी बहाने से उस कमल-गृह से बाहर निकल कर बोला कि–हे मूढ़ लोगों! मेरे स्वामी की विडम्बना करने का फल चखो। ऐसा कह कर उसने ज्योंहि किली को फिराया कि–तुरन्त ही निद्रा से घूर्णायमान हुए नैत्र के समान वह सम्पूर्ण भुवन कमल के समान बन्द हो गया और उसमें स्थित सर्व लोग भ्रमर की तरह हाहारव करने लगें। यहां कमल और भ्रमर पर अन्योक्ति से कहे हुए श्लोक घटित हो सकते हैं। वे इस प्रकार हैं—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं,
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः ।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे,
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार ॥ १ ॥

भावार्थः—कोई भ्रमर एक कमल में प्रवेश कर उसका रस चूमता था कि-इतने में रात हो गई और कमल बन्द हो गया तो अन्दर बन्द हुआ भ्रमर विचार करने लगा कि-रात्रि का अन्त होगा और सुन्दर प्रातःकाल आ गया जिस में सूर्य उदय होगा और इस कमल की शोभा खिलेगी (कमल खिलेगा) जिससे मैं मुक्त हो जाउंगा। इस प्रकार कोश में रहा भ्रमर विचार कर रहा था कि-इतने में ऐसी खेदकारक बात हुई कि-कोई हाथी वहां पानी पीने आया। वह उस कमल को तोड़ कर खा गया जिससे भ्रमर की धारणा मनं की मन ही रह गई। उसी प्रकार यहां भी कौतुक देखने के मिष देवभुवन जैसे भुवन में प्रवेश करनेवाले राजा आदि की कौतुक देखने की इच्छा मन की मन ही में रह गई और उलटे कष्ट में आ गिरे।

उस समय कोकाश के संकेतानुसार काकजंघ राजा का पुत्र सैन्य सहित वहां आ पहुंचा। उसने कनकप्रभ राजा के सुभटों को परास्त कर उसके मातापिता को पिंजरे से

बहार निकाले। फिर कोकाश सहित सब अपने नगर की ओर लौट गये। काकजंघ राजाने उस देश को अपने व्रत की अवधि के उपरांत होने से अपने आधीन नहीं किया।

काकजंघ राजाने राज्य का पालन करते हुए यह जानकर भी कि—गरुड़ की किली बदलने का प्रपंच उसकी दूसरी रानी का था, गंभीरता के कारण प्रकट नहीं किया। कहा भी है कि—

अर्थनाशं मनस्तापं, गृहे दुश्चरितानि च ।
वञ्चनं चापमानं च, मतिमान्न प्रकाशयेत् ॥१॥

भावार्थः—धन का नाश, मन का संताप, घर का दुराचरण, वंचन (किसी से ठगाये जाना) और अपमान इनको बुद्धिमान् पुरुष किसी के सामने प्रकाशित नहीं करते।

इधर कनकप्रभ राजा को परिवार सहित कमलगृह से बहार निकालने के कई उपाय किये गये। लोगोंने एकत्रित हो कमलगृह को तोड़ने के लिये उस पर कुल्हाड़ी आदि का प्रहार करने लगे परन्तु वह कमलगृह न खुल कर उसके अन्दर रहनेवाले राजा आदि सबों को उन प्रहारो से पीड़ा होने लगी। अन्त में जब उनको कोई उपाय न दीख पड़ा तो उन लोगोंने अवन्ति में आकर कोकाश से अपने राजा के जीव की भिक्षा मांगी तो कोकाशने उससे कहा कि—यदि

तुम्हारा राजा हमारे राजा की दास के अनुसार सेवा करे तो मैं उसे मुक्त करुं। यह सुन कर लोगोंने वैसा ही करना स्वीकार किया। फिर कोकाशने वहां जाकर कमलगृह खोला कि-सब बहार निकले। कनकप्रभ राजाने कोकाश का पिता तुल्य सत्कार किया। फिर कोकाश अपने नगर लौट आया।

एक बार काकजंघ राजा और कोकाश गुरु के पास गये। वहां उन्होंने धर्मदेशना सुन कर अपना पूर्व भव पूछा। गुरुने किया कि-हे राजा! पहले तूं गजपुर का राजा था और यह कोकाश उसी ग्राम में ब्राह्मण जाति का जैनधर्मी सूत्रधार था। इसके कहने से तूने इससे अनेक जैनप्रासाद बनवाये। एक बार उसी ग्राम में दूसरे ग्राम से एक जैन सूत्रधार आया। वह भी अपनी कला में कुशल था। उसकी कला पर इर्षा आने से तेरे पहिले सूत्रधारने तेरे को उसे नीच जाति आदि होना कह कर उसकी निन्दा की। कहा है कि-

कलावान् धनवान् विद्वान्,
क्रियावान् धनमानवान्।
नृपस्तपस्वी दाता च,
स्वतुल्यं सहते न हि ॥ १ ॥

भावार्थः—कलावान, धनवान, विद्वान, क्रियावान, धन के अभिमानवाला, राजा, तपस्वी और दातार ये अपने बराबरीवाले को सहन नहीं कर सकते-देख नहीं सकते।

अपने सूत्रधार के कहने से तूने भी उस नवागन्तुक सूत्रधार को छ घड़ी तक कारागृह में रक्खा परन्तु फिर वह कार्य अघटित प्रतित होने से उसे मुक्त कर दिया। उस पाप की बिना आलोचना किये ही तुम दोनों मर कर सौधर्म देवलोक में देवता हुए। वहां से चव कर इस भव में भी तुम राजा और रथकार हुए हो। कोकाशने जातिमद किया था इससे वह इस भव में दासीपुत्र हुआ और उस परदेशी सूत्रधार को छ घड़ी तक कारागृह में रक्खा था इससे तुम दोनों इस भव में छ मास तक कारागृह में रहने के अनुसार ही प्रतिबंध में रहे।

इस प्रकार ज्ञानी के वचन सुन कर काकजंघ राजाने अपने पुत्र को राज्य सौंप कोकाश सहित दीक्षा ग्रहण की और अनुक्रम से केवलज्ञान प्राप्त कर वे दोनों मोक्ष सिधारे।

जगत्प्रसिद्ध काकजंघ राजा कोकाश की बुद्धि से धर्म में दृढ़ता रख, कारक समकित धारण कर, अतींद्रिय ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष में गये।

इत्युपदेशप्रासादे चतुर्थस्तंभे एकोनषष्टितमं व्याख्यानम् ॥ ५९ ॥

व्याख्यान ६० वां

दीपक समकित

मिथ्यादृष्टिरभव्यो वा, स्वयं धर्मकथादिभिः ।
परेषां बोधयत्येवं, दीपकं दर्शनं भवेत् ॥ १ ॥

भावार्थः—मिथ्यादृष्टि के अभव्य स्वयं धर्मकथादि कर दूसरों को बोधित करे वे मिथ्यादृष्टि दीपक समकित कहलाते हैं ।

यहां इस प्रकार जानना कि—अनादि सात भांगे प्रथम गुणस्थानक में वर्तता कोई मिथ्यादृष्टि जीव किसी भी पुण्य के योग से श्रावककुल में उत्पन्न हो । वहां कुलाचार के कारण गुरु आदि सामग्री को पाकर बड़ा होजाने की इच्छा से अथवा मत्सर, अहंकार या हठ आदि के कारण जिनबिंब, जिनचैत्य आदि श्रावक के योग्य उत्तम कार्य किये परन्तु वह देवादिक के सत्य स्वरूप को नहीं जानता तथा ग्रन्थीभेद भी नहीं किया, अतः सम्यग्भाव बिना ही वह सुकृत्य करता है । इस प्रकार प्राणी अनन्तीवार वैसे सुकृत्य करता है, परन्तु उससे विशेष लाभ नहीं होता । कहा है कि—

पाएणणंत देउल-पडिमाओ, करावि आओ जीवेण ।
असमंजसवित्ताए, न हु सुद्धो दंसणलवो वि ॥१॥

भावार्थः—जीवने प्रायः अनंतीवार चैत्यो तथा प्रतिमाये बनाई हैं परन्तु उनको असमंजस वृत्ति से (मिथ्यादृष्टि से) कराई हुई होने से शुद्ध दर्शन (समकित) का एक लेश भी प्राप्त नहीं हुआ (यह गाथा दर्शनरत्नाकर की है)।

अपितु अनादिअनन्त भागे गुणस्थानक में वर्तता कोई अभव्य जीव अनेकों बार गुर्वादिक सामग्री के पाने पर भी कदापि किसी भी भव में सास्वादन स्वभाव (दूसरा गुणस्थानक को) नहीं पा सकता। इसी विषय पर तीनों भुवन के शरणभूत श्रीतीर्थंकर महाराजने कहा है कि—

काले सुपत्तदाणं, सम्मविसुद्धं बोहिलाभं च ।
अंते समाहिमरणं, अभव्वजीवा न पावंति ॥१॥
इंदत्तं चक्कीत्तं, पंचुत्तरसुरविमाणवासं च ।
लोगंतियदेवत्तं, अभव्वजीवा न पावंति ॥ २ ॥
उत्तरनरपंचुत्तर×,
तायतीसा य पुव्वधर इंदा ।

× उत्तम नर अर्थात् लोकोत्तर पुरुष को शलाका पुरुष कहता है, उनकी संख्या ७५ की किस प्रकार गिनी इसका पत्ता नहीं चलता। ६३ शलाका पुरुष उपरान्त ११ रुद्र गिने तो ७४ होते है और नो नारद गिने तो ८३ होते हैं। कालसित्तरी में इस प्रकार गिने गये हैं।

केवलिदिक्खिय सासाणि,
जक्खणि जक्खा य नोऽभव्वा ॥ ३ ॥

भावार्थः—समय पर सुपात्रदान, सम्यक्प्रकार से विशुद्ध बोधिलाभ तथा अन्त में (मृत्युसमय) समाधि-मरण इतने अभव्य प्राणी नहीं पासकते। इन्द्रपन, चक्रवर्ती-पन, पांच अनुत्तर विमान का वास, लोकांतिक देवपन, ये भी अभव्य प्राणी नहीं पासकते। शलाका पुरुषपन, नारद-पन, त्रायस्त्रिंशत् देवपन, चौदह पूर्वधारीपन, इन्द्रपन, केवली पास दीक्षा तथा शासन के जक्ष अथवा जक्षिणीपन ये भी अभव्य प्राणी नहीं पा सकते।

संगम य कालसूरि, कविला अंगार पालया दो वि।
नोजीव गुट्ठमाहिल उदायिनिवमारओ अभव्वा ॥१॥

भावार्थः—एक रात्री में श्रीमहावीरस्वामी को एक-वीस प्राणांत उपसर्ग करनेवाला संगम देव, कालसौकरिक कसाई, कपिला दासी, अंगारमर्दक आचार्य, दो पालक (पांच-सो मुनियों को पीलानेवाला पालक तथा कृष्ण का पुत्र पालक), नोजीव का स्थापक गोष्ठमाहिल तथा उदायीराजा को मारने-वाला विनयरत्न साधु—ये इस चोवीशी में अभव्य हुए हैं।

चार सामायिक (समकित, श्रुत, देशविरति, सर्वविरति) अभव्य प्राणी कदाच उत्कृष्ट पाये तो श्रुत सामायिक पा

सकता है, इससे अधिक अन्य तीन सामायिक का लाभ उसे नहीं मिल सकता।

उपरोक्त भव्य तथा अभव्य दोनों प्रकार के जीव मिथ्यात्वद्वारा युक्त होने पर भी धर्मादिक की प्ररूपणा कर तथा ऊँचे प्रकार की समिति, गुप्ति धारण कर दूसरों को प्रतिबोध करते हैं तथा शासन को दीपाते हैं, अतः कारण के विषय में कार्य का उपचार करने से उनको दीपक समकित कहते हैं। इस प्रसंग पर निम्नस्थ अंगारमर्दकाचार्य का प्रबन्ध प्रसिद्ध है।

अंगारमर्दकसूरि का प्रबन्ध

क्षितिप्रतिष्ठित नगर में श्रीविजयसेनसूरि के शिष्यने एंक बार रात्रिमध्य स्वप्न में पांचसो हाथियों से युक्त एक सूकर देखा जिसका हाल प्रातःकाल होने पर उन्होंने गुरु से निवेदन किया जिसे सुन कर गुरुने कहा कि—आज कोई अभव्य गुरु (आचार्य) पांच सो शिष्यों सहित यहां आयेगा। फिर उसी दिन रुद्र नामक आचार्य पांच सो शिष्यों (साधुओं) सहित उसी ग्राम में आये। उस दिन विजयसेनसूरिने उनकी अशनादिक से भक्ति की। फिर दूसरे दिन अपने शिष्यों को उस रूद्राचार्य की अभव्यता निश्चय कराने के लिये लघुनीत करने के स्थान पर गुप्त रीति से कोयले बिछवादिये। रात्री में उस रूद्राचार्य के शिष्य जब लघुनीत करने को गये

तो पैर के नीचे कोयलों के दबजाने से चमचम शब्द होने लगा। उस शब्द को सुन कर उस साधुओंने कोयलों को नहीं जानने से जीवों का मर्दन होता है ऐसा जान कर बारंबार पश्चात्ताप कर अपने आत्मा की निन्दा करने लगे और उस पाप का प्रतिक्रमण करने लगे। फिर रूद्राचार्य स्वयं लघुनीत करने को उठे। उन्होंने भी चमचम शब्द सुना, अतः उन पर बारंबार जोर से पैर रख कर शब्द कराते बोले कि- अहो ! ये अरिहंत के जीव पुकार करता हैं। इस वाक्य को विजयसेनसूरिने अपने शिष्यों को प्रत्यक्ष सुनवाया। फिर प्रातःकाल सूरिने रूद्राचार्य के शिष्यों से कहा कि-तुम्हारा यह गुरु अभव्य होने से सेवा करने योग्य नहीं है। क्योंकि-

सप्पो इक्कं मरणं, कुगुरु दिंति अनंताइं मरणाइं।
तो वर सप्पं गहियं, मा कुगुरुसेवणा भद्दा ॥१॥

भावार्थः—सर्प (दंशा हो तो) एक ही वक्त मारता है परन्तु कुगुरु तो अनंत भव तक अनंत वक्त मारता है, अतः सर्प को ग्रहण करना श्रेष्ठ है परन्तु कुगुरु की सेवा करना श्रेष्ठ नहीं।

असंजयं ज वंदेज्जा, मायरं पियरं गुरुं।
सेवणावि य सिट्ठाणं, रायाणं देवया पि वा ॥२॥

भावार्थः--संयम रहित (असंयति-विरति रहित)

माता, पिता, गुरु को वंदना नहीं करना चाहिये और इसी प्रकार असंयति शेठ, राजा अथवा देवता की भी सेवा नहीं करना चाहिये ।

भट्ठायारो सूरि, भट्ठायाराणुविक्खओ सूरि ।
उम्मग्गट्ठिओ सूरि, तिन्नि वि मग्गा पणासंति ॥३॥

भावार्थः—भ्रष्ट आचारवाला सूरि, भ्रष्ट आचारवाले को नहीं रोकनेवाला सूरि और उन्मार्ग की प्ररूपणा करनेवाला सूरि–ये तीनों धर्ममार्ग का नाश करनेवाले हैं ।

बाहर से आचार पालनेवाले के लिये श्री अनुयोगद्वार सूत्र में कहा है कि–जो साधु के गुणों से मुक्त साधु क्रियाओं को करते हैं वे छ जीवनिकाय पर दयावाले नहीं होते, अश्व के सदृश चपल होते हैं, हाथियों के सदृश निरंकुश (मदोन्मत्त) होते हैं, शरीर को घढार मढार मसल समाल कर रखते हैं और धोपे धुपे उज्वल वस्त्र पहिनते हैं और जिनेश्वर की आज्ञा का उल्लंघन कर स्वच्छन्दपन से विचरते हैं वे दोनों समय जो आवश्यक क्रिया करते हैं वे लोकोत्तर द्रव्य आवश्यक कहलाता हैं आदि । अपितु प्रज्ञापना सूत्र की वृत्ति में भी कहा है कि—

परमत्थ संथवो वा, सुदिट्ठ परमत्थसेवणा वा वि ।
वावन्न कुदंसण–वज्जणाय सम्मत्तसद्दहणा ॥१॥

भावार्थः—परमार्थसंस्तव, सुदृष्टि परमार्थसेवना, व्यापन्न दर्शनी का वर्जन तथा कुदर्शनी का वर्जन–ये चार समकित की सद्दहणा है (इन चारों सद्दहणा का वर्णन दृष्टान्त सहित पहले स्थंभ में आ चुका है)।

अतः मिथ्यादृष्टि की सेवा करने से आत्मगुण की हानि होती है–पतन होता है। कहा है कि—

जं तवसंयमहीणं, नियमविहुणं च बंभपरिहीणं।
तं सेलसमं अयतं, बुड्डंतं बोलए अन्नं ॥ १ ॥

भावार्थः—जो तप संयम से रहित हैं, नियम रहित हैं, और ब्रह्मचर्य से रहित हैं, ऐसे अयत–अविरति जीव पत्थर के वहाण सदृश होने से स्वयं डूबते हैं और दूसरों को भी डूबाते हैं।

इस पर श्रीआवश्यकनिर्युक्ति की बृहद्वृत्ति में कहा हुआ एक दृष्टान्त बहुत उपयोगी है। वह इस प्रकार है कि–किसी साधु–समुदाय में एक साधु श्रमणगुण रहित था। वह सदैव गोचरी आदि की आलोचना के समय बारंबार अपनी आत्मा की निन्दा करता हुआ प्रतिक्रमण करता था। उसको देख कर कई मुनि उसकी प्रशंसा किया करते थे। एक बार कोई सम्यक् ज्ञानवाला संवेगी साधु वहां आया जिन्होंने उसके प्रपंच को जानकर दूसरे साधुओं से कहा कि–एक समृद्धिवाला गृहस्थ हर वर्ष अपने घर में सर्व रत्नादिक भर

पुण्य के लिये उसको जला देता था जिसे देख कर सर्व लोग उसकी प्रशंसा करते थे कि–अहो ! इस गृहस्थ का रत्नादिक पर कैसा निर्लोभीपन है ? बाद एक बार उसने रत्नादिक से भर कर अपना घर अग्नि से जलाया कि–उस समय प्रचंड वायु के चलने से अग्नि की ज्वाला इतनी ज्यादा वृद्धि को प्राप्त हुई कि–सारा नगर जल कर भस्म हो गया। प्रातः राजाने उस गृहस्थ को दरिद्री कर (सर्वस्व छीन कर) नगर के बहार निकाल दिया। दूसरे नगर में कोई वणिक उसी प्रकार अपना घर जलाने को तैयार हुआ तो इस बात की सूचना मिलने पर, इसका अशुभ परिणाम जान कर राजाने प्रथम ही से उसको ग्राम के बहार निकाल दिया जिससे सम्पूर्ण नगरनिवासी सुखी हुए। हे मुनियों ! उसी प्रकार यह साधु भी बहार से बड़ा आडंबर करता है जो तुमारे लिये भी अनर्थकारक है, अतः इसकी श्लाघा या सेवा करना ही बिलकुल उचित नहीं है परन्तु परिचय भी करना हानिकारक है। यह सुन कर सब साधु उस बाह्याचार का त्याग कर अपने अपने धर्मध्यान में तत्पर हुए।

अतः हे साधु ! तुम भी इस अभव्य गुरु का त्याग कर शुद्ध चारित्र का पालन करो। यह सुन कर रूद्राचार्य के शिष्य विस्मयचकित हो विचार करने लगे कि–अहो ! यह

रूद्राचार्य का अलौकिक क्रियादंभ है कि-जिससे अब तक हम इसे जान भी न सके और इसीलिये हमने इसकी अब तक सेवा की है। यह विचार कर उन्होंने उस अभव्य गुरु का त्याग कर दिया और संयम का प्रतिपालन कर स्वर्ग सिधारे।

वहां से चव कर वे पांच सो ही दिलीप राजा के पुत्र हुए। उनके युवावस्था को प्राप्त होने पर वे हस्तिनापुर में किसी राजपुत्री के स्वयंवर में गये। उस समय रूद्राचार्य (अंगारमर्दक) का जीव अनेकों भवों में भ्रमण कर ऊँट हो गया था। उस ऊँट पर बहुत-सा भार लाद कर उसका स्वामी उसी ग्राम के पास होकर निकला। उस ऊँट को भार के कारण बराड़ा मारते हुए देख कर वे पांच सो कुमार विचार करने लगे कि-अहो! यह ऊँट पूर्व कर्म के योग से इस भव में अनाथ और अशरण होकर महादुःख उठाता है। श्रीदेवेन्द्र आचार्यने कर्मग्रन्थ में कहा है कि-"तिरियाउ गूढहियआ सट्ठो ससल्लो इत्यादि-गूढ़ हृदयवाला, शल्यवाला और शठतावाला प्राणी तिर्यंच का आयुष्य बांधता है आदि।" इस प्रकार विचार करते हुए उन पांच सो कुमारों को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया जिससे उनको उनका पूर्व भव दिखाई दिया, अतः उसको पूर्व भव का उपकारी गुरु जान कर, उसके स्वामी को बहुत द्रव्य दे कर

उसे छुड़ा कर दुःख रहित किया । फिर वे सर्व कुमार ऐसा भवनाटक देख कर, चारित्र ग्रहण कर केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष में गये ।

अंगारमर्दक आचार्य बहार से विरागता धारण करता था । उसके पांच सो शिष्योंने मोक्ष प्राप्त किया परन्तु वह भव में भटकता रहा, अतः दीपक समकितवाले की सेवा नहीं करना चाहिये और शुभ मतिवाले जीवों को शुद्ध श्रद्धा धारण करनी चाहिये ।

इत्युपदेशप्रासादे चतुर्थस्तंभे षष्टितमं
व्याख्यानम् ॥ ६० ॥

व्याख्यान ६१ वां

समकित का वस्तुस्वरूप

मिथ्यात्वपुद्गलाभावात्, प्रदेशाः सन्ति चात्मनः ।
ते सर्वे स्वस्थतां नीते, सम्यक्त्वं वस्तु तद्भवेत् ॥१॥

भावार्थः—आत्मप्रदेश के साथ रहनेवाले मिथ्यात्व-मोहनी के पुद्गलों का अभाव (क्षय) होने से आत्मा के सर्व प्रदेश जो स्वस्थता को प्राप्त करते हैं वे वस्तुता से समकित कहलाता हैं ।

यहां श्लोक में जो मिथ्यात्व के पुद्गलों कहे गये हैं उनको उपलक्षण से अनंतानुबंधी कषाय के जो पुद्गल हैं वे भी ग्रहण करने चाहिये। उनका क्षयोपशमादिद्वारा अभाव होने से मलिनता के अभाव से उज्वल हुए वस्त्र के समान जीव के प्रदेशों के विषय में निर्मलतारूप जो श्रद्धा गुण प्रकट होता है वे ही वस्तुता से समकित कहलाता है।

यहां पर यदि शिष्य शंका करे कि-जीव मिथ्यात्व के पुद्गलों के ही तीन पुंज करता है-शुद्ध, अर्धशुद्ध तथा अशुद्ध। वह इस प्रकार कि-कोद्रवा छिलकों सहित होते हैं उनको छाण आदि लगा कर छिलके निकाल शुद्ध कोद्रवा किये जाते है। उन में से जिसके तद्दन छिलके निकल जाये वे शुद्ध, आधे रहे वे अर्धशुद्ध और जिनके छिलके ज्यों के त्यों रहें वे अशुद्ध। इस प्रकार तीन पुंज करता है। इस विषय में कहा है कि—

दंसणमोहं तिविहं सम्मं मीसं तहेव मिच्छत्तम्।
सुद्धमद्धविसुद्धमविसुद्धं, तं हवइ कमसो ॥१॥

भावार्थः--दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं। सम्यक्त्व, मिश्र और मिथ्यात्व। इन में से पहला शुद्ध, दूसरा अर्धविशुद्ध और तीसरा अविशुद्ध इस प्रकार अनुक्रम से तीन पुंज होते हैं।

तो एक ही सरिखे मिथ्यात्व के पुद्गल साधक बाधक दोनों प्रकार के गुणों के विषय में किस प्रकार प्रवृत्त हो सकते हैं ? यदि दोनों वस्तु भिन्न हो तो ऐसा होना संभव है। यदि ऐसा कहो कि–मिथ्यात्व के पुद्गलों में से मदनपन (मेलाप) जाता रहा इस लिये वे शुद्ध सम्यक्त्व मोहनीय होते हैं तो फिर उनमें मदनपन (मेलाप) क्या है ? अर्थात् मेलापन कहां रहा कि जिससे वे मिथ्यात्व के पुद्गल कहलाता हैं ?

इस शंका का उत्तर गुरु इस प्रकार देते हैं कि–चार प्रकार (चोठाणिया) के महारस के स्थान में रहे (चोठाणिया रसवाला) मिथ्यात्व के पुद्गल मिथ्यात्वरूप बाधकपन को तथा विभावपन को प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु कोदरा के छिलकों के त्याग के समान उन पुद्गलों में से महारस के अभाव से अनिवृत्ति करण करने से एक ठाणिया रस किया जिससे यथार्थ वस्तु परिणाम का व्याघात न करे ऐसा समकित मोहनीय होता है। इसमें कुछ शंकादिक उत्पन्न होती है इससे इसे मोहनीय कहा है। उस समकित मोहनीय का सर्वथा क्षय होने से चरमदर्शन (क्षायिक समकित) होता है जिसमें शंकादिक अतिचार कभी भी नहीं लगते। इस प्रकार पुद्गलों के भिन्न भिन्न नहीं होने पर भी उन तीन के प्रकार होते हैं जिसमें शंका की कोई बात नहीं है।

अब समकितदृष्टि का ज्ञान ही ज्ञान कहलाता है। इस विषय में कहा है कि--

सदाद्यनन्तधर्माढ्यमेकैकं वस्तु वर्तते ।
तत्तथ्यं मन्यते सर्वं श्रद्धावान् ज्ञानचक्षुभिः ॥१॥

भावार्थः--प्रत्येक वस्तु सत्, असत् आदि अनंत धर्मयुक्त है उसे सर्व ज्ञानचक्षु से श्रद्धावान् सत्य मानते है।

एकान्तेनैव भाषन्ते, वस्तुधर्मान् यथा तथा ।
तस्मादज्ञानता ज्ञेया मिथ्यात्विनां निसर्गजा ॥२॥

भावार्थः—मिथ्यात्वी सर्व वस्तु के पृथक् धर्मों को जैसे तैसे (किसी भी युक्ति से) एकान्तपन से ही कहते हैं अतः उन मिथ्यात्वियों की स्वाभाविक ही अज्ञानता है ऐसा समझना चाहिये ।

प्रत्येक वस्तु सत्, असत् आदि अनन्त धर्मयुक्त है जैसे एक घट रूपी वस्तु है जो अपने रक्तपनादि गुणोंद्वारा सत् है और दूसरे पटादिक के धर्म से असत् है आदि शब्द से यहां पुद्गलों के साथ एकपन (अभिन्नपन) है, व्यवहार से माना हुआ है कि-घट हैं, निश्चय से तो पट, लकुट (लकड़ी), शकट, स्वर्ण आदि धर्म युक्त है, इससे यह घट पूर्णरूप हुआ भी कदाचित् उस भव को भी प्राप्त करता है। इसी प्रकार जीव भी गायपन, हाथीपन, स्त्रीपन, पुरुषपन

आदि पाता हैं ऐसा व्यवहार से समझना; निश्चय से तो पूर्व कथित सर्व धर्म से युक्त और अच्छेद्य, अभेद्य आदि गुण-युक्त है। इस प्रकार सर्वत्र समकिती को ज्ञान होता है परन्तु दूसरे को वैसा ज्ञान नहीं होता, अज्ञान होता है। महाभाष्य में कहा है कि—

सदसद्विसेसणाओ भवहेउ जहट्ठिओवलंभाओ।
नाणफलाभावाओ मिच्छादिट्ठिस्स अन्नाणं ॥१॥

भावार्थः--मिथ्यात्वी का ज्ञान सत्, असत् आदि विशेष धर्म से युक्त ऐसे वस्तु के परिज्ञान रहित होता है, भव का हेतुभूत अर्थात् वह सत्तावन बंध के हेतु को यथार्थ-रूप से नहीं जानता, यदृच्छापन–स्वेच्छाचारीपन है और ज्ञान का फल जो विरति का अभाव है, अतः मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को अज्ञान ही समझना चाहिये।

अब समकित के साथ जो बुद्धि के आठ गुण होते है उनके विषय में कहते हैं कि–

अष्टौ बुद्धिगुणाः सन्ति,
शुश्रूषाश्रवणादयः ।
सम्यक्त्ववान् तदाढ्यः,
स्यादित्याहितं चिदात्मभिः ॥ १ ॥

भावार्थः—शुश्रूषा, श्रवण आदि बुद्धि के आठ गुण हैं। ये गुण समकितवान में होते हैं, ऐसा ज्ञानी पुरुषों का कहना है। वे इस प्रकार है--

सुश्रूषा अर्थात् सुनने की इच्छा, इसके बिना श्रवणादिक गुण प्राप्त नहीं हो सकते। दूसरा गुण श्रवण अर्थात् शास्त्रादिक सुनना। श्रवण करने से बड़े बड़े गुण प्राप्त होते हैं। इस विषय में षोडशक में कहा है कि--

क्षारांभस्त्यागतो यद्वन्मधुरोदकयोगतः ।
बीजं प्ररोहमादत्ते तद्वत्तत्त्वश्रुतेर्नरः ॥ १ ॥

भावार्थः—खारे जल के त्याग और मीष्ट जल के योग से बीज अंकुर को प्राप्त होता है उसी प्रकार तत्वश्रवण से मनुष्य बोधिबीज के अंकुर को प्राप्त करता है ।

क्षारांभस्तुल्य इह च, भवयोगोऽखिलो मतः ।
मधुरोदकयोगेन, समा तत्त्वश्रुतिः स्मृता ॥१॥

भावार्थः—यहां खारे जल के समान समग्र भवयोग को और मीष्ट जल के योग समान तत्त्वज्ञान के श्रवण को समझना चाहिये ।

दूसरा गुण ग्रहण अर्थात् श्रवण किये शास्त्र को ग्रहण करना। चोथा गुण धारण अर्थात् ग्रहण किये को नहीं भूलना। पांचवा गुण उहा अर्थात् उसके विषय में विचार

करना वह सामान्य ज्ञान। छट्ठा गुण अपोह अर्थात् अन्वय व्यतिरेकादिक से विशेष विचार करना यह विशेष ज्ञान। सातवां गुण अर्थविज्ञान अर्थात् उहा और अपोह के योग से मोह, संदेह, विपर्यास (उलटी मति) आदि का नाश होने-रूप जो ज्ञान प्रकट हो वह। और आठवां गुण तत्त्वज्ञान अर्थात् यह ऐसा ही है इस प्रकार का निश्चय होना। ये आठ बुद्धि के गुण हैं। इन आठों गुणों से युक्त दर्शन (समकित) होता है क्योंकि उससे (समकित से) सर्व पदार्थ के परमार्थ की पर्यालोचना हो सकती है। इस विषय निम्न लिखित सुबुद्धि का दृष्टान्त है--

सुबुद्धि मंत्री का दृष्टान्त

चम्पानगरी के जितशत्रु नामक राजा के सुबुद्धि नामक मंत्री था। वह जैनधर्मी था। एकदा राजा मनोहर षड् रस-मय स्वादिष्ट रसवती करा कर अनेकों सामन्त, मंत्री आदि सहित भोजन करने बैठा। खाते खाते स्वादलुब्ध राजा "अहो! यह रसवती कैसी स्वादिष्ट है? अहो! इसकी सुगंध कैसी सरस है?" आदि वाक्यों से बारंबार उसकी प्रशंसा करने लगा। उस समय सुबुद्धि मंत्री के अतिरिक्त अन्य सर्व सामन्त आदि भी रसोई के स्वाद आदि की प्रशंसा करने लगा। सुबुद्धि ने तो अच्छी या बुरी कुछ नहीं कहा, अतः राजाने उससे पूछा कि-"हे मंत्री! तुम इस रसोई

को कुछ भी प्रशंसा क्यों नहीं करते ? क्या तुम्हें यह रसोई उत्तम मालूम नहीं होती ?" मंत्रीने कहा कि-"हे स्वामी ! मुझे शुभ अथवा अशुभ वस्तु देख कर कुछ भी विस्मय नहीं होता क्योंकि पुद्गल स्वभाव ही से घड़ी में सुगंधी, घड़ी में दुर्गंधी, घड़ी में सुरस, घड़ी में निरस हो जाते हैं, अतः उनकी प्रशंसा या निन्दा करना अयुक्त है।" राजा को उसके वचनों पर विश्वास नहीं हुआ। एक बार राजा सर्व परिवार सहित उद्यान में जाता था वहां मार्ग में नगर फिरती खाई थी वह आई। उसमें जल कम था इससे उस जल में कीड़े पड़ गये थे। दुर्गंध फैली रही थी और सूर्य के ताप से उबल गया था। उसकी दुर्गंध से राजा तथा दूसरोंने नासिका को वस्त्र से ढ़क कर पानी की दुर्गंधता की निन्दा करने लगे कि-अहो ! यह जल अत्यन्त दुर्गंधमय है। यह सुन कर मंत्रीने कहा कि-हे राजा ! इस जल की निन्दा करना अयुक्त है क्योंकि यह ही जल समय पर प्रयोगद्वारा दुर्गंधी होने पर भी सुगंधी हो जाता है। राजाने उसके वचनों को स्वीकार नहीं किया। फिर मंत्रीने गुप्तरूप से अपने खानगी नोकरद्वारा उस खाई के जल को मंगवा कर वस्त्र से अच्छी तरह छान कर एक कोरे मिट्टी के घड़े में डाला। फिर उसमें निर्मली (कतक) फल का चूर्ण डाल उस जल को निर्मल किया। फिर उसको वापस छान कर दूसरे कोरे घड़े में डाला। इस प्रकार इक्कीस दिन तक उस जल को छान कर भिन्न भिन्न

घड़ों में डाला जिससे वह जल तद्दन स्वच्छ, स्वादिष्ट और शीतल तथा सर्व जल की अपेक्षा अधिक सुन्दर हो गया। फिर उसमें सुगंधी पदार्थ डाल कर उसको सुवासित किया। फिर उस जल को मंत्रीने राजा के रक्षक को देकर कहा कि–यह जल अवसर आने पर राजा को पीलाना। फिर राजाने जब पीने के लिये जल मांगा तो उसने वह जल भेट किया। उस जल का पान कर उसमें अलौकिक गुण देख कर राजाने पूछा कि–ऐसा अद्भूत स्वादिष्ट जल कहां से आया? जल-रक्षकने उत्तर दिया कि–हे स्वामी! यह जल मंत्रीने मुझे दिया है। राजाने मंत्री से पूछा तो मंत्रीने कहा कि–हे स्वामी! यदि आप मुझे अभयदान दें तो मैं इस जल का वृत्तान्त सुनाऊँ। यह सुन कर राजाने उसे अभय दिया तो मंत्रीने कहा कि–हे राजा! यह पानी उसी खाई का है। राजाने इस बात पर विश्वास नहीं किया तो मंत्रीने राजा के समक्ष उस खाई का जल मंगवा कर पूर्व कही विधि अनुसार जल को स्वादिष्ट बनाया। यह देख कर राजा विस्मित होकर बोला कि–हे मंत्री! तूने यह रीति क्यों कर जाना? मंत्रीने कहा कि–हे देव! जिनागम सुनने से तथा सद्दहवा से इन सर्व पुद्गलों के परिणाम का ज्ञान होता है। हे राजा! पुद्-गलों की शक्ति अचिंत्य है। अनेक प्रकार का परिणाम पाना इनका स्वभाव है परन्तु ये सब स्वभाव तीरो भाव से वर्तते हैं। इन सब स्वभावों को ज्ञानी ज्ञान से जान सकते हैं।

छद्मस्थ जीव ज्ञानावरणीयादिक कर्मों के आवरण के कारण सम्यक् प्रकार से नहीं जान सकते। फिर वे शास्त्र के उन वचनों को अवश्य मानते हैं।

अपितु हे राजा ! इस जगत में वस्तु की अनुपलब्धि (अप्राप्ति) दो प्रकार से होती है (एक तो सत् वस्तु की अप्राप्ति और दूसरी असत् वस्तु की अप्राप्ति) इन में खरगोश की सींग, आकाशपुष्प, आदि असत् वस्तु की प्राप्ति कहलाती है अर्थात् ये वस्तुये दुनियां में है ही नहीं। दूसरी सत् वस्तु की प्राप्ति वह आठ प्रकार की है। उन में अति दूर होने-वाली वस्तु की प्राप्ति न हो यह पहला प्रकार है। इसके भी देश, काल और स्वभाव ये तीन भेद है। जैसे कोई पुरुष दूसरे गांव गया इससे वह दिखाई नहीं देता। इससे क्या वह पुरुष नहीं है ? परन्तु देश से अति दूर चले जाने के कारण उसकी प्राप्ति नहीं होती। इसी प्रकार समुद्र के दूसरे किनारे पर मेरु आदि है, वे सत् होने पर भी दूर होने के कारण दिखाई नहीं देते अथवा काल से दूर होने पर भी दिखाई नहीं देते जैसे मरे हुए खुद पूर्वज तथा अब होनेवाले पद्म-नाभ जिनेश्वर आदि काल से दूर होने के कारण दिखाई न देते। तीसरा प्रकार स्वभाव से दूर हो वे भी दिखाई नहीं देते जैसे आकाश, जीव, भूत, पिशाच आदि दिखाई नहीं देते। ये पदार्थ हैं परन्तु चर्मचक्षु-गोचर नहीं हो सकते।

ये तीन भेद पहिले विप्रकर्ष (दूर) नामक प्रकार के हैं। दूसरा प्रकार अति समीपवाली वस्तु भी दिखाई नहीं देती। जैसे नैत्र में डाला हुआ काजल दिखाई नहीं देता। क्या वो नहीं हैं ? है जरुर। इन्द्रियों के घात होने से वस्तु नहीं दिखाई देती यह तीसरा प्रकार। जैसे अंध, बधिर आदि मनुष्य रूप, शब्द आदि को देख या सुन नहीं सकते। तो क्या इससे रूप, शब्द आदि नहीं है ? है जरुर। तथा मन के असावधानपन से वस्तु दिखाई नहीं देती। यह चोथा प्रकार है। जैसे अस्थिर चित्तवाला मनुष्य अपने पास होकर जानेवाले हाथी को भी नहीं देख सकता तो क्या हाथी वहां होकर नहीं गया ? गया है। तथा अतिसूक्ष्मपन से वस्तु दिखाई नहीं देती यह पांचवा प्रकार है। जैसे जाली में होकर अन्दर गिरते समय सूर्य की किरणों में स्थित त्रसरेणु (रजकण) तथा परमाणुद्व्यणुक आदि तथा इसी प्रकार सूक्ष्म निगोद के जीव आदि दिखाई नहीं देते इससे क्या वे नहीं है ? हैं जरुर। तथा किसी वस्तु के आवरण से कोई वस्तु दिखाई न दे यह छट्ठा प्रकार है। जैसे भींत के अन्दर रहनेवाली वस्तु दिखाई नहीं देती तो क्या वह वस्तु नहीं है ? है अवश्य। चन्द्रमंडल का पिछला भाग दिखाई नहीं देता क्योंकि वह आगे के भाग से व्यवहित हुआ है। इसी प्रकार शास्त्र के सूक्ष्म अर्थ भी मति की मन्दता के कारण नहीं जाने जा सकते। तथा एक वस्तुद्वारा दूसरी

वस्तु का पराभव हो जाने से वह (दूसरी) वस्तु दिखाई नहीं देती यह सातवां प्रकार है। जैसे सूर्यादिक के तेज से पराभव पामे ग्रह, नक्षत्र, आकाश में प्रकट होने पर भी दिखाई नहीं देते। इसी प्रकार अंधकार से पराभव पाया हुआ घड़ा दिखाई नहीं देता। तो क्या वह वस्तु नहीं है? अवश्य है। तथा समान वस्तु के साथ मिल जाने से जो दिखाई न दे वह आठवां प्रकार है। जैसे किसी के मूंग के ढ़ेर में एक मुट्ठी भर अपने मूंग डाले हो अथवा किसी के तिल के ढ़ेर में अपने तिल डाले हो और हम उसे जानते हो फिर भी हमारे डाले हुए मूंग या तिल दिखाई नहीं देते (अलग नहीं किये जा सकते) इसी प्रकार जल में डाला हुआ लवण, मिश्री आदि अलग अलग दिखाई नहीं देते तो क्या इससे जल में लवण या मिश्री नहीं है? अवश्य है। इस प्रकार आठ प्रकार से होनेवाली वस्तु की भी अप्राप्ति होती है। इस प्रकार पुद्गल तथा जीव आदि में अनेक स्वभाव विद्यमान हैं जो अनुक्रम से प्रकट होते हैं परन्तु उन सर्व स्वभावों की विप्रकर्षादिक कारणों के कारण प्राप्ति नहीं हो सकती। ऐसा सर्वत्र जानना चाहिये।

इसमें यदि किसी को शंका हो कि—ऊपर बतलाये हुए प्रकारों में देवदत्त आदि के देशांतर में जाने से दिखाई नहीं देते ऐसा जो कहा गया है। वे यद्यपि हमको अदृश्य हैं

फिर भी वे जिस देश में गये हैं उन देशों के लोगों को तो प्रत्यक्ष है, अतः उनकी सत्ता मानने में हमे बाधा नहीं है परन्तु जीवादिक को तो कोई भी कभी भी नहीं देख सकता है तो फिर कैसे माने कि–वे जीवादिक हैं ? इसका यह उत्तर है कि–जैसे परदेश गये हुए देवदत्तादिक कईयों को प्रत्यक्ष होने में उनका होनापन माना जासकता है उसी प्रकार जीवादिक पदार्थ भी केवली को प्रत्यक्ष होने से उनका होनापन माना जा सकता है। अथवा परमाणु निरन्तर अप्रत्यक्ष है तो भी उनके (परमाणु के) कार्य से उनकी सत्ता (होनापन) अनुमान से सिद्ध होती है, इसी प्रकार जीवादिक भी उनके कार्य से अनुमानद्वारा सिद्ध हो सकते हैं।

इस प्रकार सिद्धान्त के वाक्यों की युक्तियों से सुबुद्धि प्रधानने राजा को प्रतिबोध किया। इस लिये राजा देशविरति (बारह व्रत) अंगीकार कर श्रावक हुआ। फिर कुछ समय पश्चात् राजा तथा प्रधानने प्रव्रज्या ग्रहण की और अनुक्रम से मोक्षपद प्राप्त किया। कहा है कि—

जियसत्तु पडिबुद्धो, सुबुद्धिवयणेण उदयनायंमि।
तद्दोवि समणसिंहा, सिद्धा इक्कारसंगधरा ॥१॥

भावार्थः—सुबुद्धि मंत्री के वचनोंद्वारा जल के दृष्टान्त से जितशत्रु राजाने प्रतिबोध प्राप्त किया और उन दोनों

श्रमणसिंहोंने अगीयार अंग को धारण कर सिद्धपद को प्राप्त किया ।

इन चार स्तंभ में समग्र बुद्धि के निधानरूप समकित को अनेकों प्रकार से दृष्टान्तो सहित बतलाया गया है। यह समकित मोक्ष के सर्व शुभ हेतुओं में मुख्य है, अतः पाठकों कों (पढ़ने, पढ़ाने व सुननेवालों को) उस समकित की प्राप्ति के लिये सतत उद्योग करना चाहिये ।

इत्युपदेशप्रासादे चतुर्थस्तंभे एकषष्टितमं व्याख्यानम् ॥ ६१ ॥

॥ इति चतुर्थः स्तंभः ॥

॥ इति प्रथमः खंडः ॥